वह, जो मैंने देखा

(अजय की कहानी)

लेखक
श्री उदयशंकर भट्ट

प्रकाशक
अवध पब्लिशिंग हाउस
लाटूश रोड, लखनऊ

मुद्रक
पं० भृगुराज भार्गव
भार्गव-प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ

मूल्य ३॥)

समर्पण

बन्धुवर श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

के

कर कमलों में

भूमिका

अपनी यह कहानी के रूप में प्रथम रचना पाठकों के सामने रखते हुए मुझे हर्ष हो रहा है। मैं विश्वास करता हूँ कि यह जीवन-कहानी के अंग की पूर्ति करेगा। इसमें जो कुछ है वह कल्पना और यथार्थ का मिश्रण है, कल्पना को मैंने उतना ही स्थान दिया है जितने से कि वह यथार्थ को चमका दे, उसको 'पॉलिश' कर दे। वस्तुतः यथार्थ ही जीवन में प्रेरणा देनेवाली वस्तु है इसलिये घटनाओं के 'लिंक' जोड़ने में और उनको तीव्र तथा सरलतर बनाने में मैंने कल्पना का सहारा लिया है।

आज के युग में जो कुछ हम देख रहे हैं उसमें 'आदर्श' का कोई स्थान नहीं है। आदर्शवाद मनुष्य के विकास के प्रारम्भ की वस्तु है और वह जीवन की अविकसित ग्रन्थियों के साथ अपनी एक परम्परा लेकर चलता है। वह एक प्रकार का लक्ष्यहीन लक्ष्य है जो मनुष्य को काल्पनिक सुख और संतोष देता है। जिन आदर्शवादियों के लक्ष्य और उदाहरण हम अपने सामने रखते हैं वे भी त्रुटिपूर्ण होने के कारण अपनी सीमा में पूर्ण नहीं होते। वस्तुतः आदर्श की कोई सीमा भी नहीं है क्योंकि कल्पना और तर्क के साथ उसका निर्माण अत्यंत गहरा, अत्यंत विशाल और अत्यंत व्यापक हो जाता है। इसलिये मैं कहता हूँ कि वह एक भ्रांति है। जीवन में जो कुछ है वह यथार्थ ही है। यदि मनुष्य में वास्तविकता को ग्रहण करने तथा समझने की क्षमता आ जाय तो समझना चाहिये कि उसमें अपने को पहचानने की क्षमता आ गई।

जीवन को पहिचानना ही जीवन है । इस कहानी में भी जीवन को दे उसको पहिचानने का प्रयत्न किया गया है और जो कुछ बुरा-भला, । अवाञ्छित अजय ने देखा वह उसने कह दिया । इसमें कई स्थलों पर पात्रों की कमज़ोरी पायेंगे परन्तु विशेषताओं के साथ कमज़ोरी दिखाना वास्तविक जीवन को दिखाना है क्योंकि जीवन जहाँ कमज़ोरी का नाम है वहाँ अपनी विशेषताओं का नाम भी है । कमज़ोरी को छिपाकर विशेषता को दिखलाना वह उसकी आत्मप्रवचना होती, इसलिये मैं वैसा नहीं कर सका। मेरे उस प्रमुख पात्र ने कई जगह 'डिक्लेयर' किया कि वह कोई बात छिपाकर नहीं रक्खेगा । इसीलिये मैं कहता हूँ कि यथार्थता जीवन को पहिचानने में सबसे बड़ी वस्तु है ।

किन्तु क्या यथार्थ ही सब कुछ है ? रोमान्स और क्लासिकल तथा आदर्श भी तो साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखते है ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर देकर मैं आगे चलूँगा । सब मानते हैं कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। यह स्पष्ट है कि छोटे से लेकर बड़े तक आज का समाज जितना जागरूक हो गया है उतना आज तक कभी नहीं हुआ । तथा भविष्य में और भी होता जायगा । रोमान्स तथा क्लासिकल-साहित्य हृदय की प्रेरणा का फल है। उसमें तर्क तथा मनुष्य के मस्तिष्क का ग्राह्य भाग कम है । वह एक प्रेरणा को लेकर चला है जिसमें कल्पना अधिक और अनुभूति कम होती है । और क्लासिकल तो एकदम पाण्डित्य का प्रपंच है जिसमें परिभाषा 'टेकनीक' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता । लक्षणों, उपलक्षणों तथा भेदों, उपभेदों का बौद्धिक परिष्करण क्लासिकल साहित्य होता है। दोनों प्रकार के साहित्य जन-साधारण के मस्तिष्क की वस्तु नहीं हो सकती । आज का प्रत्येक प्राणी, जो साहित्य के सम्बन्ध में सुन चुका है उसमें, अपनापन, अपनी कामनाएँ, अपनी मूर्ति चाहता है । वह चाहता है साहित्य उसे वह दे जो उसका है, जहाँ

उसकी आत्मा की पुकार उठती है
कर उनसे बच सके आदि आदि ।

इस प्रकार का साहित्य केवल यथार्थवादी तथा प्रगतिशील साहित्य हो सकता है रोमान्सवादी या क्लासिकल और आदर्शवादी नहीं। इधर प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में भी एक बड़ा भ्रम फैल गया है उसके सम्बन्ध में भी दो एक बातें यहाँ कह देना अप्रासंगिक न होगा । आजकल प्रगतिशील साहित्य का अर्थ कुछ लोग केवल समाजवादी कम्यूनिष्ट साहित्य लेते हैं। यह ठीक नहीं है । यह ठीक है कम्यूनिस्ट साहित्य प्रगतिवादी है किन्तु कम्यूनिस्ट साहित्य के अतिरिक्त और प्रगतिवादी साहित्य हो ही नहीं सकता यह कहना अत्यन्त भ्रम है । कोई भी विचार जो मनुष्य को ऊँचा उठा सके, उसे जीवन के मार्ग में आगे बढ़ने के लिये प्रेरणा या बल दे सके, प्रगतिवादी कहा जायगा । यह ठीक है, आज की कम्यूनिस्ट शक्तियाँ जहाँ तक उनकी उपयोगिता का सम्बन्ध है, अन्य विचारों, सिद्धान्तों से अधिक उपयोगी हैं । हमारा विश्वास है कुछ बातों को छोड़कर समाजवाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो पतितों को उठा सकता है, पिसते हुओं को बचा सकता है तथा संसार में समता क़ायम कर सकता है । समाजवाद का घेरा एक सीमा तक ही हमको अभिप्रेत है । उसमें व्यक्ति का न तो कोई स्थान है न व्यक्तित्व का गौरव ही समाजवादी को अभीष्ट है । ऐसी दशा में समाजवादी साहित्य प्रगतिशील तो हो सकता है किन्तु इसके अतिरिक्त और कोई सिद्धान्त अथवा विचार प्रगतिशील नहीं हो सकता यह विचार नितांत असंगत है । फिर भी प्रगतिशीलता न अश्लीलता ही है और न बन्धनहीनता । इन दोनों की परिभाषाएँ भिन्न हो सकती हैं । इसलिये मैं अश्लीलता तथा बन्धनहीनता को कुछ परिवर्तन के साथ देखता हूँ ।

पाण्डुलिपि प्रेस में देने के बाद ही मैं बीमार पड़ गया और बीमार भी

काफ़ी लम्बा, अर्थात् लगभग छै मास तक रहा। ऐसी अवस्था में पुस्तक के प्रूफ देखना मेरे लिये असंभव हो गया। इसलिये पुस्तक में यत्रतत्र भूलें रह गई। कहीं कहीं वाक्य अशुद्ध छप गये, कही कुछ छूट गया, कहीं बढ़ गया; पर ऐसा बहुत कम स्थानों पर हुआ है। इसलिये पाठकों से प्रार्थना है कि वे अपनी बुद्धि के प्रयोग द्वारा उन्हें शुद्ध कर लें। एक स्थान पर अमार्जनीय अशुद्धि हो गई है उसका शुद्ध रूप इस प्रकार होगा। 'इसी चिंता में माँ बीमार हुई और आठ नौ मास की बीमारी के बाद उनकी मृत्यु हो गई।' पृष्ठ ७६, पैरा दूसरा, छठी पंक्ति।

यह कहानी आपके सामने है। यदि इससे पाठकों का मनोरंजन एवं ज्ञान-बर्द्धन हुआ तो मुझे प्रसन्नता होगी।

१२ फरवरी, १६४५
सनातनधर्म कालेज,
लाहौर

—उदयशंकर भट्ट

१

जब जीवन एक कहानी है तो उसे कहानी की तरह समझना चाहिए। कहानी में कथा, घटना, सवाद और सभी कुछ होता है। इसी तरह जीवन भी एक कथा है, घटना और सवाद भी इसमें हैं ही। पर इतना होते हुए भी विश्व का प्रत्येक जीवन कथा नहीं है, किन्तु कथा में जीवन अवश्य होता है। और जब आज मैं अपनी कहानी कहने लगा हूँ तो उसमें कहाँ, कैसे घटना आ जाती है और कैसे वह अपना प्रभाव छोड़कर एक नई घटना को तैयार कर देती है, आदि सभी बातें कह डालने की इच्छा है। इतना होते हुए भी एक बात अवश्य जान लेनी चाहिए कि मैं सदा से बहुत कुछ जान लेने का अभ्यासी हूँ। बचपन से ही मैं देखता हूँ कि लोग अभाव से दुखी हैं, लोग भाव से भी दुखी हैं। यह भावाभाव का पचड़ा हमारे साथ ऐसे लगा है कि इससे पिंड ही नहीं छूटता। जब मुझे किसी चीज की इच्छा हुई और नही मिली तब औत्सुक्य हुआ और काफी मिल जाने पर जी में आया कि इसे छोड दूँ, फेंक दूँ। यह ऊबने की प्रक्रिया तब से आज तक बराबर बनी आ रही है। अब मैं काफी उमर भोग चुका हूँ, काफी दुनिया देखी है, फिर भी समझता हूँ अभी 'और' भी है। इस और ने बहुत चिन्तित किया है मुझे।

हाँ तो अब मैं अपनी कहानी कहूँ:—

पर, सोचता हूँ हर बात को वहीं से प्रारम्भ करने से क्या लाभ है। कोई मनुष्य ऐसा नहीं जो बिना माँ-बाप के हो। इसके साथ ही उत्पन्न होते ही तो कोई बालक स्वतत्र हो नहीं जाता। सोचना-समझना उसकी शक्ति के बाहर की बात है। यह तो पशुओ में होता है कि पैदा होने के चार-छै मास में ही अपनी पूर्णता पा लेते हैं। मनुष्य के बच्चे को तो बहुत दिनों तक दूसरों—माँ-बाप—का सहारा ताकना पड़ता है। न जाने यह मनुष्य की उन्नति है या अवनति। मनुष्य की उन्नति का अन्त सीधे सादे नहीं नापा-जोखा जा सकता इसलिए उसे कुछ

दिन माता-पिता से, पास--पड़ोस से सस्कार, भाषा पाने के लिए सहारा लेना पड़ता है।

फिर भी मैं समझता हूँ जो है वह वही से चले, जहाँ से मनुष्य ने मुझे एकान्त में लाकर छोड़ दिया है, अपना रास्ता देखने के लिए, अपना मार्ग बनाने के लिए।

उस दिन गाँव से मुझे शहर ले जाया जा रहा था। पिता जी तो साथ थे नहीं। हम लोग एक बैलगाड़ी में बैठ कर स्टेशन की ओर चल पड़े। मैं था और साथ में माँ थीं। नौकर हम लोगों की गाड़ी के साथ पैदल चल रहा था। उसका नाम था छकिया सत्रह अठारह साल का होगा वह। देखने में बलिष्ठ, काला कहार का लड़का। बड़ी-बड़ी आँखों में काजल पोते हुए, मैले दाँत, हाँथों में चाँदी के कड़े, गले में ताबीज, घुटनों तक धोती, यही उसका पहनावा था। हम तीनों को ही रेल में बैठकर कही जाना था। रेल का स्टेशन गाँव से कोई तीन मील दूर था। बैलगाड़ी के प्रस्थान करते ही गाँव के कई लड़के मुझसे अन्तिम वार मिलने आए। दो-एक तो स्टेशन तक साथ-साथ जाने को भी तैयार थे। पर माँ ने प्यार-दुलार से उन्हें इतनी दूर जाने को मना कर दिया। फिर भी हेमू मेरी गाड़ी पर आ ही बैठा और माँ का कहना उसने एक भी न सुना। हेमू को उस मार्ग की चप्पा-चप्पा जमीन मालूम थी और गाँव के बाहर पीपल के पेड़ के नीचे तो हम लोग कई बार आकर बैठा करते थे। जब वह पेड़ पास आया तो उसने मुझे उस दिन की याद दिलाई, जिस दिन एक साधु के कपड़े लेकर हम लोग भागे थे। हम रोज साँझ को उस वृक्ष के नीचे जाते, वहाँ बैठकर भूत की प्रतीक्षा करते। सारे गाँव में वह वृक्ष भूतों के लिए प्रसिद्ध था। लोग तरह-तरह की कल्पना करते। एक दिन मैंने और हेमू ने निश्चय किया कि भूत देखना चाहिए। बात यों हुई कि चार बजे के लगभग हम कबड्डी खेल रहे थे एक मैदान में। खेलते-खेलते किसी बात पर झगड़ा हो गया। खेल खतम होगया। गगू एक पार्टी का सरदार था अहीर का लड़का। उम्र में भी सब से बड़ा था। उसने हेमू को एक थप्पड़ मारा, हेमू बड़ा चिड़चिड़ा लड़का था, एकदम उससे चिपट गया और लगा उसे काटने नोंचने। गगू उसे पीट रहा था और हेमू पिटते-पिटते भी उसे नोचता, जाता था। लाग खुलते ही वह एकदम झटके से नगा हो गया। मैं धोती लेकर भागा। गंगू हेमू को छोड़कर मेरे पीछे दौड़ा। मैं दौड़ते-

दौडते उसी पीपल के ऊपर चढ गया। अब तो सब पा[illegible] रहे थे। पीछे-पीछे गगू और आगे मैं दौडा जा रहा था। पीपल के पेड के एक तरफ कहा जाता था कि एक बडा बिल है, वहाँ एक काला साँप रहता है। मैंने आव देखा न ताव गगू की धोती उसी बिल के ऊपर फेंक दी। और पेड की सबसे ऊँची डाल पर जा बैठा। वैसे भी मैं पेड पर चढने में उन सब लड़कों से तेज था। गगू ने धोती न ली और रोते रोते सब कथा अपने घर जाकर कही। मैंने उतरते-उतरते देखा कि उसका बाप लट्ठ लिए उसी ओर आ रहा है। गंगू के बाप से हम लोग वैसे भी डरते थे। उसने एक बार एक लडके को पीटा था, जब पिटनेवाले लड़के ने अपने बाप से शिकायत की तो उसके बाप को भी उसने पीटा था। वह लड़ने-झगडने में गाँव भर में प्रसिद्ध था। उसे आते देख मैं सबसे ऊपर की फुनगी में जा छिपा। झुटपुटे का समय था ही उसे ढूँढने पर भी मेरा पता न चला। फिर भी वह वहाँ से हिला नहीं। और वहीं दूर खड़ा मुझे ढूँढ़ता रहा। आखिर किसी तरह उसके धोती लेकर चले जाने पर मैं डरते-डरते उतरा। डर तो मुझे वैसे ही लग रहा था, पर डर के साथ एक इच्छा यह भी थी कि भूत देखता। नीचे उतरते-उतरते देखा कि एक कोने में हेमू खडा मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। हेमू ने मुझे सुनाया कि गगू के बाप ने मेरे घर जाकर सब शिकायत की है और घर के लोग परेशान हैं कि मैं कहाँ हूँ? घर के दो आदमी इस पेड़ के पास आकर हमें दूर से ढूँढ भी गए हैं। फिर हम दोनों ने निश्चय किया कि आज घर न जाकर हम भूत देखेंगे। उजाली रात तो थी ही। हम दोनों पहले तो यही देखते रहे कि भूत किधर से आता है? जब कहीं भी कुछ दिखाई न दिया तो हेमू ने कहा, भूत लोग रात को बारह बजे से पहले नहीं आते। उस समय रात के आठ-नौ का समय था। गाँव के लोगों में कभी कोई भूला भटका बडे ज़ोर से गाता हुआ उधर से निकल जाता था। हाँ, पीपल के पेड़ के पास ही एक पुराना कुआँ था और उससे सटी हुई एक कच्ची फूँस की झोंपड़ी। झोंपड़ी में कोई नहीं रहता था। इसलिए उसके ऊपर का फूँस हट गया था, वह ऊपर से नगी हो गई थी। जहाँ हम लोग बैठे थे, वहाँ से झोंपडी का अधिकतर भाग दिखाई देता था। जब बहुत देर तक कहीं कुछ दिखाई न दिया तो दोनों ऊब गए और चलने को ही

संदेह न रहा कि यही भूत है जो साधु के वेश में आ रहा है। साधु ने आते ही कुएँ के ऊपर अपना लबादा रखा और कमंडलु को डोर से बाँधकर पानी भरा।

धीरे से मैंने हेमू से कहा—'यह भूत नहीं हो सकता। भूत लोग डोर से पानी नहीं भरते।'

हेमू—बिना आवश्यकता के भूत को बड़ा बनने की जरूरत नहीं है। इसीलिए डोर से यह पानी भर रहा है। यदि हम लोग इसके सामने जायें तो यह हमको खा जायगा या फिर एकदम अन्तर्धान हो जायगा।

मैंने कहा—'तुम नहीं जानते। भूत को कुएँ से पानी भरने की क्या आवश्यकता है। उसे तो नीचे मुँह करते ही पानी मिल सकता है। भूत मनुष्य तो नहीं होते।'

हेमू ने उसी दृढता से उत्तर दिया—'नहीं यही भूत है। देखते जाओ।'

अन्त में उस साधु ने पानी भरकर पिया और वहीं पास एक कंबल जो उसके पास था, बिछाकर लेट गया। किन्तु हेमू का यह निश्चय किसी तरह भी ढीला नहीं हो रहा था कि यह भूत न होकर मनुष्य ही है। हम दोनों उस व्यक्ति की चेष्टा देख रहे थे, उसमें कोई भी आश्चर्यजनक बात दिखाई नहीं देती थी। फिर हमने फैसला किया कि यदि यह भूत होगा तो अवश्य हमसे अपने कपड़े छुड़ा लेगा। यदि हम लोग किसी तरह इसके लबादे को चुपके से उड़ा लें। जब बहुत देर बीत जाने पर भी कुछ न हुआ तब हम दोनों चुपके से उसका लबादा लेकर भागे। किन्तु न जाने कैसे उसकी आँख खुल गई और वह एकदम हम दोनों के पीछे दौड़ा। वह दौड़ने में काफी तेज था और पास ही था कि वह हम दोनों को पकड़ लेता कि हेमू ने उसका कपड़ा फेंक दिया। साधु न जाने क्यों कपड़े को उठा कर पीछे मुड़ गया। तो भी हम दोनों यह निर्णय नहीं कर पाये कि वह भूत था या आदमी। क्योंकि उसके बाद हमने उसे कभी नहीं देखा और भी बहुत-सी कथाएँ उस पीपल के पेड़ के साथ गुँथी हुई थीं। जब पेड़ के पास ही माँ ने उसे गाड़ी से उतरकर घर जाने के लिए कहा तो उसकी आँखों में आँसू आ गए। मैंने उससे कह रखा था कि शहर चलने के समय हम दोनों साथ-साथ चलेंगे। उसके और कोई तो था नहीं एक माँ थी। वह हमारे यहाँ आटा पीसती थी। हेमू ने मुझसे कई बार कहा कि वह हमारे

घर नौकरी करने को भी तैयार है। लेकिन चलने से दो [illegible] मुझे मालूम हुआ, जिस जगह हम लोग जा रहे हैं, वह रेल में दो दिन की है। ऐसी अवस्था में मैं भी उसे ले जाने के लिए माँ से कैसे कहता ? फिर भी मुझे लगा जैसे मैं एक बडा गहरा मित्र खो रहा हूँ। और मैंने देखा कि सड़क के किनारे वह हमारी गाड़ी की ओर ही देख रहा है और उस समय तक देखता रहा जब तक कि हमारी गाड़ी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हो गई।

धीरे-धीरे जैसे हमारी गाड़ी चल रही थी, वैसे धीमे-धीमे विचारों के साथ गाडी के साथ में आनेवाले वृक्षों, मैदान, तालाब, बावडियों की धुँधली ताजी स्मृतियाँ लेकर मैं भी चल रहा था। उनमें से बहुत से स्थान ऐसे थे जहाँ मैं हेमू के साथ घूमता घामता कई बार आया था। पीपल के पेड़ के बाद जो बावडी आई वहाँ हमने एक किसान की लड़की से उसकी तमाम बाजरे की बालें छीनकर भूनी थीं और उन्हे चबाया था और अन्त में उस लड़की से हेमू ने खेल ही खेल में ब्याह भी कर लिया था। उसके आगे ईख के कोल्हू पर बैठकर गाते-गाते रस पीने की बात भी मुझे याद आ रही थी। यद्यपि उस समय वहाँ रस और कोल्हू का कहीं चिह्न भी नहीं था। आगे गंगा के किनारे का एक जगल था जहाँ बहुत से साधु, सन्यासी रहते थे। उस जगह कई मंदिर और एक पाठशाला थी। कभी-कभी घूमते हुए हम लोग वहाँ भी पहुँच जाते थे। इस तरह पिछली बातों को याद करता मैं माँ के साथ स्टेशन की ओर जा रहा था। रेल मेरे लिए नई नहीं थी, इससे पहले भी मैं कई बार उसमें बैठ चुका था, किन्तु इस बार कुछ समझ अधिक बढ जाने के कारण और बालोचित उमंग से मुझे रेल में बहुत आनंद आया। जिस सेकिण्ड क्लास के डिब्बे में हम लोग बैठे जा रहे थे उसमें एक अग्रेज महिला और उसकी लडकी थी। मैं देखने मे बहुत शान्त था पर जाने क्यों रह-रहकर नटखटपन करने में बहुत आनंद आता था। माँ को डर था कहीं मैं कोई शरारत न कर बैठूँ इसलिए वे मुझे सदा समझाती और आँखों के सामने रखती थीं। अग्रेज महिला बहुत कम हिन्दी जानती थी और माँ तो अँग्रेजी जानती ही न थी, पर शहर में रहने के कारण कुछ निर्भीक अवश्य थीं। अलीगढ के स्टेशन से एक हिन्दुस्तानी औरत हमारी गाडी में आई। उसी से माँ कभी-कभी बातें कर लेती थीं। मैं और वह लडकी दोनों एक दूसरे से बात करना चाहते थे, पर न वह हमारी बोली

समझती थी मैं उसकी। मै सोचता, काश हम दोनों एक दूसरे से बातचीत कर सकते।

एक बार ऐसा हुआ, वह लड़की मेरी सीट के पास आकर खड़ी हो गई और जिस खिड़की से मै बाहर झाँक रहा था, उसीसे देखने लगी। उसके लहराते बाल बडे अच्छे मालूम हो रहे थे। मैंने उसके बालों को छुआ। वह मुझे और मेरे बालों को देखकर हँसने लगी। मैंने उसका हाथ पकड़ लिया, वह मेरी सीट पर बैठ गई। और हम मूक सकेतों द्वारा बातचीत करने लगे। लड़की दौड़कर बिस्कुटों का डिब्बा उठा लाई और उसने एक आप खाते हुए एक बिस्कुट मुझे दिया, किन्तु हिन्दू सस्कार के कारण मैं किसी तरह भी उसका वह उपहार नहीं ले सकता था, फिर भी माँ की नजर बचाकर मैंने इधर-उधर देखकर वह ले लिया और चाहता ही था उस चीज को चखकर देखूँ कि माँ ने देख लिया। उन्होंने इशारे से मुझे मना किया। इसके साथ ही कुछ बुनते-बुनते उस अग्रेज महिला ने यह दृश्य देखा और मुस्करा कर कुछ कहने लगी। उसने टोकरी से एक सेब निकाला और मुझे दिया। मैंने माँ के सकेत पर वह सेब ले लिया और खाने लगा। बिस्कुट हमने एक ओर रख दिया। थोडी देर बाद माँ ने कुछ लड्डु निकाले और उस लड़की को दिया। मैंने देखा, लड्डू की तरफ वह बड़े आश्चर्य से देख रही थी। अन्त में माँ के सकेत और मुझे खाते देखकर लडकी ने लड्डू खाया। उस गाडी मे मौन सकेतों द्वारा आश्चर्य, उत्सुकता, उद्वेग की स्मृति हो रही थी। माँ अपनी कोई किताब पढा करतीं। अग्रेज-औरत कभी अखबार पढती, कभी कुछ बुनती। हाँ अपने नौकर के द्वारा उसने यह जान लिया था कि हम लोग कहाँ जा रहे हैं। अजमेर में हमारे (पिता) साहब क्या काम करते हैं और भी कुछ बातें पूछी थीं जिन्हें मैं याद नहीं रख सका। परन्तु उस पिशी, शायद उसको उसकी माँ पिशी या ऐसा ही कुछ कहकर बुलाती थी और मेरे बीच बालोचित बातचीत आनंद मे रुकावट डालने वाली जो दीवार खड़ी थी वह किसी तरह दूर न हो पाती थी। जब कभी उद्वेग के कारण मैं उससे बोलता तो वह मेरा मुँह ताकती। यही मेरा हाल था। फिर भी हम दोनों एक दूसरे को छूते, मुस्कराते और एक ही खिड़की मे मुँह डालकर देखते। आगे के स्टेशन पर पिशी और उसकी माँ उतर गईं। उतरने के समय तैयार होते-होते पिशी ने मेरे पास आकर कहा 'हम जाता' जाटा।

और भी न जाने उसने क्या कहा !

मैं कुछ भी न बोला केवल उसके बालों को एक बार छूकर रह गया और पिशी खटखट करती उतर गई। उसके पिता उसे लेने आए थे, वह उनकी गोदी में चढ गई और धीरे-धीरे आँखों से ओझल हो गई।

मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे उस लड़की से बहुत पुरानी मेरी जान-पहचान रही हो। मैं सोचने लगा ऐसी कौन सी बात है जिसने मुझे उसकी ओर इतने वेग से आकृष्ट किया है। क्यों मैं उसके साथ देर तक नहीं रह सका ? वह मेरी बोली नहीं समझती थी। मैं भी उसकी बात नहीं समझता था, फिर भी हम दोनों थोडी देर के लिए ही सही, एक दूसरे की ओर इतना क्यों खिंच गए ? क्या बातचीत के बिना भी मनुष्य एक दूसरे के साथ रह सकता है ? उस समय तो नहीं, आज पहचान सका हूँ यह अबुद्ध सेक्स का आकर्षण था। आदि काल से स्त्री और पुरुष ने भाषा के विकास से पूर्व इसी तरह सकेतों, चेष्टाओं द्वारा एक दूसरे को समझा होगा और एक दूसरे के अन्तरग में घुल-मिलकर जीवन को नए रस से, नए सौन्दर्य से आप्लावित कर दिया होगा। मुझे अनुभव हो रहा है उस मूक सकेत में भी हमें बड़ा आनन्द मिल रहा था। एक दूसरे की बात न समझकर वह मेरी ओर खिंचती चली आ रही थी और मैं उसके पास होता जा रहा था। मुझे याद है जब उसकी माँ ने मुझे सेब दिया तब मेरे केवल हाथ में लिए रहने पर उसने मेरे हाथ से छीनकर मेरे मुँह से लगा दिया था। मैंने भी शरारत के तौर पर अपने खाए सेब को उसके मुँह से लगा दिया और उसने बिना संकोच के उसे कुतर लिया। उसके बाद मेरी परिस्थिति बडी विकट हो गई। मैं उसके जूठे सेब को किसी तरह नहीं खा सकता था। न जाने क्यों मेरे मन में बडा सकोच या क्या हो रहा था यह मैं स्वय विश्लेषण न कर सका ! जब मैंने सेब न खाया तो उसने फिर उसी को हाथ में लेकर मेरे मुँह से लगा दिया। मैंने कुछ देर झिझककर वह सेब कुतर लिया। यह सब काम खिडकी से बाहर हो रहा था। माँ किताब पढने मे मग्न थीं। नहीं तो न जाने क्या होता। हम लोग एक दूसरे जाति, समाज, देश, भाषा, संस्कार सभी बातों में भिन्न थे। फिर भी मैंने देखा वह मुझसे दूर नहीं है और जाते समय जब उसकी माँ ने मेरे गाल छूकर विदा ली तब तो मुझे मालूम हुआ जैसे मेरा ही संबधी विदा ले रहा हो। उसके जाने के बाद भी मैं उसी ओर

देखता रहा और उसके कुछ देर बाद मेरी आँखों में आँसू छलछला आए। खिड़की के बाहर ही मैंने उन्हे पोंछ डाला। दुर्भाग्य से छकिया स्टेशन पर खड़ा यह दृश्य देख रहा था, उसने माँ से कह दिया। माँ ने मुझसे पूछा क्यों पिशी अच्छी लड़की है।

मैंने खिड़की के बाहर मुँह फेर लिया और कुछ भी न बोला।

२

अजमेर उतरने के समय पिताजी स्टेशन पर आ गए थे और हम लोग गाड़ी में बैठकर घर पहुँचे। घर काफी बड़ा था। दो-तीन दिन तक तो मेरा मन ही न लगा। कभी मुझे पिशी की याद आती, कभी देश की। गाँव के लडकों के साथ खेल अब स्वप्न हो गए थे। सप्ताह के भीतर ही मुझे स्कूल में दाखिल करा दिया। फिर मुझे मालूम हुआ कि मैं नए संसार में आ गया हूँ। मैं हेमू जैसा मित्र ढूँढ रहा था। वह क्लास मे ही मिल गया। उसका नाम था हरीश। हरीश देखने में बड़ा सुन्दर था। सदा कमीज कोट पहनकर स्कूल आया करता। मैं उस समय कुरता पहनता था। कुरता धोती पहनकर स्कूल जाना मुझे बहुत बुरा लगता था। कभी-कभी पाजामा पहनता। मित्रता होने के दिन ही स्कूल से मैं हरीश के घर गया। उसके घर छः सात भाई-बहन थे। सबके पढ़ने के लिए अलग कमरे। हरीश मुझे अपने छोटे कमरे में ले गया और बाहर जाकर मेरे लिए थोड़ी सी मिठाई ले आया। उसकी छोटी-बड़ी बहनें भी मुझे देखने आईं। आते ही एक ने मेरा कुरता और बाल छूकर घृणा की दृष्टि से देखा। मैं देखने में खूब तन्दुरुस्त था। हरीश से ऊँचा। न जाने किस प्रथा के अनुसार मेरे बाल नहीं कट पाए थे। वे पीठ तक लहराते थे। माँ स्कूल जाने से पहले उनको तेल लगाकर ऐंछ दिया करती थी। इससे कोई-कोई मुझे 'लड़की-लड़की' कहकर चिढाते, पर वह सब मेरा स्वभाव हो गया था। हरीश की बहनों ने भी मुझे लड़की कहकर चिढाया। इस पर उनकी माँ ने उन्हें काफी फटकार बताई।

एक तरह से मुझे बाल अच्छे भी लगते थे, कभी-कभी मैं स्वयं उन्हें काढ़ता। मेरी सदा ही यह इच्छा रहती कि मैं सब लोगों से अलग रहूँ और सब मुझे आश्चर्य से देखें। स्कूल में भी सब लड़कों मे मैं ही अजीब लड़का था। तीन-चार दिन में मैंने कुछ को पीटकर और कुछ को फटकार बताकर अपना रोब जमा लिया था। हिन्दी की घटी में पंडित जी मेरे मुँह से शुद्ध श्लोक सुनकर दग रह गए। वे मेरा आदर भी करने लगे। हिसाब मेरे मस्तिष्क में किसी तरह भी धसता न था। हिसाब के मास्टर सदा मेरा मजाक उड़ाते। इसलिए प्रायः अपने घण्टे में मुझे पानी पेशाब के लिए जाते देखा करते। हरीश हिसाब में तेज था बस, उसी की कापी नकल करना मेरा काम था। अंग्रेजी और हिन्दी वह मुझसे पूछता और हिसाब मैं उससे। हरीश की छोटी बहन शान्ता बड़ी सीधी लडकी थी। उसने भी मेरा पक्ष लेकर अपनी बहनों को डाटा। पहले दिन जब मैं मिठाई खाने लगा तो मेरे लिए वह पानी ले आई और न जाने क्यों वह जब तक मैं वहाँ बैठा रहा, मेरा मुँह ताकती रही।

मैं प्रायः हरीश के घर जाता। वह भी मेरे घर आता। हम दोनों साथ ही खेलते। प्रायः साँझ को आगरे-बाजार के सामने दरगाह जाते। दरगाह में साँझ को बहुत भीड होती। मुसलमान स्त्री-पुरुषों से वह भरी रहती। हिन्दू लोग भी जाया करते थे। कभी-कभी हमलोग चावल पकानेवाले बड़े डेगों का दृश्य देखा करते। प्रायः एक डेग के चावल पकने में तीन-चार दिन लगते। जिस दिन डेग के चावल तैयार हो जाते उस दिन कुछ लोग पैरों में मैले कुचैले कपड़े बाँध सीढियों के द्वारा डेग में कूद पड़ते और चावल निकालते। वह बड़ा वीभत्स दृश्य था। जब मैं उन चावलों को भिखारियों मे बँटते और उन्हें खाते देखता तो मुझे आश्चर्य और घृणा दोनों होती। न जाने कैसे वे लोग चावल खाते थे। मैंने देखा उस डेग के चावल बडे-बडे आदमी भी खाते थे।

एक दिन की बात है हम लोग दरगाह में घूम रहे थे कि इतने में कुछ स्त्रियाँ बुरका पहने हमारे साथ चलने लगीं। स्त्रियाँ बडी सुन्दर और जवान थीं। देखने में कोई बडे परिवार की मालूम होती थीं। एक स्त्री ने आकर मेरे पीठ तक लहराते बालों को छुआ और मेरे गाल पकड़कर मुझे देखने लगी।

'तुम हिन्दू हो या मुसलमान। उसने पूछा ?'

'हिन्दू।'

'खूब अच्छी जोड़ी है।' दूसरी बोली!

'हमारे साथ चलोगे, चलो तुम्हे बबई ले चलें। हमारे पास रहना।' उसने दूसरी से कहा—'कैसे सुन्दर हैं ये लडके।'

मैंने हाथ झिड़ककर जवाब दिया—'हम कहीं नहीं जाते' और आगे बढ गये।

हम दोनों ने देखा कि वे स्त्रियाँ बहुत देर तक पीछे-पीछे घूमती रहीं। हरीश घबरा गया था। उसने आग्रह किया चलो घर चले। किन्तु मैंने लापरवाही से जवाब दिया। मैंने ऐसी बहुत सी स्त्रियाँ देखी हैं। ये हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकतीं और बाहर निकलते ही हमने देखा कि दरगाह के बाहर उनके लिए मोटर खड़ी है। हम लोग सीधे बाजार में घूमकर चलने लगे। इसके बाद हरीश बोला—'दरगाह में अब हम कभी न जायेंगे।'

'क्यों?' मैंने पूछा।

'तुम नहीं जानते, यहाँ तरह-तरह की डायने आती हैं अच्छी औरतों का वेश बनाकर। ऐसे ही लड़कों को पकड़कर ले जाती हैं। उन्हें मुर्गा बनाकर रखती हैं।' इसके साथ ही उसने कहीं से सुनी सुनाई एक कहानी सुनाई।

मैंने उसी दृढता से जवाब दिया—'यह तुम्हारा पागलपन है हरीश!' किन्तु मैंने देखा, हरीश का चेहरा उतर गया है और सीधे घर जाने की धुन में वह था। परन्तु मेरे हृदय में एक बात आई कि मैं खूबसूरत हूँ। हरीश के जाने के बाद घर तक यही सोचता रहा आखिर सुन्दरता क्या चीज है। मैं किस बात से सुन्दर हूँ।

मैं इतना ही जानता था कि मैं हृष्ट-पुष्ट हूँ। पिता जी रोज मुझे व्यायाम कराते थे और प्रातःकाल उठकर अपने साथ स्नान कराते और बिना यज्ञोपवीत के भी मुझे सध्या कराते।

स्कूल से पहले एक पंडितजी मुझे सस्कृत पढाते थे। पहले अमरकोष फिर धातु रूपावली पढी। 'शब्द रूपावली' भी मुझे याद कराई जाती। किन्तु संस्कृत पढ़ने में मेरा मन कभी नही लगा। हाँ, रघुवश के श्लोक बिना अर्थ जाने जब गाकर पढ़ता तब अवश्य मुझे कुछ आनद आता। गगा लहरी भी मुझे याद थी। एक बार स्कूल में पंडित जी के क्लास में गंगा लहरी सुना रहा था कि उसी समय मुख्याध्यापक आ गए। उन्होंने मेरा पाठ चुपचाप कमरे के बाहर खड़े होकर

सुना। क्लास मे सन्नाटा था। पंडितजी मेरी स्वर लहरी पर मुग्ध थे। चौथे क्लास के विद्यार्थी के मुख से गगालहरी सुनकर मुख्याध्यापक ने मुझे बुलाया। पडितजी घबराए। किन्तु मैं निर्भीक होकर मुख्याध्यापक के कमरे में चला गया। जाते ही उन्होंने मेरे पिताजी का नाम-धाम पूछा। मुख्याध्यापक स्वय महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। उनका लड़का वहीं किसी क्लास में पढता था। उन्होंने उसे बुलाया। पडितजी और अपने लड़के के सामने मेरा गगालहरी पाठ सुना। मुझे मालूम है मेरा पाठ सुनकर पास के क्लास के कुछ विद्यार्थी तथा अध्यापक भी झाँक-झाँक कर देखने लगे थे और सेकण्ड मास्टर तो भीतर ही आ गए थे। इसके बाद मराठी में उन्होंने अपने लडके से कुछ कहा। फिर मेरी पीठ थपककर उन्होंने मुझे अपने क्लास में जाने की आज्ञा दी। अब तो अपने प्रत्येक अध्यापक के सामने मुझे श्लोक सुनाने पड़ते। इसका प्रभाव यह हुआ कि गणित के अध्यापक को छोड़कर शेष सब पर मेरी धाक जम गई। एक दिन शनिवार के अधिवेशन में भी मुझे कुछ स्तुति तथा गगालहरी के श्लोक सुनाने पडे। उस अधिवेशन में कुछ छात्रों ने अग्रेजी में और कुछ ने हिन्दी में भाषण दिये किन्तु मैंने देखा कि सबके ऊपर मेरे श्लोक सुनाने के ढग ने अधिक प्रभाव डाला है। क्योंकि अन्त में मुख्याध्यापक ने सभा को समाप्त करते हुए अग्रेजी में मेरा नाम कई बार लिया। हरीश तो मुझ पर इतना प्रसन्न हुआ कि वह सभा-समाप्ति के बाद आकर चिपट ही गया और कहा—'मैं तुम जैसा मित्र पाकर बडा प्रसन्न हूँ। चलो, घर चलो आज बाबूजी के सामने तुम्हें यह सब सुनाना पडेगा। मैंने तुम्हारे सम्बन्ध में बाबूजी से कह भी रखा है।'

'पर, ऐसी कौन सी बात है जो मैं तुम्हारे घर जाकर सुनाऊँगा। हाँ ये श्लोक मेरे बनाए होते तो मुझे आज कितनी खुशी होती हरीश?'

'लेकिन मुझे तो यह सब कुछ भी याद नहीं है। मैं चाहता हूँ इस तरह लोगों पर अपना प्रभाव डाल सकूँ।' हरीश ने उत्तेजित होकर कहा।

'इसमें क्या बडी बात है तुम याद कर लो।' मैंने जवाब दिया।

'नहीं मैं याद नहीं कर सकता। जिस समय तुम बोल रहे थे तब तुम्हारे हिलते बालों को देखकर मेरा जी नाच उठता था भाई! हरीश बोला।'

हरीश के आग्रह पर मुझे उसके घर जाकर वे ही श्लोक सुनाने पड़े। उसके पिता तो वहाँ थे नहीं, बड़े भाई थे जो बी० ए० में पढते थे। सुनकर उसकी

माँ तो बहुत खुश हुईं। उन्होंने मुझे चिपटकर प्यार किया। फिर भी उसकी एक बड़ी बहन ने कह भी डाला कि यह तो गवैयों का काम है। बड़े-बड़े बाल बढाकर गाने के साथ नाचना भी और सीख लेने की ज़रूरत है।

'वह तुम सीख लो—' मैंने खीझकर जवाब दिया और गुस्से से भर कर वहाँ से चलने लगा। तब हरीश की माँ ने उसे बहुत बुरा-भला कहा। और वह अपना सा मुँह लेकर नीचे चली गई। मैंने मन में सोचा कि अब कभी इस तरह श्लोक नही सुनाऊँगा और उदास मन से घर की ओर चल पड़ा।

किन्तु मेरे घर पहुँचने से पहले ही मेरी स्कूल की कीर्ति वहाँ पहुँच चुकी थी। लड़कों ने माँ से आकर स्कूल की सारी कथा सुना दी थी। माँ बहुत प्रसन्न थीं। मेरे घर पहुँचते ही मुझे उन्होंने गोद में बिठाकर सब कुछ पूछना चाहा, पर मैंने उनकी एक बात का भी जवाब न दिया। अन्त में हारकर उन्हें बातचीत छोड देनी पड़ी। मैंने ऐसी चुप्पी साधी कि कुछ बोला ही नहीं। शाम को पिताजी ने मुझसे पूछा, तब भी मैंने ठीक-ठीक जवाब न दिया। मुझे इस तरह उदास देखकर उन्होंने इसका कारण पूछा किन्तु मैंने कोई जवाब न दिया और रोकर ऊपर भाग आया। तीन-चार दिन मेरा यही हाल रहा। किसी से ठीक तरह बोलता ही न था। और पिताजी के सामने भी नहीं गया।

एक दिन नीचे बैठक में पहुँचते ही देखता हूँ, हमारे स्कूल के मुख्याध्यापक पिताजी के पास बैठे हैं। मैं उन्हे देखते ही खिसकने लगा पर पिताजी ने बुलाया। मैं चुपचाप एक तरफ जा खड़ा हुआ। मुख्याध्यापक महाशय ने मुझे देखकर पास बुलाया और मेरे उनके पास जाकर बैठने पर वे मेरे सिर पर हाथ रखकर पिताजी से बाते करने लगे। पिताजी उन्हें बता रहे थे, किस तरह उन्होंने मुझे पढ़ाने का विचार किया है। आजकल की शिक्षा में क्या दोष है? उनका कहना था कि यदि हम लोग बच्चों को अपनी सस्कृति से परिचित न करायेंगे तो अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से ये लोग आगे जाकर अपना धर्म भी खो देंगे और ईसाई बन जायेंगे। हमे चाहिए बालक के मन में प्रारम्भ से अपनी परंपरा का अकुर उत्पन्न कर दें। उन्होंने मुसलमानों के बालकों का उदाहरण देकर बताया कि उनके बच्चे को किस प्रकार प्रारम्भ से ही कुरान की शिक्षा दी जाती है। किस प्रकार उनमें बचपन से ही मुसलमानियत कूट-कूटकर भर दी जाती है। वे किसी भी वातावरण में अपनापन नहीं खोते।

मुख्याध्यापक महाशय ने कहा—'आपका कहना ठीक है, परन्तु सस्कृति के साथ इतनी कट्टरता न आ जाय कि बालक दूसरे देश की अच्छी बातों को अपनी सस्कृति की श्रेष्ठता की धुन में ग्रहण न कर सके, केवल इसका विचार रखना चाहिए। अंग्रेजी शिक्षा में जीवन को विस्तार के साथ समझने की अपूर्व क्षमता है। अंग्रेजी की शिक्षा बुद्धि में विश्लेषण-शक्ति उत्पन्न करती है। सचाई को समझने का केवल एक मार्ग ही नही है। वह बहुरूपव्यापी है। अंग्रेजी शिक्षा की सबसे बडी विशेषता उसके दृष्टिकोण का विशाल होना है। यदि शिक्षा से बालक को वह वस्तु मिल जाती है तो उसे किसी बात से नहीं डरना चाहिए। जीवन केवल वही नही है, जिसको हमारे ऋषि-मुनियों ने देखा है, जीवन वह भी है जो आज का अंग्रेजी पठित व्यक्ति देखता है।

इसी तरह बहुत सी बातें होती रही, इतने में छकिया आकर पान की तश्तरी रख गया। दोनों ने पान खाया। इसके बाद हैडमास्टर साहब ने महाराष्ट्र-समाज में सम्मिलित होने के लिए पिताजी को निमन्त्रण दिया और मुझे भी साथ लाने का आग्रह किया। साथ ही उठकर चलने के लिए खडे हो गये। पिताजी ने उनके निमन्त्रण को स्वीकार करते हुए यथासमय पहुँचने का वचन दिया और द्वार तक पहुँचाने गये।

३

जब मैंने सुना कि मुझे पिताजी के साथ महाराष्ट्र-समाज मे जाना होगा तब मेरी प्रतिज्ञा तथा श्लोक किसी के सामने न सुनाने का आग्रह एकदम जागरूक हो गया। मैं बार-बार यही सोचता रहा कि किस तरह ऐसा व्यवधान आ पड़े कि मैं महाराष्ट्र-समाज में न जाऊँ। उसी दिन रात को मेरे कमरे मे माताजी आगईं। और उन्होंने पूछा—'अरे, तू दो-तीन दिन से इतना उदास क्यों है?'

'कुछ नहीं।'

'कुछ तो। देखो, यदि तुमसे कोई अपराध बन पड़ा हो तो मैं ठीक कर दूँगी। बताओ क्या बात है ?' इतना कहकर माँ ने सिर पर हाथ फेरा।

मैंने कहा—'मैंने प्रतिज्ञा की है कि अब मैं किसी के सामने कोई श्लोक नहीं सुनाऊँगा। मैं न तो गवैया हूँ न नाचने वाला। इसके साथ ही मैंने हरीश के घर उसकी बहन के द्वारा हुए अपमान और अपनी प्रतिज्ञा की बात सुना दी।

माँ को मालूम था कि मैं बडा जिद्दी हूँ। फिर उन्होंने कुछ सोचकर कहा—'देखो यह तुम्हारा सौभाग्य है कि तुम्हारे स्कूल के हैडमास्टर साहब हमारे घर पर आए और तुम्हारे बाबूजी को और तुम्हे निमत्रण दे गए। यदि महाराष्ट्र-समाज में उन्होंने तुमसे श्लोक सुनाने को कहा और तुमने न सुनाया तो उनका और तुम्हारे पिताजी का कितना अपमान होगा। वे अपने मन में क्या कहेंगे और इसमें तो तुम्हारा मान है। लोग तुम्हे अच्छा समझते हैं तभी तो पढने को कहते हैं और किसी को कोई क्यों नही कहता ?'

मैंने कहा—'मैंने प्रतिज्ञा की है। मैं नहीं सुनाऊँगा तुम बाबूजी से कहदो।'

'लेकिन मेरी तो हिम्मत उनसे कहने की है नहीं और अगर कह भी दिया तो वे मानेंगे नहीं।'

'किन्तु मैं तो अब कभी श्लोक नहीं सुनाऊँगा। चाहे जो कुछ हो जाय।' इतना कहकर मैं कमरे से बाहर निकल गया और ऊपर छत पर जाकर एक कोने में बैठ गया। जब बहुत रात बीतने पर भी नीचे न उतरा तो घर में मेरी खोज होने लगी। छकिया ने घर का कोना-कोना ढूँढ मारा। बाहर भी वह हो आया था। किन्तु मुझे प्रसन्नता हो रही थी। मैं चाहता था कि मेरा पता किसी को न लगे। सब लोग परेशान थे। पिता जी भी अपने कमरे में व्यस्त थे। वे भी एकाध जगह बाहर हो आये थे। हरीश के घर भी छकिया मुझे ढूँढ़ आया था। वह रात के बारह बजे का समय होगा। अब मुझे डर लगने लगा कि न कुछ सी बात के लिए घर भर को परेशान कर डाला है। यदि कहीं मेरे ऊपर रहने का पता चल गया तो सम्भव है पिताजी पीटें। सोचते-सोचते मुझे एक बात सूझ गई। इसी बीच में घर में मुझे चाचाजी का स्वर सुनाई पड़ा। वह कह रहे थे—'आखिर जा कहाँ सकता है ? जितनी जगह उसके जाने की संभावना हो सकती है मैं ढूँढ़ आया हूँ। पुलिस में भी रिपोर्ट लिखा दी है। आनासागर—कम्पनीबाग को सिपाही दौडाए गए हैं।'

जैसे-जैसे वे कह रहे थे वैसे-ही-वैसे डरके मारे मेरे प्राण सूखते जा रहे थे। इसके बाद मुझसे छोटी बहन जो चाचाजी के पास रहती थी, बोली—'भैया कहीं ऊपर न हो। नाराज होकर ऊपर चला गया हो।'

इतना कहने के साथ मैंने सुना कि किसी के पैरों की आहट सीढ़ियो में हुई। मैं एकदम जमीन पर सिकुड़कर सो गया। थोडी देर बाद छकिया लगा चिल्लाने कि 'मैं यहाँ सो रहा हूँ।'

इसके साथ ही माँ और मेरी बहन तथा चाचाजी ऊपर लालटेन लेकर आगए। जिस समय उन्होंने मुझे जगाया तो मैं बड़ी जोर से आँख मलकर फिर सोने का बहाना करने लगा। मैंने यह दिखाया कि मुझे बहुत गहरी नींद आ रही है। आखिर जब मुझे नीचे ले जाकर सुलाया गया तो घर का कोलाहल शान्त हुआ।

किन्तु मैं चुपचाप पड़ा सब प्रकार की आलोचना प्रत्यालोचना सुन रहा था।

पिताजी कह रहे थे, 'इसमें इसका कोई अपराध नहीं है। बच्चा था, ऊपर गया और सो गया।'

माताजी कह रही थीं—'इसने मेरे प्राण ही सुखा दिये।' सबसे अधिक झल्ला रहे थे चाचाजी और छकिया। उन दोनों को काफी परेशानी उठानी पडी थी। यदि पिताजी न होते तो वे मुझे अवश्य पीटते। क्योंकि विदा लेते समय भी वे काफी क्रोध में भरे हुए थे।

जिस दिन हमें महाराष्ट्र-समाज जाना था, उस दिन पिताजी ने बुलाकर मुझसे पूछा—'क्या तुम्हे महाराष्ट्र-समाज में, यदि कहा जाय तो, श्लोक सुनाने में कोई आपत्ति है?'

मैं चुप था।

'बोलो', उन्होंने थोड़ी देर बाद कहा। 'यदि तुम नहीं सुनाना चाहते तो मैं कुछ भी नहीं कहूँगा। सोचकर मुझे उत्तर दो' और इतना कहकर वे अपना दफ्तर का काम करने लगे।

मैं हैरान था, जिस ढंग से पिताजी ने प्रश्न किया था, उसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। मैं चाहता था वे मुझे आज्ञा देते तो मैं विरोध करता। मेरा मन आज्ञा के प्रति विद्रोह करने पर तुला हुआ था। पर इस प्रकार के प्रश्न के सामने मेरा अभिमान विनम्र हो गया और बिना कुछ कहे जैसे ही मैं चलने लगा वैसे ही उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा।

'तो मैं यह समझ लूँ कि तुम महाराष्ट्र समाज में सम्मिलित होकर श्लोक नही सुनाना चाहते।'

मैंने एकदम नम्र होकर उत्तर दिया—'नहीं ऐसी बात नहीं है। मैं सुनाऊँगा

'ठीक है, मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी। जाओ।'

मैं समझ रहा था। पिताजी मुझसे उस रात की घटना की बात अवश्य करेंगे किन्तु उनके गाम्भीर्य, एव वाक् कौशल ने मुझे स्तब्ध कर दिया तथा जो वे चाहते थे वह भी हो गया। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे मैं बुरी तरह से हार गया हूँ। मेरे अभिमान को किसी ने मसल डाला है। पिताजी के प्रति कोई भी दुर्भावना मेरे हृदय में न रहकर एक प्रकार से श्रद्धा भी हो गई थी। फिर भी मुझे मालूम हो रहा था कि किसी ने मेरे अभिमान के फन को कुचल दिया है और वह क्रोध उस समय प्रकट हुआ, जब माँ ने मुझसे पूछा।

उस समय आगबबूला होकर मैंने उनसे कहा—'तुम्ही ने मेरी प्रतिज्ञा को भग कराया है। तुम्हीं चाहती हो मेरा अपमान हो।'

इस पर माँ हँसकर बोलीं—'वाहरे मानापमानवाले! मैंने तेरा क्या अपमान किया भला! अपने आप तो उनके सामने जाने को कह आया और मेरे ऊपर क्रोध उतार रहा है।'

इस हँसी के साथ दिए गए उत्तर को सुनकर मैं नीचे उतर गया और पिताजी के साथ महाराष्ट्र समाज की ओर चल दिया।

समाज में हैड्मास्टर साहब थे। उन्होंने तथा अन्य सदस्यों ने उठकर पिताजी का स्वागत किया तथा अन्य लोगों से पिताजी का परिचय कराया। फिर वे पिताजी से बोले—

'हम लोग आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। हमने निश्चय किया है कि समाज का कार्य किसी देवता की स्तुति से प्रारम्भ हो। पहले हम लोग सन्त तुकाराम के एक पद के द्वारा कार्य प्रारम्भ करते थे किन्तु इस बार मैंने सस्कृत स्तुति के द्वारा कार्य प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इससे एक तो समाज के कार्य में नवीनता होगी दूसरे यह प्रयोग कैसा रहेगा। यह भी मैं देखना चाहता हूँ।

कुछ महाराष्ट्र महिलाएँ तथा कन्याएँ भी वहाँ उपस्थित थीं। बिना पर्दे के इस तरह उनको पुरुषों के साथ बैठे देख मुझे आश्चर्य हुआ। पहले मुख्या-

ध्यापक महाशय और पिताजी के संकेत पर मैंने विष्णु की स्तुति का एक पूरा स्तोत्र स्वर के साथ सुनाया। इसके बाद एक महाराष्ट्र महिला ने सितार पर एक मराठी पद गाया, जिसको मैं बिलकुल न समझ सका। वैसे भी बीच-बीच मे मराठी बोलने के कारण मेरी समझ में कुछ भो नहीं आता था, पिताजी तो बंबई में रह चुके थे इसलिए वे कभी-कभी मराठी में बोलते भी थे। इसके बाद ज्ञानेश्वरी गीता के ऊपर एक सज्जन ने कुछ प्रवचन मराठी में किया। बहुत देर तक न जाने क्या-क्या बातें होती रही मैं कुछ न समझ पाया। इसी बीच मैं बाहर पानी पीने के बहाने चला गया और मराठी लड़कों के साथ खेलने लगा। जब चाय पान का आयोजन हुआ तब मैं बुला लिया गया। हमने लड़कों के साथ बैठकर खाया। यथासमय हम लोग घर लौटे। उस समय रात अधिक जा चुकी थी। मैंने देखा, मेरे कमरे में मेरी दोनों बहनों की भी खाटें बिछी हैं। वे अब तक हमारी चाची के पास रहती थीं। चाची और चाचाजी दोनों हमारे घर से दूर एक दूसरे मुहल्ले में रहते थे। वहीं से जरा दूर चाची के पिता रहते थे। वे भी किसी दफ्तर में नौकर थे। उनका बड़ा परिवार था। चाचाजी ने कपडे की एक दुकान खोल रखी थी। एक तरह से चाचाजी जो कुछ कमाते सब अपने श्वसुर को देते, पिताजी के पास तो वे कभी-कभी आ जाते थे। चाची हमारे घर कभी नहीं आती थीं। उनके कोई सन्तान नहीं थी इसलिए कभी-कभी मेरी बहनें चाची के पास रहतीं। चाची का स्वभाव बड़ा तेज था। रंग उनका बहुत काला। उसपर सदा सोने के गहनों से लदी रहतीं। चाचाजी स्वभाव के दब्बू पर मतलबी थे। उन्होंने पिताजी से रुपया लेकर कपड़े की दुकान खोली और पिताजी को उसमें से कुछ न दिया। सदा घाटे की बातें करते रहे।

कुछ आदमी बाहर से मीठे और भीतर से कलुषहृदय होते हैं। वे सदा अपने स्वार्थ पर दृष्टि रखते हैं। जहाँ उनके स्वार्थ को धक्का लगा, वहाँ उनका रूप प्रकट हुआ। उस समय वे संपूर्ण स्नेह, बान्धव को तिलाजलि देकर अपनी क्षुद्र स्वार्थपरता को प्रधानता देते हैं। पिताजी ने चाचाजी को सहायता पहुँ-चाने एवं उनको रोजगार कराने के लिए माँ के विरोध की पर्वा न करके कुछ उधार लेकर भी आठ नौ हजार के लगभग रुपया दिया। प्रारम्भ में उन्होंने विश्वास दिलाया कि दुकान में दोनों का साझा रहेगा, किन्तु दुकान खुलते ही उन्होंने अपना रूप बदल डाला और लाभ होते हुए भी वे पिताजी को घाटा

ही बताते । किन्तु पिताजी बडे शान्त स्वभाव के थे, उन्होंने निश्चय कर लिया कि भाई की सहायता करना उनका कर्तव्य था । अब उस रुपये से उन्हे कुछ भी ना-देना नही है । यही कारण है, जब से चाचाजी ने पिताजी का निश्चय सुना ब से वे फिर प्रेम बढ़ाकर उनसे मिलने लगे । इससे पूर्व गॉव के बाग और खेत भी चाचाजी ने अपनी दुरवस्था बताकर पिताजी के हस्ताक्षर कराके बेच दिये थे और वह रुपया स्वय हजम कर गए थे । एक मेरे चाचा और थे । वे सबसे छोटे थे । बडे कर्मकाण्डी और सस्कृत के पडित थे । वे गॉव में ही गंगा के किनारे एक कुटिया बनाकर रहते थे। विद्यार्थियो को सस्कृत पढाते और जो मिल जाता उसी में निर्वाह करनेवाले ब्राह्मण थे । उनकी स्त्री का देहान्त, पिछले दो वर्ष हुए, क्षय रोग से हो चुका था। पिताजी उनको दस रुपए प्रति माह भेजते थे । उसी में वे अपना निर्वाह करते । कुछ सेठ भक्तों से भी उनको मिल जाता था । हमारे मॅझले चाचाजी से उनका पत्र-व्यवहार तक बन्द था । छोटे चाचा में जहॉ सब गुण थे एक अवगुण भी था । वे खाते बहुत थे । खीर रबड़ी का भोजन उन्हें विशेष प्रिय था । हलवाइयों का क़र्ज उनके सिर पर सदा रहता । छोटे क़द छरहरे बदन के व्यक्ति थे । किन्तु दो तीन सेर रबड़ी एक बार में पी जाना उनके लिए साधारण बात थी। पॉच-छः सेर खीर खा जाते फिर दो-तीन दिन तक उपवास करते । उन्होंने कई शास्त्रार्थ भी जीते थे । एक बार उदयपुर में कोई शास्त्रार्थ जीतकर वे दो सौ रुपये और एक दुशाला लेकर अजमेर लौटे । मैंने देखा जिस कमरे में हमारे घर ठहरे थे । वहाँ दिन में बीस बार वे रुपये गिनकर संदूक में बन्द करते । बाहर जाने से पहले और आने के बाद उनका पहला यह काम था कि आते ही रुपये गिनते । कदाचित् उन्हें डर था कि कहीं नौकर ने ही उनके रुपये न उड़ा लिए हों । कभी वें सब रुपया निकालकर अंटी में लगाते और कमरे में घूमकर देखते । फिर आधे रुपये निकालकर संदूक में रखते । इतने पर भी जब रुपयों का उन्हे बोझ मालूम होता तो फिर सदूक खोलकर रख देते । ताले को तीन-चार बार खींचकर देखते । एक बार पिताजी के साथ उन्हें कहीं जाना था । छकिया ने आकर कहा—'बाबूजी नीचे आपको बुला रहे हैं ।'

'तू नीचे जा मैं आता हूँ ।' इतना कहकर उन्होने फिर सब रुपये निकाले और अंटी में लगाये । अच्छी तरह रुपए गॉठ में लगाकर चले ही थे कि

सीढ़ियों मे उतरते-उतरते सब रुपए झन्न झन्न की आवाज करके बिखर गए। मैं ऊपर से देख रहा था अब तो वे बड़े सिटपिटाए और जल्दी रुपए बटोरने लगे। मैं एकदम दौडा और रुपए बटोरने लगा। पिताजी ने रुपयों की आवाज सुना और उनको बीनते देखा तो वे आकर एक तरफ खड़े हो गए और उनसे पूछने लगे।

'यह क्या! देखो एक रुपया वह नाली मे जा गिरा है। ये रुपए कहाँ से आए?'

'कुछ नहीं।' और सकपकाकर वह रुपया उन्होंने नाली में से उठा लिया। बात यह थी उन्होंने पिताजी से उदयपुर के शास्त्रार्थ का जिक्र तो किया था पर रुपयों की बात नही बताई थी। किन्तु मैं उनको रोज दिन में कई बार रुपये संदूक से निकालकर गिनते देखता। मेरे कमरे और उनके कमरे के बीच में एक खिड़की थी। उसके किवाड कुछ टूटे थे वहीं से मैं यह दृश्य देखा करता।

रुपये उठाकर वे 'अभी आया' कहकर फिर ऊपर चले गये और एक-एक रुपया गिनकर सदूक में रखकर बाहर चले गए। मुझे नहीं मालूम पिताजी ने उनसे रुपये के सम्बन्ध में कोई बात की या नही। किन्तु माँ को मैंने यह बता दिया कि छोटे चाचाजी के पास बहुत-से रुपये हैं।

'सदेह तो मुझे भी था। भला कितने रुपये होंगे?' माँ ने पूछा।

'यह तो नहीं मालूम, पर मैं उन्हे सुबह-साँझ नित्य कई बार गिनते देखता हूँ।'

'इन नगे धड़गे महात्मा के पास रुपयों का क्या काम? ठीक अब समझी। जभी शाम को घर पर खाना नहीं खाते।' माँ ने हँसकर कहा।

'रबडी उडती होगी रोज माँ। चाचाजी बडे वैसे आदमी हैं, हमको एक दिन भी रबड़ी नहीं खिलाते। यह बुरी बात है।'

'अपनी-अपनी प्रकृति है। चल जाने दे कहीं से मिले होंगे। हमें क्या?' इतना कहकर माँ रसोईघर की ओर चल दीं। मैं बाहर जा रहा हूँ। इतना माँ से कहकर मैं अपने कमरे मे पडा चुपचाप सोचने लगा। उस समय घर में कोई नही था। माँ रसोईघर में थी। छकिया बाहर गया था। मेरी बहनें पडोस में कहीं खेलने गई थीं। मैं चुपके से उठा और चाचाजी के संदूक के पास डरते-डरते पहुँचा। जाकर देखा कि एक साधारण-सा ताला जो बाजार

से चार पैसे का आता है, लगा है। मैं एक पतली सी कील ले आया और इधर-उधर देखकर मैंने ताला खोलने का यत्न किया। थोड़ी देर की मेहनत से ताला खुल गया। मैंने सदूक खोलकर देखा तो उसमे कुछ कपडों की तह में एक पोटली में रुपये बँधे थे। मैंने उनमें से मुट्ठीभर रुपये निकाले और फिर कील से सदूक वैसा ही बंद करके बाहर आ गया। गली मे इधर-उधर देखकर मैंने एक कोने में खडे होकर रुपए गिने। वे चौबीस थे। पहले तो मुझे डर लगा फिर मैंने सोचा मुझसे कोई पूछेगा तो कह दूँगा—'मैं क्या जानूँ।'

फिर सोचा—यह चोरी है। आखिर मैं इतने रुपयों का करूँगा भी क्या ? नही रुपये वहीं रख देने चाहिए। अभी कुछ भी नहीं बिगडा है और पिताजी को कहीं मालूम हो गया कि मैंने चोरी की है तो मेरी बडी बुरी हालत होगी। मार पडेगी सो अलग। इतना सोचकर मैं फिर लौटा और सब रुपये जैसे रखने के लिए सदूक के पास पहुँचा वैसे ही कोई सीढ़ियों पर चढता सुनाई दिया। मैंने चुपचाप रुपए चाचाजी के बिस्तर के तकिये में रख दिए और बाहर आ गया। किन्तु वह मेरा भ्रम था। दूधवाला दूध लेकर आया था। वह दूध लेने के लिए पुकारने लगा। मैंने कमरे में किवाड़ की आड से देखा कि माँ दूध लेकर रसोई घर में चली गई हैं। और दूधवाला नीचे उतर गया। मैंने फिर रुपए निकालकर दो तो जेब में रखे और बाकी रुपयों को तकिये की तह में रख दिया। फिर निश्चिन्त होकर बाहर निकला। असल में बाहर ख़र्च करने के लिए पैसे देने के पिताजी बहुत विरुद्ध थे। सवेरे दस बजे के लगभग घर से मैं खाना खाकर जाता। दोपहर को छकिया दूध लेकर स्कूल जाता। शाम घर आते ही माँ कुछ मिठाई देती थीं। इसलिए बाजार से कुछ भी खाने का मेरा बिल्कुल अभ्यास न था। एक बार हरीश ने बाजार में बैठकर चाट खाई। उसके पास कुल दो ही पैसे थे। मुझे पैसे मिलते ही नहीं थे। दो पैसे की चाट खाकर जी और भी मचलने लगा। आखिर दो पैसे की चाट होती भी कितनी। कभी-कभी बाजार से जाते हुए हलवाई की दूकान पर तरह-तरह की मिठाई रखी देखता तो जी में आता कि न जाने यह मिठाई कैसी होगी ? हमारे घर में केवल निरन्न मिठाई आती थी जैसे पेडा, बर्फी।

मैं सीधा हरीश के घर पहुँचा पर दुर्भाग्य से वह घर पर न था। घर से

लौटते ही मार्ग में वह आता दिखाई दिया। मैंने एकदम दौड़कर उसे पकड़ लिया और साथ चलने का अनुरोध किया।

'क्या बात है, आज बहुत प्रसन्न दिखाई पडते हो।' हरीश बोला।

'कुछ नहीं चलो सैर करें।' और उसका हाथ पकड़कर हम दोनों हलवाई की दुकान पर पहुँचे। यह वही हलवाई था, जहाँ से पिताजी कभी-कभी मिठाई मँगाते थे। वह मुझे पहचानता भी था। हमने तरह-तरह की मिठाई लेने का आर्डर दिया। देने को उसने सब दे दीं। किन्तु वह आश्चर्य में जरूर पड़ गया। क्योंकि मैंने कभी इस तरह मिठाई उसके यहाँ से नहीं ली थी। मैंने देखा पाव-पाव भर मिठाई भी हमसे खाई नहीं जा रही थी। जब मैंने रुपया निकाल कर उसे दिया तो वह बोला—

'क्यों बाबू आज क्या घर से पैसे चुरा लाए हो?'

'नहीं।' मैंने दृढता से उत्तर दिया—'ये मेरे मित्र के पैसे हैं।'

'मैं इनको भी जानता हूँ। इनके घर भी हमारे यहाँ से ही मिठाई जाती है। सच बताओ ये पैसे कहाँ से आए? जाओ और जो कुछ खाना हो खा लो। मैं पैसे नहीं लूँगा।'

हरीश घबरा गया। मैंने फिर दृढ होकर उत्तर दिया—किन्तु मन में सिहर उठा। 'देखो रामलाल! घर से इस मिठाई का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। तुम अपने पैसे लो।

'नही, मैं पैसे नहीं लूँगा। तुम जाओ और अगर घर से ये पैसे लाए हो तो वहीं जाकर रख दो। नहीं तो बाबूजी मारेंगे।'

हम लोग दोनों मिठाई खाकर खिन्न मन वहाँ सेचल दिए।

रास्ते में हरीश बोला—

'सच बताओ, ये रुपए कहाँ से आए!'

मैंने आदि से अन्त तक सारी कहानी उसे सुना दी।

'तो तुमने चोरी की है, यह तो बुरी बात है।'

मैंने कहा—'चाचाजी कहीं से रुपए लाए हैं। उन्होंने पिताजी को नही बताया। वे रोज चुपचाप रबड़ी खाते हैं। मैं उन्हे सजा देना चाहता हूँ, उन्होंने बाबूजी से रुपये क्यों छिपाए, हरीश?'

'लेकिन वे बडे हैं सँभाल लेंगे। तुम्हारी जरूर पिटाई होगी। और शायद

यह रामलाल का बच्चा मेरे बाबूजी से भी कहे। तब मैं क्या करूँगा ? बहुत बुरा हुआ।'

मैं भी गुमसुम उसके साथ चल रहा था। एकदम उसने कहा—'मैं घर जाता हूँ।'

मैंने हरीश का हाथ पकडकर कहा—'तो तुम मेरे मित्र नहीं हो हरीश ?'

उदास मन से उसने कहा—'मित्र क्यों नहीं हूँ। पर . ।'

'ये रुपये तुम ले जाओ। मैं इन्हे रख नहीं सकता। चोरी पकडी जायगी।'

तो मैं भी इन्हे कहाँ रखूँगा ? नही, मैं नही रख सकता। तुम्हीं ले जाओ मेरा तो खयाल है रुपये वही रख दो।'

मैंने कुछ देर बाद कहा—'आओ, चाट खाएँ।'

'नही, अब मैं कुछ नही खाऊँगा। मुझे डर है कहीं रामलाल पिताजी से कह न दे।'

'तुम बडे दब्बू हो।'

'हाँ दब्बू ही सही। मैं चोर तो नहीं हूँ।'

हरीश का यह वाक्य मुझे तीर-सा लगा। मैं घर लौट आया। घर पहुँचते ही मैंने देखा, चाचाजी अपने कमरे मे बड़े व्यस्त हैं। बार-बार सदूक खोलते हैं। धीरे से रुपये गिनते हैं। फिर सदूक देखते हैं और सिर पकडकर कमरे मे टहलने लगते हैं। इतने में छकिया ने आकर खबर दी, बाबूजी खाने के लिए बैठ चुके हैं। आपको बुला रहे हैं। चलिए।

उन्होंने यह सब कुछ न सुनकर छकिया से कहा—

'छकिया, इस कमरे में कौन-कौन आया ?'

'मुझे नही मालूम बाबू ! मैं तो बाहर गया था। चलिए !' इतना कह वह बाहर चला गया। उन्होंने फिर सदूक खोलकर देखा और रुपये गिने। फिर उदास मन से कपडे उतारने लगे। जब वे भोजन करने चले गये तो मैंने एक बार सोचा कि ये रुपये जहाँ के तहाँ रख दूँ। लेकिन स्कूल मे चाट खाने की प्रबल इच्छा से फिर रुक गया। इतने मे मेरी पुकार हुई। छकिया ने आकर कहा चलो बाबूजी बुला रहे हैं। आज रामलाल के यहाँ मिठाई खाई थी न ! छकिया के मुँह से इतना सुनते ही मेरे ऊपर तो वज्र गिर पडा। मुझे एकदम चक्कर आ गया। फिर सँभलकर निहोरे के तौर पर मैंने छकिया से पूछा—बाबूजी को किसने बताया छकिया ?'

'मैंने ।'

'तूने ?'

'हाँ, मैंने । अभी मैं मिठाई लेने गया था, उसी समय रामलाल ने मुझे बताया कि तुम और हरीश दोनों ने मिठाइ खाई थी ।'

'और ।'

'और कुछ नहीं ! बाबूजी बुला रहे हैं । चलो ।'

मैं मन को दृढ करके रसोईघर में पहुँचा । पिताजी और चाचाजी भोजन कर रहे थे । माँ परोस रही थीं । मैं एक तरफ कोने मे जाकर खड़ा हो गया । डर लग रहा था कि अब वज्र गिरा । अब कुछ हुआ ।

इतने मे पिताजी ने कहा—'और तूने भोजन नहीं किया ?'

'अब करूँगा ।'

'हाँ, इसको भोजन परोस दो ।' इतना कहकर वे फिर बातें करने लगे ।

छकिया समझ रहा था कि बाबूजी रामलाल की बात करेंगे । मैं कुछ भी नहीं समझ पा रहा था ।

मैं चुपचाप हाथ-मुँह धोकर दूर आसन पर जा बैठा । माँ ने भोजन की थाली मेरी ओर सरका दी । मैं खाने लगा किन्तु मिठाई के कारण मुझे भूख तो बिलकुल नहीं थी । मैं निगल रहा था । वे खाने के बाद भी बैठे बातें कर रहे थे ।

जब उन्होंने देखा कि मैं ठीक-ठीक खा नहीं रहा हूँ, तब वे मेरी ओर देखकर हँसते हुए बोले—'क्यों, भोजन अच्छा नहीं बना ?'

'खा तो रहा हूँ ।' इतना कहकर मैं बिना भूख के भी बडी जल्दी और बड़ा ग्रास मुँह मे धकेलने लगा । लेकिन इच्छा न होते हुए भोजन करने के लिए मुझे विवश देख वे बोले—

'भूख न हो तो मत खाओ । बात क्या है, आज कहीं कुछ खाया था क्या ?'

इस अप्रत्याशित प्रश्न से मैं सिहर उठा । और कोई होता तो मैं फौरन झूठ बोल देता किन्तु पिताजी के सामने झूठ बोलना मेरी शक्ति के बाहर था और उस समय जब कि इस दुष्ट छकिया ने उनसे सब कह दिया था । मे क्या करता ?

पिताजी इतने में फिर बोले—

'देखो अजय, हम लोग बाजार की अन्न की कोई मिठाई नहीं खाते, तुम्हें भी नहीं खाना चाहिए ।'

छकिया तो इतनी देर से दूर खड़ा इस बात की प्रतीक्षा में ही था, एक-दम बोल पडा—

'हाँ, बाबू आज इन्होंने रामलाल की दुकान की जलेबी खाई थीं।'

'चुप रह 'तू क्यों बोलता है ?' इतना कहकर वे आचमन करने उठ गए।

मैं उनकी अन्तिम बात को सुनकर पानी-पानी हो गया और एकदम फफक-फफककर रोने लगा। माँ ने जब यह देखा तो मुझे मनाने आईं। किन्तु मेरा रोना किसी तरह कम नहीं हो रहा था। आखिर मैं एकदम थाली छोड़कर उठ बैठा और हाथ-मुँह धोकर कमरे मे जाकर रोने लगा। मैं समझ नहीं पा रहा था किस पर क्रोध करूँ। अपने को दोषी नहीं समझता था। मुझे यह दुःख था कि चाचाजी ने पिताजी से रुपयों की बात क्यो छिपाई ? रह-रहकर मेरे जी में आता था पिताजी यदि आज मुझे मारते तो भी मुझे इतना दुःख न होता। उन्होंने मीठी तरह बात करके मुझे बहुत दुःखी किया। क्रोध उन पर बिलकुल न था। फिर भी मैं अपने को रोक नहीं पा रहा था। मैंने निश्चय किया कि पिताजी के सामने जाकर क्षमा माँगूँ। एक बार जी में आया ये रुपये भी पिताजी के सामने जाकर रख दूँ। अन्त में जब मुझसे न रहा गया तो चुपके से उठकर उनकी बैठक की ओर चला। वे उस समय अकेले तकिये का सहारा लगाये बैठे थे, पान की तश्तरी उनके सामने रखी थी, उसी में से कभी-कभी इलायची या कुछ और निकालकर खा लेते। पैरों की आहट पाते ही उन्होंने भीतर से कहा—

'कौन है ?'

मैं सामने पहुँच गया।

'अजय, आओ बैठो! कहो तुम्हारी पढ़ाई कैसी है ? खूब पढते हो न !'

'जी।'

'सस्कृत की ? पडितजी कहते थे कभी-कभी तुम पाठ याद नहीं करते।'

'वह ठीक है, रोज तो याद कर लेता हूँ।' इतना कहकर मैंने दो रुपये पिताजी के सामने फेंक दिए।

'यह क्या है ?'

'मैंने चुराये थे!' और मैं रो पडा।

'चुराये थे !' इतना कहने के साथ ही वे उठकर बैठ गए । 'चुराये थे ! क्या बात है, सच-सच बताओ ?'

मैंने आदि से अन्त तक चाचाजी की सब बातें सुना दीं । बातें करने में इतना प्रवीण तो था नहीं । किन्तु मैंने देखा वे बिना टोके और क्रोध दिखाए, कभी मुसकराते, कभी गम्भीर होते सब बातें ध्यान से सुन रहे हैं । यह भी बता दिया कि बाईस रुपये मैंने चाचाजी के उनके तकिये के नीचे रख दिये हैं । फिर मैंने कहा—

'मुझसे बड़ा भारी अपराध हुआ है ।' इतना कहकर मैं नीचे सिर कर सिसकने लगा ।

उन्होंने मुझे उठाकर कहा—

'तुमने अपराध तो अवश्य किया है, तुम्हें चाचाजी को दण्ड देने का क्या अधिकार है ?'

'उन्होंने आपसे रुपये क्यों छिपाए ? यही बात मुझे रह-रहकर चुभती थी ।'

'किन्तु तुम्हें उससे क्या ? रुपये तुम्हारे या मेरे तो हैं नहीं ! यह उनकी इच्छा है वे मुझे रुपयों के सम्बन्ध में बताएँ या न बताएँ । जाओ, ये रुपये चाचाजी को दो और उनसे क्षमा माँगो । यदि वे तुम्हें क्षमा कर देंगे तो मुझे कुछ भी नहीं कहना ।'

मैं चुप था । यह पिताजी की तरफ से बडा भारी दण्ड था । मैं चाचाजी से किसी तरह भी क्षमा नहीं माँगना चाहता था । मुझे चुप देखकर वे फिर बोले—

'क्या कहते हो ?'

मैं फिर चुप ।

मुझे चुप देखकर उन्होंने छकिया को बुलाकर कहा—

'जा, इन्द्रनाथ को मेरे पास भेज दे ।'

और थोडी देर में चाचाजी कमरे में आ गए । पिताजी ने कुछ न कहकर दो रुपये उनके सामने फेंक दिए, फिर बोले—

'आज अजय ने तुम्हारे रुपए चुराए थे । बाक़ी बाईस रुपए तुम्हारे तकिये के नीचे रख आया है ।'

उन्होंने मेरी तरफ क्रोध से देखा । फिर बोले—'बड़ा दुष्ट है यह ? अभी से यह काम !'

पिताजी ने हँसकर कहा—'यह काम तो किसी भी दशा में ठीक नही है, फिर भी यह तुमसे क्षमा माँगता है, इसे क्षमा कर दो।'

चाचाजी चुप रहे, कुछ न बोले। मैंने देखा वे स्वयं कुछ अप्रतिभ हो गए हैं। इसके बाद पिताजी ने मुझे दो-एक बार समझाकर ऊपर जाने की आज्ञा दी। मुझे उस समय ऐसा लगा, जैसे बड़ा भारी पाप मेरे सिर से उतर गया है। मैं चुपचाप ऊपर आकर अपना स्कूल का काम करने लगा। फिर भी न जाने क्यों उस घटना ने मुझे बहुत दिनों तक 'चोरी' की है, इसके लिए प्रताड़ित किया और दूसरे दिन मुझे बुखार आ गया। मैं समझ रहा था कि रुपए चुराकर जो पाप मैंने किया है, उसी का यह फल मैं भोग रहा हूँ। लगातार पन्द्रह दिन तक मुझे बुखार आया किन्तु मुझे इससे बड़ा सन्तोष हो रहा था। बुखार के दिनों में मैं चुपचाप पडा रहता, बहुत कम किसी से बोलता।

४

उस दिन की बात है—

उस दिन भी जब मुझे बिल्कुल ज्वर न आया तो मैंने खाने के लिए चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया। पर माँ भला बिना बाबूजी से पूछे मुझे खाना कैसे दे सकती थीं। यह बात नहीं थी कि वे खाना मुझे नहीं देना चाहती थीं पर उन्हे बाबूजी से पूछे बिना किसी प्रकार का पथ्य देना उचित नहीं मालूम होता था। उस बीमारी की दशा मे और विशेषकर ज्वर उतर जाने पर भोजन के स्वाद कैसे याद आते थे। उसकी याद करके अब बिना भूख के भी कभी-कभी भूख लग आती है। कभी-कभी पडा सोचता, चटपटा परवल का शाक और पतली रोटियाँ 'कुरकुरी' यदि मिल जायँ तो इसके बाद स्वर्ग की कौन वस्तु अप्राप्य हो सकेगी। माँ के हाथ की बनी हुई रोटियों में विधाता का कौन सा कर्तव्य शेष रह जाता है, कौन-सा आनद अननुभूत रहता है, यह मैं किसी तरह भी नहीं समझ पा रहा था। इसी अभिनव कल्पना के राशि-राशि भोज्य रसास्वादन मे दिन ढलने का समय आ

गया। इतने में छकिया की दौड-धूप से यह समझने में कुछ भी कसर बाकी नहीं रही कि बाबूजी दफ्तर से आ गए हैं। उस समय घर मे एक प्रकार की हलचल, एक हलका-सा भूकप आगया हो, इसका नए ढग से अनुभव होने लगा। वैसा होता तो हर रोज ही था पर उस दिन तो जैसे मेरे ज्वर के उतार ने मुझे हलचल को नई कल्पना से देखने का अवसर दिया हो। इससे पहले जब मैं अच्छा रहता तब इस समय तक खेलने बाहर निकल जाता था और बीमारी की दशा में बुखार के अभूतपूर्व झटकों से प्राणों के अन्तराल तक कॉप उटने वाली सिहरन मे सोता रहता था।

नीचे कपड़े उतारने के बाद स्लीपर पहनकर पिता जी जब ऊपर आये तो मेरी पथ्य की तीव्रता और भी अधिक जागरुक हो उठी। किन्तु इतना साहस न था कि मुँह खोलकर पथ्य के सम्बन्ध में कुछ भी कह सकूँ। पिताजी के सामने बोलना मेरा ही क्या, घर में किसी का भी काम कदाचित् न था। माँ भी डरते-डरते कभी कुछ कह न पाती थी, पर कमरे में जाकर जब उन्होंने चुप-चाप मेरी नजर देखी तो उस समय मुझे लग रहा था कि जैसे मेरी नाड़ी 'खा-खा' शब्द के साथ भोजन के लिए भी उनसे प्रार्थना कर रही हो।

'ठीक है आज ज्वर उतरा है। तुमने दूध पिया।' पिताजी ने गभीरता से मुद्रा बनाए रहकर पूछा ? कहाँ, छोटे बाबू दूध पीते ही नहीं। छकिया बोला।

'झूठ बोलता है, मैं दो बार दूध पी चुका हूँ।' मैंने खीझकर उत्तर दिया—'मुझे दूध अच्छा नही लगता।' कहकर मैं रुक गया।

'यदि आज इसको पथ्य दे दिया जाय तो कैसा ? बुखार तो उतर ही गया है।' माँ ने भीतर आते-आते पूछा।

'नही, अभी खाना नहीं मिल सकता, अन्न देना अभी टीक नहीं है। दूध दो।' इतना कहकर पिताजी लौट गए।

पिताजी के इस वाक्य से मेरी कल्पना का प्रारम्भ रेत के ढेर पर पानी पड़ जाने की तरह बैठ गया। कल्पनाएँ तो मैं आज भी बहुत सी कर लेता हूँ और दु:ख को सहना भी सीख गया हूँ पर उस समय भूख की तेजी से कल्पित स्वादिष्ट भोजन की प्राप्ति मे अप्रत्याशित बाधा ने मुझे अभिभूत कर लिया और मुँह ढककर करवट बदल ली। कर भी क्या सकता था ? समाज ने बच्चे पर माता-पिता के जो अधिकार सयुक्त कर दिए हैं, उन पर प्रकट रूप से

नुक्ताचीनी न करने की अवस्था में अपने को पाकर मेरा मन विद्रोह कर रहा था। मुझे सूझ रहा था, जैसे माँ ने मुझे सतोष देने के लिए ही मेरे सामने पिताजी से पूछा था, जिससे उनकी सफाई के सम्बन्ध में मेरी धारणा स्पष्ट हो जाय पर हुआ इससे उल्टा ही। मैंने समझा जैसे यह सब मुझे बहकाने के लिए हो रहा है, माँ स्वय नहीं चाहतीं कि मुझ इतने दिन के बीमार को, जो भोजन के लिए व्याकुल हो रहा है, पथ्य दिया जाय। वे चाहती हों तो जोर देकर भी वे कह सकती थीं। बीच-बीच में क्रोध, उद्वेग और विद्रोह के साथ साथ मैं यह भी सोचता, आखिर भोजन हमारे लिए इतना आवश्यक क्यों है? मनुष्य को किसने इस बन्धन में बाँध दिया है? यदि यह खाने-पीने की झंझट न होती तो कितना अच्छा होता। कितना अच्छा होता यदि यह भोजन का व्यवधान न होता। तब मैं अवश्य माँ-बाप की परवा किये बिना दुनियाँ घूमने निकल जाता। भ्रमण मुझे सदा से प्रिय रहा है। ससार में स्वतन्त्र होकर घूमूँ सब तरह के आदमी, सब प्रकार के नए-नए दृश्य देखूँ यह विचार अब भी रह-रहकर मुझे कचोटता रहता है। पर उस समय मेरी उम्र अधिक से अधिक बारह साल की होगी। इसी तरह उधेड़बुन में मुझे नीद आ गई और उस समय जागा जब छकिया दूध का गिलास लेकर मेरे सिरहाने खड़ा पुकार रहा था। छकिया को देखते ही मेरी आँखें जल गईं। मैंने फटकारकर उत्तर दिया, मैं दूध नही पीऊँगा। जब बहुत कहने के बाद भी मैंने दूध नहीं पिया तो वह बडबडाता लौट गया। यह सब करने का साहस मुझे इसलिए भी हो रहा था कि पिताजी स्नान करके सायंकाल की सध्या के लिए आसन लगाकर बैठ चुके थे। और अभी उनके घटे-डेढ़ घटे तक उठने की आशा न थी। घर में माँ से तो मैं डरता ही नही था; डर था तो केवल पिताजी का क्योंकि पिताजी बडे गभीर और बोलते कम थे, मारा तो उन्होंने हमें शायद ही कभी हो।

मैंने छकिया के बहुत आग्रह करने पर भी दूध न पिया। पर यह आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि जब कोई भी मुझे दूध पीने के लिए मनाने न आया। इसका एक कारण यह हो सकता है कि अवश्य उसने दूध छिपाकर रख दिया हो या स्वयं पी गया होगा। उसने मेरे मना करने का अर्थ यह लगाया कि मुझे भूख नहीं है। जब सब लोग खा-पीकर सोने चले गये तब माँ एक बार चुपचाप आईं और मेरी नाड़ी देख तथा मुझे सोया जान लौट गईं। एक आशा थी

क्रोध उतारने की वह भी मेरी मूर्खता से चली गई। मेरा क्रोध धीरे-धीरे बढ़ने लगा। माँ का कमरा मेरे पास ही था। वहाँ से उठकर माँ कभी-कभी, रात में मुझे देख लिया करती थीं। छकिया नीचे बैठक के पास बरामदे में सोता था। वह भी चला गया था, पिताजी तीसरे कमरे में—जो मेरे कमरे के दाईं तरफ था, सो रहे थे।

उधर मेरा भूख के मारे हाल बुरा था, पेट में चूहे कूद रहे थे। जब कोई उपाय नहीं मिला तो मैं चुपचाप उठा और रसोईघर में घुसा। उन दिनों बहुत सर्दी नहीं पड रही थी, मामूली कंबल का जाड़ा था। रसोई घर मे जाते ही एक खाली बाल्टी से टकराया। और 'ठन्न' से बड़े जोर का शब्द हुआ। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि जैसे वह बाल्टी की आवाज मेरी ही छाती पर किसी ने की हो। मेरा रोम-रोम काँप उठा, डर यह था कि कहीं कोई जाग न जाय। खैर, धीरे-धीरे पैर रखता मैं अल्मारी के पास पहुँचा और लगा टटोलने। इधर-उधर ढूँढने पर कुछ भी न मिला तो मुझे अपने ऊपर बड़ा क्रोध आया। क्यों न मैंने दूध ही पी लिया, अब यहाँ क्या रखा है? मिठाई माँ दूसरी अल्मारी में रखती थीं, उसमें ताला लगा रहता था। लेकिन मिठाई खाने की तो कोई इच्छा भी नहीं। उस अँधेरे मे ढूँढते-ढूँढते जब कुछ भी न मिला तो मसालदान में से निकालकर जरा सा नमक चाटा। नमक खाते ही मेरी भूख और भी तेज़ हो गई। फिर इधर-उधर हाथ मारते दियासलाई हाथ लग गई। जलाई, पर डर था कहीं कोई देख न ले। उस समय जहाँ मुझमे डर था, वहाँ विद्रोह की भावना भी उतनी ही तेज हो रही थी। इसके अतिरिक्त माँ से मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता था। मुझे उन पर क्रोध था कि एक तो उन्होंने मेरे पथ्य की व्यवस्था में पिताजी से आग्रह नहीं किया और दूसरे उन्होंने नौकर पर विश्वास कर लिया, मुझसे स्वय आकर दूध के बारे में पूछा तक नहीं।

दियासलाई जलाकर देखते ही और कुछ तो दीखा नही, हाँ गाय के लिए दी जानेवाली गो-ग्रास की दो रोटियाँ दिखाई दीं। मैंने उन्हे उठा लिया। हाथ लगाते ही ज्ञात हुआ कि वे न जाने कब की बासी और सूखी हैं। छकिया की लापरवाही से वहाँ बची आले के कोने में पडी थीं। परन्तु भोजन तो मेरे लिए असभव था। कभी इस तरह अन्न खाने का अभ्यास ही नहीं था। वे रोटियाँ लेकर पहले तो बहुत देर तक बैठा रहा, एक बार जी में आया कि यह सूखा

अन्न फेंककर माँ को जगाऊँ और उनसे चुपचाप भोजन बना देने के लिए कहूँ, पर यह विचार तो ठहर भी न सका जब मुझे उनके प्रति अपने विद्रोह, आत्माभिमान का ध्यान आया। बहुत देर सोचने के बाद मैंने वे सूखी रोटियाँ खाने का निश्चय किया परन्तु उस सुनसान में रोटियों की कुरकुराहट भी काफी तेज थी। पिताजी एक बार खाट पर लेटे-लेटे ही 'बिल्ली-बिल्ली' कहकर चिल्लाये। मैंने यह सुनकर चबाना बन्द कर दिया पर भूख मे रोटियाँ भी स्वादिष्ट लग रही थीं, इसलिए लोभ संवरण न करके फिर खाना प्रारम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त मैंने समझा कि पिताजी अब सो गये होंगे। इस तरह लगभग एक रोटी मैं खा गया, दूसरी खा ही रहा था कि एकदम रसोई घर में लालटेन लिए पिताजी सामने खडे दिखाई दिए। मैं मुँह टुकडे से भरे हुए चुपचाप बैठा था, हाथ पर रोटी। मेरे क्रोध, भूख का सामान ! पिताजी स्तब्ध थे मूक, उद्भ्रान्त और मैं जड़ित और लज्जित ग्लानि क्षोभ से पूर्ण।

सारे घर में भूकप आ गया !

× × × ×

कहने की आवश्यकता नही, रात ही को मेरे लिए पथ्य बना और मैं धीरे-धीरे स्वास्थ्य लाभ करने लगा।

५

मेरी बीमारी से पहले छोटी बहन के गले में गण्डमाला के लक्षण दुबारा दिखाई देने लगे। पहले हस्पताल में ले जाकर उसका आपरेशन किया गया। थोडे दिन तो वह जैसे-तैसे ठीक रही फिर उसके गले में दूसरी बार भी पहले जैसे लक्षण दिखाई देने लगे। डाक्टरों की राय थी कि आपरेशन ठीक नहीं हुआ। इस बार यदि आपरेशन हुआ तो जान का डर है। इसके बाद वैद्यों की चिकित्सा हुई। पिताजी पहले भी आपरेशन के पक्ष में नहीं थे। वे चिकित्सा ही कराना चाहते थे किन्तु वैद्यों की दवा से भी कुछ विशेष लाभ

नहीं हो रहा था। एक बात विशेष हुई। डाक्टरों ने कह दिया, यह छूत की बीमारी है, घर के और बच्चों से इसको बचाकर रखना चाहिए। तदनुसार गौरी के लिए एक अलग कमरे में रहने की व्यवस्था की गई। माँ उसके पास जाती। अन्य कोई भी व्यक्ति उसके कमरे में नहीं जा पाता था। मैंने देखा कि उसका शरीर दिन-प्रतिदिन दुर्बल और निस्तेज हो रहा था। वैद्यों की दवा चल रही थी। पिताजी के एक डाक्टर मित्र भी थे, वे भी प्रायः आकर उसे देखते, डाक्टर महोदय वैद्य भी थे। इसलिए भी वैद्यक औषधि ही उसके लिए उपयुक्त समझी गई। उस छोटे से कमरे में एक खाट पर सदा लेटे रहने की उसको आज्ञा थी। बर्तन भी उसके अलग कर दिए गए थे। वह इस समय लड़ना भी भूल गई थी। मुझे देखती तो 'भैया' कहकर आवाज लगाती। मेरे हृदय में उसके प्रति स्नेह का भाव उमड़ने लगता किन्तु मुझे उसके कमरे में जाने की आज्ञा नहीं थी। छकिया कभी-कभी जाता किन्तु वह भी प्रायः इधर-उधर कर जाता। केवल माँ और सुबह-शाम पिताजी उसे देखते। उसकी हीन अवस्था देखकर मेरी आँखों में आँसू आ जाते। कभी-कभी नजर बचाकर मैं उसके कमरे में चला जाता और उसके पास बैठ जाता। वह दयनीय और भीगी आँखों से मुझे देखती और मुँह फेर लेती। कभी-कभी 'भैया मैं अब मर जाऊँगी अब नहीं जीऊँगी भैया।' कहकर रोने लगती।

मैं उसके गले में हाथ डालकर रोने लगता। तब वह कहती।

'नहीं मुझे मत छुओ, कहीं तुम्हें मेरी बीमारी न लग जाय। न जाने मुझे क्या हो गया है ?'

मेरे जीवन में यह पहला ही अवसर था, जब इस प्रकार के किसी रोगी को मैंने देखा हो। मरने का नाम तो मैंने अवश्य सुना था किन्तु मरनेवाले को देखा न था। मैं वहाँ से चुपचाप उठकर सोचने लगता। क्या सचमुच बहन के अच्छे होने का कोई उपाय नहीं है ? उसे हमसे अलग कर दिया गया है। ये डाक्टर भी कितने दुष्ट हैं, मेरे हृदय में कभी-कभी बड़ी बेचैनी होती। रात को पढ़ने में भी जी न लगता। कभी बहन को जब दर्द से कराहते सुनता तब उठकर पास दौड़ जाने की इच्छा होती। माँ उसके पास जाती और उसे स्वयं रोते-रोते सान्त्वना देतीं। रात को वह कमरे में अकेली रहती, एकाध बार माँ उठतीं और उसके पास जा बैठतीं।

एक दिन मैंने देखा कि साँझ से ही डाक्टर और वैद्य आकर बहन को देख रहे हैं। छकिया भी बहुत दौड़-धूप करके तरह-तरह की औषधि ला रहा है। पिताजी उसी के कमरे मे बैठे हैं। व्यस्तता और चिन्ता सबके चेहरों पर दिखाई दे रही है। बहन न पहले की तरह कराहती है, न बोलती है। जब मुझसे न रहा गया तो कमरे के दरवाजे के पास जाकर चुपचाप खडा हो गया। पिताजी एक कुर्सी पर पास ही उदास बैठे थे। माँ उसकी खाट पर बैठी उसे दवा पिला रही थीं। कभी-कभी उसे आवाज लगातीं। एक वैद्य दूसरी कुर्सी पर बैठे उसकी दशा देख रहे थे। यह अवस्था देखकर मुझे एकदम रोना आ गया। और मैं चुपचाप बाहर खडा रोता रहा। रोने की आवाज सुनकर पिताजी बाहर आ गए और मेरे सिर पर हाथ रखकर कहने लगे—'जाओ अजय, सो जाओ! गौरी ठीक हो रही है। अरे, रो क्यों रहे हो बेटा? जाओ।'

न जाने क्यों उनके आश्वासन से मुझे और भी रोना आ गया।

वे मुझे लेकर कमरे में आ गए और मुझसे सो जाने का आग्रह करने लगे।

मैं लेट तो गया किन्तु नीद किसी तरह नहीं आ रही थी। मुझे लग रहा था शायद बहन अब न बचेगी। मुझे कभी उसके साथ लड़ने का दुःख होता, कभी अपने को धिक्कारता, क्यों मैंने उसे इतना तग किया। इसी बीच में जब आँखें खुली तो मझले चाचाजी तथा चाचीजी की आवाज सुनाई दी। एकदम उठकर कमरे की तरफ झाँककर देखा तो उस कमरे के बजाय नीचे बहुत सी आवाजें सुन पड़ीं। मैं ऊपर से नीचे देखा तो गौरी को जमीन पर लिटा रखा था। मैं जल्दी ही नीचे उतर गया और जाकर एक कोने में खड़ा हो गया। उसे उस अवस्था में देखकर कुछ भी न समझ पाया कि आखिर उसे नीचे क्यों लाया गया है? पिताजी ने मुझे देखा तो ऊपर जाकर सो रहने को कहा। इसके साथ ही चाची वहाँ उठकर ऊपर आ गई और मुझे छाती से चिपटाकर खाट पर लिटा दिया और आप भी पास ही बैठ गईं। मैं बिलकुल गुमसुम हो रहा था। मुझे ऐसा लग रहा था न जाने घर में चुपचाप यह सब क्या हो रहा है? और जब मैं उधर जाता हूँ तो मुझे हटा दिया जाता है। मुझसे लेटा न गया और मैं उठकर बैठ गया। थोड़ी देर बाद ही नीचे नमः शिवाय, नमो भगवती वासुदेवाय, बोलने की आवाज़ सुनाई दी। इसके

साथ ही कुछ माँ के सुसकने की भी। चाची उठकर एकदम मेरे पास से चली गई मैं फिर ऊपर छज्जे से नीचे का दृश्य देखने लगा। मैंने देखा बहन आँखे मीचे लेटी है। उसका शरीर बिलकुल फीका हो गया है। थोडी देर मैंने देखा कि वह हिली और उसने जोर से एक हिचकी ली। इससे उसका सारा शरीर काँप उठा था, और वह शान्त हो गई। घर में कुहराम मच गया। सब रोने लगे। पिताजी और चाचाजी निस्तब्ध बैठे थे। चाची, माँ तथा और दो एक स्त्रियाँ रोने लगीं। मुझे अचानक चाचाजी ने देखा तो वे फिर सो जाने के लिए कहने ऊपर आए।

मैंने पूछा—'बहन को क्या हुआ?'

'कुछ नहीं, तू सो जा! जा?' चाचाजी ने कहा।

मैंने कहा—'मुझे नींद नहीं आती। चाचाजी, सच बताइये गौरी बहन को क्या हुआ?' मैं निहोरे के ढग से पूछने लगा।

'वह मर गई है? आओ, तुम बैठक में मेरे पास लेटना।' इतना कहकर वे मुझे नीचे बैठक में ले गए।

मेरे कानों में 'मर गई' शब्द की ध्वनि बार-बार गूँजने लगी। मर गई! मर कैसे जाते हैं? क्या अब वह बोल नहीं सकती? क्यों नहीं बोल सकती? यह अन्तिम वाक्य मैं इतने जोर से कह गया कि चाचाजी ने, जो पास ही बैठे थे, सुना। 'क्या कहता है रे? सो जा' इतना कहकर अपनी चादर का आधा भाग मेरे ऊपर डाल दिया किन्तु मेरी तो जैसे नींद उड गई हो। आँखे फाड़-फाडकर बैठक के चारों ओर देखता। बहन के उस तरह पड़े रहने का सारा दृश्य मेरी आँखों में झूम रहा था। रोने के नाम आँख में एक भी बूँद नहीं थी। बाहर चाची, माँ तथा पड़ोस की दो-तीन स्त्रियाँ धीरे-धीरे रो रही थीं। पिताजी उन्हें चुप करा रहे थे। दो-एक बार उन्होंने रोने पर डाट भी दिया था। छकिया ऊपर छोटी बहन के पास चला गया था। पिताजी बैठक में आकर तकिये के सहारे बैठ गए थे। चार-पाँच स्त्रियाँ भी वहाँ रह गई थीं। मुझे नहीं मालूम, मैं कब सो गया। जब सबेरे उठा तो वही रात का दृश्य सामने था। मेरी छोटी बहन को बाहर भेज दिया गया था। घर में रोना-धोना चल रहा था। पिताजी तथा चाचाजी चुप बैठे थे।

भूत के संबंध में छानबीन हम कर चुके थे। गाँव के बाहर हेमू के साथ

पीपल के पेड़ पर भूत ढूँढने जाते थे। लोगो के कहने-सुनने से उत्सुकता भी हममें आवश्यकता से अधिक बढ गई थी। कभी-कभी अँधेरी रात में किसी आदमी को कम्मल ओढ़े देखकर भी कई बार मैंने उसके भूत होने की कल्पना की थी। भूत के पैर उल्टे होते हैं, हाथ भी टेढ़े-मेढे और बडे-बडे होते हैं, यह भी सुन रखा था। कभी-कभी गॉव में गगा के किनारे जो मुर्दे जलाने को लाए जाते थे, वह दृश्य भी देखा था। एक बार की बात मुझे याद है कि दिन के दस बजे का समय था, मैं हेमू आदि कुछ मित्रों के साथ गगा स्नान करने गया। गगा मे बाढ आ गई थी, पानी किनारों को काटकर ऊपर तक आ गया था और किनारे के कुछ वृक्ष बह गये थे किन्तु एक वृक्ष न जाने कैसे प्रवाह मे आकर किनारे पर रुक गया था। उसके चारों ओर अथाह पानी लहरा रहा था, उन दिनों हम लोगों का नियम था कि रोज तैरकर उस वृक्ष की शाखा पकड़ते और ऊपर जल की सतह से उठी हुई एक डाल पर चढकर वहाँ से कूदते। हॉ, तो उस दिन जैसे ही हम सब तैरकर आधे में पहुँचे कि हेमू ने चिल्लाकर कहा—शाखा से कोई आदमी उलझा हुआ है। आदमी का नाम सुनते ही कुछ उत्सुकता और भय हुआ। मैं और मेरे दो साथियों ने निश्चय किया कि लौट चला जाय और हम सब वापिस लौटकर किनारे पर आ गये। हेमू शाखा पर चढ चुका था, हिम्मत उसकी भी जाती रही थी कि उस मुर्दे की लाश के पास से तैरकर वापिस आता।

इतने में एक और बड़ा लड़का वहॉ नहाने आ गया। उसने सब हाल सुनकर हमें साहस दिलाया कि लाश से डरने की कोई बात नहीं है। इतना कहने के साथ ही वह गंगाजी में कूद पड़ा और वृक्ष से रुकी हुई लाश के पास जा पहुँचा। उसे किनारे पर घसीट लाया। हमने देखा कि वह मुर्दा बहुत ही विकृत हो गया था। सिर के बाल, हाथ, टॉगे कुतरी हुई थीं। बीच-बीच में उसके अग भयानक बेडौल हो गए थे तथा वह काफी फूला हुआ था। जीवन मे वह पहला ही अवसर था कि मैंने ऐसी लाश देखी थी। उसे देखकर मुझे बहुत डर लगा। थोड़ी देर बाद उस लडके ने लाश को बहा दिया। मेरा सारा उत्साह जाता रहा। मार्ग में—घर मे मुझे उसका वह भयानक रूप न भूला। रात को सोते हुए मेरी आँखों के सामने वही दृश्य रहा। जब मॉ को यह कहानी सुनाई तो वे बहुत घबराई और उन्होंने मेरा अकेले गंगा-

स्नान करना बन्द कर दिया। थोड़े दिनों बाद मैं फिर सब डर-वर भूल गया और नए सिरे से भूत के ढूँढने में लग गया। परन्तु मृत्यु को मैंने इतने निकट से कभी नहीं देखा था। इसलिए मृत्यु के रहस्य को समझने के लिए मैं व्यग्र हो उठा। मेरी बहन सामने दालान में पडी थी, केवल उसका मुँह खुला था। शान्त वह लेटी थी। रंग उसका बहुत पीला और डरावना हो गया था। मेरे मन में बार-बार विचार उठता—'अभी कल तक यह बोलती थी और आज क्या हो गया? कौन-सी चीज ऐसी है, जो इसके पास नहीं रही।' मुझे भी पड़ौस के एक घर में भेज दिया गया था। किन्तु उसकी मृत्यु के साथ मेरी विचार धारा अविच्छिन्न रूप से चल रही थी। 'यह मृत्यु क्या है? आखिर यह समझ उसकी कहाँ चली जाती हैं, क्या मुझे भी एक दिन मरना होगा।' फिर सोचता—'यदि मैं कभी मरा तो अवश्य लोगों को बताऊँगा कि कहाँ जा रहा हूँ? मैं क्या देख रहा हूँ।' आदि आदि मैं सोच रहा था। सब लोग बहन को ले गए थे और चार-पाँच घण्टे में उसे आन्तसागर किनारे जलाकर चले भी आए। औरों की मैं नहीं कहता, क्योंकि दूसरे दिन ही सब लोग फिर जैसे के तैसे हो गए थे केवल माँ बार-बार रोतीं। किन्तु मुझे तो बहन की वह सूरत किसी तरह भूलती ही नहीं थी। सोते-जागते, उठते-बैठते, नीचे जाते ही उसका चेहरा रह-रहकर मेरे सामने आता। कभी मालूम होता झुटपटे में जीने से ऊपर चढते-चढते वह मेरे पीछे आ रही है और मुझे पकडना चाहती है। फिर मैं एकदम जीने में खडे होकर पीछे की ओर देखता। कभी रात को ज्ञात होता वह मेरी खाट पर आकर बैठ गई है। आखिर वह गई कहाँ? क्या अब वह कभी नहीं आ सकती। क्या वह हमको याद भी नहीं करती। क्या इतनी जल्दी वह भूल गई जब हम उसे याद करते हैं तो वह अवश्य हमें भी याद करती होगी। फिर वह आकर कहती क्यों नहीं है। फिर सोचता—जब उसका शरीर ही जला दिया गया है तब वह बोलेगी कैसे? बिना मुँह के बोलना भी तो सभव नहीं है।

एक दिन मैं स्कूल से लौटा तो माँ कमरे में बैठी रो रही थीं। मैं अब कुछ-कुछ भूल चला था पर माँ को रोती देख मुझे फिर सब बातें याद आ गईं। मैं बस्ता पटककर माँ के पास बैठ गया और उनके घुटने से लगकर चुप हो रहा। जब वे रोती-रोती चुप हुईं तो मैंने उनसे पूछा—

'माँ, बताओ गौरी बहन कहाँ चली गई।'

'मर गई भैया क्या कहूँ। बड़ी अच्छी लड़की थी।'

'मरना किसे कहते हैं?'

'मरकर आदमी दूसरे लोक को चला जाता है।'

'दूसरा लोक कहाँ है?'

'राम के पास।'

'राम कहाँ रहते हैं?'

'ऊपर।'

'ऊपर कहाँ?'

'स्वर्ग में।'

'स्वर्ग कहाँ है, क्या हम लोग नहीं जा सकते?'

'जीते जी कोई नहीं जा सकता।'

'स्वर्ग में क्या है?'

'मुझे नहीं मालूम। जा, तुझे क्या! बच्चों को ऐसी बातें नहीं पूछनी चाहिए।'

'नहीं, माँ! मुझे बताओ। मुझे दिन-रात यही जानने की इच्छा रहती है।'

'तू पागल है! यह बातें भला कौन जान सकता है?'

'क्या कोई भी नहीं जानता?'

'कोई भी नहीं! जीते जी कोई भी नहीं जान सकता।'

'बड़े-बड़े आदमी भी नहीं।'

'नहीं! तू जानकर क्या करेगा?'

'बाबूजी भी नहीं।'

'उन्हीं से पूछ! मैं कुछ नहीं जानती।', कहकर उन्होंने मेरा सिर घुटनों से हटा दिया और उठकर चली गई।

मैं जहाँ का तहाँ ही रहा। मुझे कुछ भी न मालूम हो सका। किन्तु जिज्ञासा इतनी प्रबल थी कि मैं अपने पंडितजी से पूछ बैठा। उन्होंने एक दिन श्रेणी में पहले तो टाल दिया अन्त में मेरे आग्रह को देखकर बोले—

'जन्म और मृत्यु ये दो बातें हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं जान सकता। मनुष्य की शक्तियाँ सीमित हैं, वह जो बीत रहा है, उसे रोक नहीं सकता। जो आगे आनेवाला है, उसे देख नहीं सकता। वह केवल जो हो रहा है, उसे ही जान सकता है। यह

सब बातें उसकी समझ के बाहर हैं। तुम बड़े होकर भी नहीं जान सकते। कोई भी नहीं जान सकता। यही हम लोगों की हार है।'

'तो क्या कोई भी नहीं जान सकता ?'

'नहीं !' पण्डितजी बोले।

'फिर भी पूछना चाहता हूँ, मेरी बहन कहाँ गई ?'

'ये बहुत गहरी बातें हैं, तुम समझ भी नहीं सकते।'

मैं चुप हो रहा। मुझे व्यग्र और उदास देखकर पंडितजी फिर बोले—'बच्चा यह तुम्हारे बूते का रोग नहीं है। तुम बच्चे हो ! इन बातों में क्या रखा है। यह तो अँधेरे में देखने की तरह निष्फल है। तुम्हारा काम है पढना। जब बड़े हो जाओ तब इन बातों पर विचार करना।'

'आप इतने बडे पंडित हैं, आपकी यह समझ में नहीं आता।'

पंडित जी मेरी यह बात सुनकर न जाने क्यों चुप रह गए ? उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। किन्तु मैं तो ऐसे सोच रहा था जैसे इस प्रश्न की थाह ही पाकर छोड़ूँगा। मेरे जीवन में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन हो गया। मुझे रह-रह कर यही याद आता आखिर मृत्यु है क्या और एक दिन मैंने पिता जी से पूछा। उन्होंने भी टाल दिया। बल्कि उसके साथ ही उन्होंने मुझसे कहा कि मास्टर तुम्हारी शिकायत करते हैं। तुम पढते-लिखते नहीं हो। मैं तुम्हारी परीक्षा लूँगा। लाओ किताबें !

'अभी तो याद नहीं है, दो दिन का अवकाश दीजिए।'

'हाँ, दो दिन में सब याद कर डालो।' इसके साथ ही मैं पढाई में लग गया। शाम को वे मुझे बाहर सैर को भी ले जाने लगे। थोडे दिनों बाद परीक्षा का डर तो हट गया किन्तु बहन की मृत्यु के सम्बन्ध में मेरी उत्सुकता बनी रही।

इतवार के दिन पिताजी के पास बाहर के कोई सज्जन आकर बैठ गए। कब से वे बैठे थे यह तो मुझे नहीं मालूम किन्तु जिस समय मैं उन्हे चाय देने गया तब नीचे लिखी बातें उनमे हो रही थी। मैं चुपचाप सुनने लगा। पिताजी कह रहे थे—'हमारे जीवन में ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसके संयोग से यह चमत्कार जीवन में आ गया है ? वैसे तो सब कुछ जैसे जीवन के लिए ही है। प्रत्यक्ष और रहस्य दोनों ही का स्पष्टीकरण जीवन के लिए है। जो जीवित

नहीं है कदाचित् वह कुछ भी नहीं है फिर भी मृत्यु ने जीवन के ऊपर एक भारी घेरा डाल रखा है । उसको चारों तरफ से जकड़े हुए है । जैसे अँधेरे भरे मैदान में एक हल्का सा दीप जल रहा हो । दीप का प्रकाश भूमि की बहुत थोड़ी सीमा को घेरकर उसे प्रकाशित करता है । उस प्रकाश के बाहर क्या है यह वह नहीं जान सकता । ठीक ऐसी ही अवस्था हमारी है । जीवन एक प्रकाश है और मृत्यु अन्धकार । अंधकार और प्रकाश एक दूसरे के विरोधी हैं, किन्तु दोनों का अस्तित्व कैसा है कितना उनमें साम्य है और कितना वैसाम्य । इस संपूर्ण जगत के अणु-परमाणु में जो गति हुई है, वही जीवन है । किन्तु प्रश्न यह है क्या वह गति स्वाभाविक है ? जो जिस वस्तु का स्वभाव होता है, वह उससे विरुद्ध नहीं होता और देखते हम दोनो ही हैं सश्लेषण और विश्लेषण दोनों ही । मिलन और पृथकता दोनों ही । इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि जैसे मनुष्य में गति स्थिरता दोनों ही हैं, वैसे ही जगत् मे गति है और समय पाकर वही विगति ।

'किन्तु जीवन में तो स्थिरता नहीं है । क्या कभी मनुष्य साँस लेना बन्द कर देता है ? स्थिरता तो उसकी मृत्यु है ।' वे सज्जन बोले ।

'हाँ यह ठीक है किन्तु मेरा आशय गति-विगति से केवल दो विरोधी तत्वों को दिखाना भर है । जीवन के जिन प्रकारों से वह प्रकट होता है, उन्हीं के आधार पर कह सकता हूँ कि जीवन मे जैसे दो विरोधी तत्व हैं, उसी प्रकार क्या हमारे जीवन में सत्य-असत्य, कटुता, मृदुलता, क्रोध-शक्ति दोनों नही हैं ? वातावरण से वे दोनों उत्पन्न और शान्त हो जाते हैं । क्रिया और उसकी प्रति-क्रिया दोनों से हमारे जीवन की गति पुष्ट होती है ।'

'तो क्या आप यह कहते हैं, मरना स्वाभाविक है ?'

'जी, मरना स्वाभाविक है । स्वाभाविक न होता तो कभी-कभी मनुष्य अनन्त काल तक जीता रहता, पर ऐसा नहीं होता है । मृत्यु की विकृति ही जीवन है । जब अन्धकार में विकार होता है—सघर्ष होता है, तब उसमें जीवन आता है । विकार भी स्थायी नही होता । इसलिए जीवन के प्रति मोह को ऋषि-मुनियों ने मिथ्या कहा है, भ्रान्ति कहा है ।'

और भी बहुत सी बाते पिताजी इतनी गहराई से कह रहे थे कि मैं उन्हे समझ नही पा रहा था । मुझे एक समाधान मिल गया कि जीवन एक विकार

है। विकार कभी स्थायी नहीं होता। एक बात उन्होंने और कही जो मुझे अभी तक याद है, वह यह है कि—स्वर्ग नरक कोई वस्तु नहीं है। यह भी जीवन की सुख-दुख की कल्पना है। हमारे भले और बुरे कामों का रूप सूक्ष्म बनकर हृदय पर, मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालता रहता है। जब उनके कृतित्व का विकास होता है तब हम सुख-दुख की अनुभूति करते हैं। वह अनुभूति ही नरक और स्वर्ग बनकर हमारे सामने आती है। बाह्य जीवन का अभाव आत्मा की सहिष्णुता पर निर्भर है। यह ठीक है अभावों की प्राप्ति होती है और अभाव प्रत्यक्ष है किन्तु भावाभाव तो हमारा विश्वास है। स्थूल और सूक्ष्म रूप से ससार को दो प्रकार की वस्तुएँ प्राप्त हैं। एक वे स्थूल हैं, जिनसे हमारा जीवन आगे बढता है। वे वस्तुएँ प्राप्त कर उनसे स्थूल शक्ति पाकर आत्मा सूक्ष्म की तरफ चलता है। बस, उन्हीं से हमारे जीवन में उत्थान और पतन की सीढी तैयार होती है।

'तो आप ईश्वर में विश्वास नही करते? इन बातों से तो मालूम होता है जैसे आप सब कुछ स्वयं सभूत मानते हैं।'

उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा—'इस प्रश्न का उत्तर मैं नही देना चाहता।'

'क्यों? मैं चाहता हूँ आप की बातें सुनूँ और सुनता ही रहूँ। ये बातें बहुत गहरी और शक्ति देनेवाली हैं। क्या आप इन पर कभी-कभी विचार करते रहते हैं?'

पिताजी कुछ सोचकर बोले—'सोचता तो मैं बहुत हूँ किन्तु इन बातों पर विचार करने पर भी किसी निष्कर्ष पर पहुँचना सभव नहीं है। यही तो रहस्य है।'

'तो इस रहस्य का कभी उद्घाटन न होगा।'

'कदाचित् नहीं। कदाचित् योगियों को यह सभव हो। साधारण मनुष्य के लिए तो यह पहेली रहेगी।'

'किन्तु मनुष्य सोचने-समझने में तो उन्नति कर रहा है न? ऐसा तो आप मानेंगे ही।'

'जड़वाद की ओर उसकी उन्नति अवश्य है।'

'तो क्या हम जड से चेतन की ओर नहीं जा सकते। यही तो ठीक

उपाय है अंत तक पहुँचने का। मैं समझता हूँ यही प्रोसेस है मनुष्य के बढने का।'

'किन्तु उससे बीच में मनुष्य का विनाश भी तो संभव है।'

'विनाश में फिर उठने का भी तो निर्देश हो सकता है। इसी तरह गिरते-पड़ते, रुकते-चलते हम ध्येय पर पहुँचेंगे। हमारे भारतीय दृष्टिकोण से व्यक्तित्व को प्रधानता दी जाती रही है। समाज को लेकर चलने के लिए हमको साइन्स का सहारा लेना होगा। समाज के विकास से ही मनुष्य-जाति का कल्याण हो सकता है।'

इतने में बडे जोर से बूट खटखटाते नलिन बाबू अपनी लड़की सुधी को लेकर घर में घुसे और आते ही उन्होंने एक नए हास मिश्रित स्वर मे कहा—

'देखता हूँ यह घर आश्रम होता जा रहा है। जप-तप, पाठ-पूजा के सिवाय यहाँ कोई काम ही नही है। और अच्छा तो यह है कि सब लोग गेरुए कपड़े रँगकर यहीं आ बैठे।' बैठक मे आते बोले—'ओहो! आप हैं विद्वन्वराग्रगण्य स्वामीजी? क्षमा कीजिए आपको स्वामी कहलाने मे कोई आपत्ति तो नहीं है?'

'पत्नी होते किसी को स्वामी कहलाने मे क्या आपत्ति हो सकती है, नलिन बाबू?' माँगीरामजी बोले।

'किन्तु आजकल तो पत्नी मर जाने पर ही लोग स्वामी होते हैं।' इसके साथ ही जोर का अट्टहास किया। जिससे मालूम हुआ कि घर में कोई विशेष व्यक्ति आ गया है।

उसके साथ ही पिताजी से बोले—'अरे भाई, मालूम होता है स्नान-ध्यान नहीं हुआ है।' मुक्ति तो केवल तुम्हारे लिए ही विधाता ने लिख रखी है। हम तो नरक में ही भले।'

'मैं तो भोजन भी कर चुका हूँ नलिन बाबू! तुम्हारी तरह ६ बजे सोकर उठने वाला तो हूँ नहीं।'

'तो जीवन में है ही क्या? खाना और सोना। यह भी न किया तो होगया बस! ये सब तुम्हारी 'रे रैं घिस घिस' मुझे आती नहीं है। मैं तो इन्हें व्यर्थ समझता हूँ। कही भी कुछ नही है। कहिए स्वामी जी! प्रसन्न तो हैं?'

'तो आप जीवन किसे कहते हैं?' स्वामी जी बोले।

'बस-बस, यह जीवन ईवन का पचडा छोडिए। मैं तंग आया बाबा इन बातों से।'

'अरी सुधी! जा ऊपर से पान वान ला! क्या नहूसियत फैला रखी है? इधर-उधर देखकर मालूम होता है ऊपर चली गई।' उन्होंने जैसे ही मेरी ओर देखा मैं पान लेने ऊपर चला आया।

थोडी देर बाद ही पिताजी बाहर की तैयारी करने लगे।

६

नलिन बाबू मजेदार आदमी हैं। हमारी-गली मे ही रहते हैं। अभी एक मास हुए आगरे से उनकी तबदीली पिताजी के दफ्तर मे हुई है। आगरे में पिताजी की ससुराल तथा वहीं अध्ययन करने के कारण वे बहुत दिनों तक आगरे ही में रहे हैं। अब भी कभी-कभी आगरे जाकर रहते हैं। इसके अतिरिक्त पिताजी की सोसाइटी में प्रायः वे ही लोग हैं जो उधर के रहनेवाले हैं। न जाने क्यों भारत के प्रत्येक प्रान्त में आचार-विचार मे इतना भेद पड़ गया है कि एक प्रान्त का व्यक्ति दूसरे प्रान्त के आदमी से पूरी तरह मिल-जुल नहीं पाता। मित्रता होते हुए भी उनके अन्तरंग में कुछ ऐसा रह जाता है जो मेलजोल नहीं खाता। हाँ, नलिन बाबू ने बड़ी बेतकल्लुफी के साथ आते ही पहले हमारे घर में डेरा डाला। लगभग एक सप्ताह तक वे यहाँ रहे। यहीं उनका खाना-पीना होता रहा फिर पिताजी की सलाह से उन्होंने गली के मोड़ पर एक मकान ले लिया। एक ही प्रान्त के होने तथा साफ हृदय के कारण उन्होंने आते ही अपने खाने-पीने-रहने में भी वैसी ही उदारता दिखलाई। आने के पहले दिन ही मेरी माँ को मालूम हो गया कि नलिन बाबू को क्या-क्या खाना पसन्द है। उनकी पत्नी और सुधी भी वैसी ही हँसमुख और सरल हैं। पर्दा तो उनकी स्त्री करती ही नहीं। पान का बीड़ा उनके मुँह में चौबीस घण्टे कोई भी देख सकता है। नलिन बाबू भी पान के बेहद शौक़ीन हैं। इसलिए नलिन बाबू

की पत्नी जहाँ भी बैठतीं पानदान साथ रहता और पान लगाने मे कठिनता से पाँच-सात मिनट का व्यवधान रह पाता। उनके घर में रहने के कारण पिताजी बैठक में सोने लगे थे और पिताजी वाला कमरा उन्हे दे दिया गया था। कमरे मे सुधी तथा छोटी बहन सोती। सुधी ने आते ही मेरी कुर्सी-मेज पर अधिकार कर लिया। अपनी किताबें लाकर उसने मेज पर एक तरफ सजा दीं और जो शीशा रखा था वह हटाकर कानिस पर रख दिया। जूते बाहर कर दिए। खाट एक तरफ कर दी। छकिया रोज जाकर बिस्तर लपेट देता था, उसने बिछाकर उसपर एक चादर डाल दी। मैं जब स्कूल से आया और पराधिकार का यह रूप देखा तो मुझे असह्य हो गया। मैं बस्ता रखकर भुनभुना ही रहा था कि सुधी एकदम कमरे में आ गयी और बोली—

'देखो, अजय! मैंने तुम्हारा कमरा कैसा ठीक कर दिया है। तुम तो गाँव से आए हो। तुम्हारा नौकर भी अनाड़ी है। देखो, अब ठीक मालूम होता है न? मैं भी रात को तुम्हारे साथ बैठकर पढ़ा करूँगी। अपना बस्ता वहाँ की बजाय इस जगह रखो।' ऐसा कहकर उसने बस्ता उठाया और उसमें से एक-एक किताब निकालकर मेज पर सजा दीं और मेरे उतारे हुए जूते बाहर रख आई। कोट जो खाट पर मैंने उतारकर फेंक दिया था, उठाकर खूँटी पर टाँग दिया। इस अनाहत शासन से मैं जलभुन गया किन्तु वह कमरे में जो इधर-उधर देखती उसे ठीक करने लगती। मेरी अलमारी में कुछ किताबें इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। उसने उन्हें ठीक करके आधे पर अपना अधिकार कर लिया था। कुछ सीने-पिरोने का सामान उसमें रख दिया था और अपना एक छोटा-सा संदूक लाकर भी मेरी खाट के सिरहाने डटा दिया था। अब वह मेरी ओर देखे बिना अपना सदूक़ खोलकर कपडे सजा रही थी। मुझे बहुत ही क्रोध आ रहा था और मैं एकदम माँ के पास जाकर उसकी शिकायत करने ही वाला था कि माँ स्वय वहाँ आ गई और कमरा देखकर बोली—'अरे सुधी तो बडी चतुर लडकी है। एक दिन मे ही कमरे की शक्ल निकल आई।' फिर मेरी ओर सम्बोधन कर बोली—'देख, अजय! तेरी एक बहन और आ गई। बड़ी अच्छी लडकी है। इतना कहने के साथ ही उनकी आँखों में आँसू छलछला आए। मैं जो कुछ कहना चाहता था वह भीतर का भीतर ही रह गया और वे नलिन बाबू की पत्नी के साथ उलटे पाँव बाहर लौट गईं। सुधी का उपद्रव यही तक रहा हो

सो बात नहीं, वह मुझे बात-बात पर डाँटने लगी। मैं दूध का गिलास पीकर नीचे रख देता तो कहती—'बडे गँवार हो जी तुम अजय !' और छकिया को पुकारकर उसे उठा ले जाने को कहती। पढने के समय मैं जोर से पढ़ता तो फटकारकर कहती—'धीरे पढ़ो, तुम्हे पढना नहीं आता।' इधर माँ ने मुझे कई बार एकान्त में ले जाकर समझाया—'थोड़े दिन की मेहमान है सुधी! लड़ना मत, भला !'

मैं चुपचाप उसकी बातें सुनता। उसी रात को मैं जान-बूझकर रजाई उलटी कर सोने लगा तो बोली—'सचमुच तुम गँवार हो! अजय तुम्हे रजाई ओढना भी नहीं आता।' मैं जला तो बैठा ही था, एकदम उबल पड़ा।

'खबरदार तू मेरे बीच में बोली। उठा ले जा अपने कपडे मेरे कमरे से नहीं तो फेंक दूँगा बाहर। बडी शहर वाली आई।'

'तो तुम ठीक तरह क्यों नहीं रहते ?'

'नहीं रहता जा! मान न मान मैं तेरा मेहमान। याद रख इस बार मेरी कोई चीज छुई तो गला घोंट दूँगा।' इतना कहकर मैं उल्टी रजाई किए ही सो गया। मैंने देखा वह खड़ी-खड़ी सुसुक रही है। मुझे भीतर से बड़ी प्रसन्नता हो रही थी। सवेरे उठने पर मालूम हुआ कि सुधी रात को मेरे कमरे में न सोकर माँ के पास सोई थी।

दूसरे दिन माँ ने सुधी को मेरे कमरे में लाकर मुझे और उसे काफी समझाया और मेल करा दिया। फिर हम दोनों एक ही कमरे में रहने लगे। अब वह मुझे डाटती नहीं थी। किन्तु प्यार से बातचीत करती। मेरा मान भी करती। एक बार रात को मेरी आँख खुली तो मुझे मालूम हुआ, कोई मेरी खाट पर सो रहा है। मैंने हाथ फेरकर देखा तो मालूम हुआ सुधी मेरी खाट पर सो रही है। मैंने उसी समय उसे उठाकर उसकी खाट पर भेज दिया। इधर नलिन बाबू प्रतिदिन दफ्तर से आकर भाँग छानते और जहाँ कहीं भी बैठते, बोलते और हँसते ही रहते। शाम को भोजन करते समय ऐसी बातें छेड़ते कि हँसते-हँसते सब लोट-पोट हो जाते। मेरी माँ को वे आते ही भाभी कहने लगे थे। माँ ने उनसे कहा—'मैं आगरे के नाते तुम्हारी बहन हूँ!'

बोले—'सो तो ठीक है पर आगरे में मेरी सुसराल भी है। इसके अलावा हमारे भाई के तुम्हारे पति मित्र हैं। इसलिए मुझे भाभी ही कहना पसन्द है। सबध ऐसा होना चाहिए जिसने मनुष्य प्रसन्न रह सके।'

माँ हँसकर चुप हो गईं।

नलिन बाबू बोले—'यह तो निभा सकने की बात है। भाभी के रिश्ते में जीवन है। बहन के सम्बन्ध में केवल पवित्रता है। पवित्रता से मनुष्य का रस नष्ट हो जाता है। रस के नाश का नाम मृत्यु है। वह स्वर्ग की चीज़ नहीं है। भाभी इसी लोक की।'

'सीता और लक्ष्मण की तरह।' माँ ने रुककर कहा।

'द्रौपदी और दुर्योधन की तरह भी और आज-कल के भाभी-देवर की तरह ही क्यों नहीं कहती ?'

'खाना भी खाओगे या बातें ही करते रहोगे। इनसे तो कोई बातें सुनता जाय। जबान ही नहीं थकती।' साथ ही बैठी नलिन बाबू की पत्नी बोलीं।

'तुम्हारा भी तो पान खाते मुँह नहीं थकता। दो न थकनेवाले मनुष्य हवा के झोंके की तरह आकर मिल गए हैं। कहतीं क्यों नहीं ! भाभी, मैं इनके गुणों पर मुग्ध हूँ। न जाने क्या जादू कर दिया है इन्होंने लेकिन रंग धीरे-धीरे ढल रहा है।'

'तुम पर तो शायद हर रोज जवानी चढ रही है।' उनकी पत्नी घूरकर बोलीं। इतने में पिताजी सध्या करके रसोई घर में आ गए।

हम सब चुपचाप खाना खाने लगे। उनकी पत्नी सरककर बाहर निकल गईं।

फिर बोले—'भाई साहब, भाभी के हाथ का स्वादिष्ट भोजन करके इच्छा होती है यहीं रहूँ। क्या सलाह है ?'

'सलाह बुरी नहीं है, सिर मजबूत चाहिए।'

नलिन बाबू जो इतनी देर से बोल रहे थे। चुप हो गए। फिर बोले—'दूसरे जन्म में दो सिर कटवाकर लाने का इरादा है।'

'कौन जाने फिर भी दोनों की खैर न रहे फिर तीसरे की फरमायश होगी। इसलिए एक ही ठीक है।' पिताजी ने हँसकर जवाब दिया। नलिन बाबू चुप-चाप भोजन समाप्त करके उठ गए।

उसके दूसरे दिन ही नलिन बाबू ने मकान किराये पर ले लिया।

जब हम लोग शाम की सैर को निकले तो नलिन बाबू, पिताजी और उनके

एक मित्र भी साथ थे, मैं और सुधी भी। पिता जी मित्रों के साथ आन्तसागर के किनारे एक बारहदरी में जाकर बैठ गये। हम दोनों यहाँ से हटकर संगमरमर की एक चौकी पर जा बैठे। कभी बैठ जाते, कभी पानी के पास जाकर खडे हो जाते। सामने अस्ताचलगामी सूर्य की लाल-लाल किरणें पानी पर पड़ रही थीं। इससे पानी में कई रग चमकते दिखाई दे रहे थे। वायु की तेजी से लहरों का वह रग-नृत्य बड़ा सुन्दर दिखाई दे रहा था। बहुत देर इसी तरह हम दोनों देखते रहे। हमसे कुछ दूर पर एक दम्पति आन्तसागर की शोभा देख रहे थे। दोनों जवान, सुन्दर, देखने में मारवाड़ी से दिखाई देते थे। सुधी उनकी तरफ ही देख रही थी। मैं जलाशय की शोभा में डूब रहा था। इतने में सुधी मुझसे सटकर खड़ी हो गई। उसने मेरे गले में हाथ डाल लिया। मैंने उसकी तरफ देखकर उसका हाथ झटक दिया और फिर उधर ही देखने लगा। धीरे-धीरे सुधी ने कहा—'अजय, देखो वे क्या कर रहे हैं ?'

मैंने उधर से मुँह न मोड कर कहा—'मुझे यह दृश्य बडा सुहावना दिखाई दे रहा है। सुधी ! यदि गर्मियों के दिन होते तो मैं अवश्य यहाँ तैरता।'

'तो तुम तैरना जानते हो ?' सुधी ने पूछा।

'हाँ, मैं बहुत दूर तक तैर सकता हूँ। अब भी यदि पिताजी का डर न होता तो तैरकर तुम्हें दिखाता सुधी।'

'नहीं, मैं तुम्हें कभी न तैरने देती। डूब जाते तो।'

मैंने उसे गाँव की गगा जी में तैरने की कई कहानियाँ सुना दीं और यह भी बताया कि गगाजी के तैरनेवाले के सामने यह तैरना कुछ भी कठिन नहीं है। एक बार मैं गगा जी में डूब गया था, यह कथा भी उसे सुनाई। किन्तु मैंने देखा कि उसका ध्यान नव-दम्पति की ओर ही लगा है। अचानक हमने देखा कि वे दोनों एक झाडी के पीछे चले गए हैं। सुधी मुझसे उनके पीछे चलने का आग्रह करने लगी। मैं उसके पीछे हो लिया। उस समय कुछ-कुछ झुट पुटा हो गया था। इसलिए साफ तो दिखाई नहीं देता था पर सुधी की उत्सुकता बढती जा रही थी और वह मुझे छोड़ कर उनके पास झाड़ी के पीछे छिपकर खडी हो गई और वहाँ से दबे पैरों दौडकर मुझे बुलाने आई। जिस समय हम लोग पहुँचे तब तक वे दोनों वहाँ से निकल रहे थे। उनके मुँह से हमने केवल एक बात सुनी—

वह युवती कह रही थी—'ये दोनों बहुत नटखट मालूम होते हैं।' और इसके साथ ही वे दोनों चले गए। हमें भी पिताजी ने बुला लिया। मार्ग में मुझसे सुधी ने पूछा—'अजय, तुमने कभी मुँह चूमा है, बड़ा अच्छा लगता है। वे दोनो झाड़ी में यही कर रहे थे।' मैंने कहा—'हट! कोई सुन लेगा तो।'

'पर मैं तो उनकी बात सुना रही हूँ पगले।' इतना कहकर उसने मेरे गाल पर एक चपत जमा दी और खिलखिलाकर हँसने लगी। सुधी प्रारम्भ से ही मुझे अपने से हेय समझती थी। वह मुझसे बड़ी भी नहीं फिर भी बात-बात मे मुझे डाटती। इस बार मैंने गुस्से में उसके जोर से थप्पड़ मारा और दौड़कर बाबूजी के साथ हो लिया। पीछे मुडकर सुधी की तरफ देखता भी जाता था। मैंने देखा, सुधी उदास हो गई है। मुझे बड़ी प्रसन्नता थी कि मैंने बहुत दिनों बाद कसकर बदला लिया और इस दिग्विजय के साथ ही हम लोग घर पहुँच गए। नलिन बाबू और सुधी पहले ही घर जा चुके थे।

७

हरीश से मेरी मित्रता बहुत कुछ टूट चुकी थी। चोरीवाले दिन से ही मैंने उससे बोलना छोड़ दिया था। वह स्कूल आता तो हम दोनों ही यत्न करते कि सामना न हो जाय। उसने एकाध बार बोलने का यत्न किया तो मैं न बोला। अब मैं सवाल स्वयं ही कुछ निकालने लगा था। इसके साथ ही श्रेणी का एक और लड़का था, जिसके सवाल मैं आवश्यकता पड़ने पर उतार लिया करता था। मेरे उससे न बोलने का एक कारण और भी था, उसने मेरे चोरी करने के दूसरे ही दिन स्कूल के लड़कों को पहले दिन की कथा सुना दी थी। उससे मुझे लड़कों के सामने बहुत लज्जित होना पडा। यद्यपि चिढ़ाने पर मैंने एक लड़के को खूब पीटा। मेरे उस लड़ने ने हरीश का मुँह बन्द कर दिया था। खाली क्लास में एक दिन रिसेस में मैंने बदला लेने के लिए एक लड़के की किताब उठाकर हरीश के बस्ते में रख दी और परिणाम की प्रतीक्षा में बाहर टहलने

लगा। घण्टी बजते ही सब लडके क्लास में आए। मैं जरा देर करके कमरे में आया। हिसाब का घटा था। मास्टर साहब आ चुके थे। जिसकी किताब उठाई गई थी, एकदम उठकर किताब चुराई जाने की सूचना देने मास्टर साहब के पास गया। क्लास में सनसनी फैल गई। मास्टर साहब ने लडकों को अपना-अपना बस्ता देखने को कहा। पर हरीश की ओर मैंने देखा कि वह हिसाब निकालने में तल्लीन है, उसने बस्ता देखा तक नही। आखिर किताब कही न मिलने पर लडकों का बस्ता देखने का आर्डर हुआ और होते-होते वह किताब हरीश के बस्ते में से निकली। हरीश अवाक् होकर मेरी ओर देखने लगा। मैंने निगाह फेर ली। वह खड़ा होकर रोने लगा। 'यह लडका कभी किसी की किताब नहीं चुरा सकता, किसी ने शरारत से इसके बस्ते में किताब रख दी है।' इतना कहकर मास्टर हिसाब कराने लगे।

मास्टर साहब के इतना कहने और हरीश के रोने पर भी छुट्टी के बाद लड़कों ने उसे काफी तंग किया। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि वह सब सुनता रहा, उसने किसी की बात का उत्तर तक नहीं दिया। मुझे बड़ी प्रसन्नता थी कि मैंने हरीश से खूब बदला लिया। असल में मेरे ही सकेत पर लड़के उसको चिढा रहे थे। हरीश के सबध में मैं नहीं जानता कि उसने यह समझा या नहीं! किन्तु दूसरे दिन हरीश नहीं आया, आई उसकी बीमारी की अर्जी। उसी दिन उसके एक पड़ोसी लडके से, जो अर्जी लेकर आया मालूम हुआ कि रात में उसको मार पड़ी थी। सवेरे उसे बुखार आ गया।

जब दो-तीन दिन तक बराबर उसकी बीमारी की अर्जी आती रही तो मैंने समझा, हरीश ने खूब बहाना बताया। उसी दिन तीन बजे के लगभग उसके पिता स्कूल आए। बडे चिन्तित और उदास देख पड़ते थे। पहले वे मुख्याध्यापक के कमरे में गए, वहाँ से वे हमारे गणित के अध्यापक के पास आए। वह हमारा ही घण्टा था। वहाँ आकर उन्होंने सब कथा सुनाई कि हरीश की हालत बड़ी खराब है, वह पिछले दो दिनों से बड़बडा रहा है और बेहोशी में ही बड़बड़ाता है कि मैंने किताब नही उठाई। फिर उन्होंने मास्टर साहब से उस लड़के के सबध में पूछा, जिसकी पुस्तक उठाने का उस पर अभियोग लगाया गया था। लड़के ने कहा—'मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम मैंने आधी छुट्टी के बाद देखा कि पुस्तक मेरे बस्ते में नही है। मैंने मास्टर

साहब से शिकायत की।'

'तुम कह सकते हो किसने तुम्हारी किताब उठाकर हरीश के बस्ते में रक्खी होगी ?' हरीश के पिता ने पूछा।

'मुझे नहीं मालूम !' लड़के ने उत्तर दिया।

'किन्तु मैंने तो मामले को वहीं रफा-दफा करा दिया। मैंने तो कहा था कि हरीश का यह काम नहीं है। फिर बात कैसे बढ़ गई ?' मास्टर साहब ने उत्सुकता से कहा। 'न जाने कैसे यह सब हुआ। बात यह है कि मैंने चोरी की बात सुनकर उसे पीटा भी, बस तभी से उसे बुखार हो गया। वह बडा 'सेन्सेटिव' लड़का है मास्टर साहब। यह जानते हुए भी मैंने गलती से उसे पीटा। अब मैं बड़ा चिन्तित हूँ। डाक्टर दवा दे रहे हैं, फिर भी वह यही बकने लगता है। कभी-कभी रोने लगता है। ज्ञात होता है उसके हृदय पर बड़ा आघात हुआ है।' उस समय मेरी बड़ी विचित्र अवस्था थी। एक तो मुझे डर लग रहा था कि कहीं कोई लडका स्कूल के बाहर उसके साथ किए गए बर्ताव का जिक्र न कर दे। और मैं ही मुखिया न समझा जाऊँ। दूसरे यह कि हरीश के साथ लड़ाई होते हुए भी मैं उसे हृदय से चाहता था। वह बडा भोला लडका था। मैंने कई दूसरे लड़कों से उसके पीछे लड़ाई भी मोल ली थी। हम दोनों बहुत दिनों से साथ-साथ रहते आ रहे थे। कई बार उसने अपने रूमाल से मेरे आँसू पोंछे थे। वे सब बातें मुझे याद आने लगीं और अपनी मूर्खता के लिए मुझे पश्चाताप भी होने लगा। इधर हरीश के पिता मास्टर साहब से ये बातें कर ही रहे थे कि उन्होंने नीचा सिर करके बैठे मुझे पहचान लिया और अपने पास बुलाकर कहने लगे—'अरे अजय ! तुम भी हरीश को देखने नहीं आए। देखो बेटा, तुम्हारा मित्र कितना बीमार हो गया है।' इतना कहते-कहते उनका चेहरा उतर गया और वे मास्टर साहब को हाथ जोडकर चले गए। मैं सीट पर आ बैठा। थोड़ी देर बाद छुट्टी हो गई मैं घर न जाकर सीधा हरीश के घर की ओर चला। पर इधर कई महिनों से मैं उसके घर नहीं गया था, इसलिये मुझे बहुत सकोच भी हो रहा था। मैं गली के मोड़ पर जाकर खड़ा हो गया। आगे बढ़ने को मेरे पैर ही नहीं पड़ते थे। इतने में हरीश का नौकर दामोदर दवाई लेकर उधर से जो निकला तो उसने मुझे देख लिया। वह बोला—

'अरे बाबू, हरीश भैया बहुत बीमार हैं। तुम उन्हे देखने नहीं आए!'

मैं चुप था।

'बोलो, चलो न, चलो! मालूम होता है, अरे तो खडे क्यों हो! आओ न! चलो मेरे साथ चलो।' मैं चुपचाप उसके साथ हो लिया। एक कमरे में हरीश लेटा हुआ था। कदाचित् उस समय उसका बुखार कुछ उतरा था। मैं जाकर दरवाजे के पास खडा हो गया। हरीश की माँ उसकी खाट पर बैठी दवा दे रही थी। मुझे उसने देखकर भी नही देखा और हरीश को दवा पिलाने के बाद उसकी तरफ मुँह किए बैठी रही। मैंने जब हरीश की माँ का यह भाव देखा तो अपने को धिक्कारने लगा। मुझे क्षोभ और ग्लानि हुई। मैं सोच रहा था कि मैं यहाँ आया ही क्यों जब ये लोग मुझसे बोलते भी नहीं हैं तो अवश्य हरीश ने अपनी माँ से मेरी शिकायत कर दी होगी। इसीलिए वह नहीं बोल रही हैं। किन्तु मैं ढीठ बना खडा ही रहा। बात यह थी कि मैं लौटकर जा भी नहीं सकता था। उसके पिता बाहर बैठे थे। उन्होंने मुझे आया जान प्यार भरे शब्दों में कहा था—'हाँ, जाओ देखो हरीश की तबियत खराब है।' यही सोचकर फिर एकदम मैं लौट भी नहीं सकता था। वे ही कहते कि मैं हरीश से बिना मिले लौटा क्यों जा रहा हूँ? तीन-चार मिनट इसी तरह खड़े मुझे हुए होंगे कि हरीश की छोटी बहन दौड़ी हुई मेरे पास आई। और भावी अजय आया है कहकर चिल्लाने लगी। यह सुनकर हरीश ने मेरी तरफ देखा और उसके साथ ही उसकी माँ ने मुझे बुलाया।

'आओ अजय, आओ बेटा!'

हरीश की बहन मेरा हाथ पकडकर खींच ले चली।

मैं चुपचाप हरीश की खाट पर जा बैठा। सचमुच वह इन तीन-चार दिनों में बहुत दुबला हो गया था। वह चुपचाप मुझे देखता रहा। फिर एकदम रोकर कहने लगा—'क्या तुम भी मुझे चोर समझते हो अजय! माँ, अजय से पूछो मैंने किताब नहीं चुराई। वैसे ही किसी लड़के ने मेरा नाम लगा दिया है।' इतना कहकर वह उठ बैठा। मैं चुप था। मुझे हरीश की अवस्था देखकर बहुत लज्जा और क्षोभ हो रहा था। असल में इस चोरी की जड में मेरा हाथ था। मैं सोचकर भी नहीं समझ पा रहा था, किस तरह हरीश को समझाऊँ। माँ उसको समझा रही थीं। अन्त में माँ ने ही मुझसे पूछा कि मैंने हरीश

की सहायता क्यों नही की ?' मैंने जवाब दिया—'मैं नहीं जानता कि यह सब कैसे हुआ ?'

'तुम नहीं जानते, तुम झूठ बोलते हो।' हरीश ने एकदम तड़ककर कहा। और करवट ले ली। मैंने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। मैंने देखा, हरीश फिर फफक-फफककर रो रहा है। माँ फिर उसको समझाने लगी। मैंने एकदम पास जाकर उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'कौन कहता है, तुमने चोरी की ! मास्टर साहब ने भी तो कहा था कि हरीश ऐसा लड़का नहीं है। फिर तुम अपने को चोर क्यों समझते हो ?'

'न भैया तुमने चोरी नहीं की।' इतना कहते हुए माँ ने एक हाथ से अपने आँसू पोंछे और दूसरे हाथ से हरीश के सिर पर हाथ फेरने लगी।

'अच्छा अम्मा, इसी अजय से पूछो कि जब लडके स्कूल के बाद मुझे चिढ़ा रहे थे तो इसने मेरी सहायता क्यों नहीं की ? मैं सदा अजय को अपना मित्र समझता रहा हूँ। यही मुझ पर नाराज़ हो गया है। माँ हूँ-हाँ करतीं न जाने किस काम से बाहर चली गईं। मैंने कहा—'हरीश मुझसे भूल हुई। मुझे क्षमा कर दो।' इन शब्दों को कहते हुए मुझे बड़ी ठेस-सी लग रही थी। फिर भी उसकी अवस्था देखकर मेरे मुँह से अचानक ये शब्द निकल गए।

थोडी देर बैठने के बाद जब मैं जाने लगा तो हरीश बोला—

'तुम मुझसे गुस्सा तो नही हो अजय ?'

'नहीं, तुम अच्छे हो जाओ। अब हम कभी नहीं लड़ेंगे।' इसके साथ ही हरीश ने अपने कोमल दुर्बल हाथों मे मेरा हाथ दबा लिया। मानों उसे बड़ा सुख मिल रहा हो। मैं भी हरीश के प्रति स्नेह से विभोर हो गया। हरीश के संबध में कह चुका हूँ कि वह देखने में जैसा सुन्दर था वैसा ही कोमल हृदय भी। स्कूल के लडके हमेशा हमसे चिढ़ते थे कि हरीश और अजय की मित्रता क्यों है ? जब मैं जाने लगा तो उसने फिर बैठा लिया और माँ से कहा कि अजय को बिना कुछ खिलाए न भेजा जाय। मैंने बार-बार मना किया कि कुछ भी नहीं खाऊँगा। इधर डाक्टर को लेकर उसके पिता अन्दर आए।

डाक्टर ने देखकर कहा—'तबियत ठीक है, घबराने की कोई बात नहीं।' और दवा बताने लगे। मैं चुपचाप अवसर देखकर खिसकने को ही था कि छकिया ऊपर आता दिखाई दिया। मुझे देखते ही उसने रोब के साथ कहा—

'चलो, बाबूजी बुला रहे हैं।' मैं ढूँढते-ढूँढते थक गया हूँ।' इसके साथ ही डाक्टर के जाने के बाद मैं हरीश से मिलकर घर की ओर लौटा। तब से उसकी बीमारी के दिनों में प्रायः उसके घर जाता रहा। एक दिन पिताजी भी मेरे साथ हरीश को देखने आये। कहना न होगा कि हरीश की और मेरी मित्रता फिर दृढ़ हो गई। इधर मेरी पढ़ाई यथावत् चलती रही।

६

अचानक एक दिन सुना कि चाचा जी दुकान के लिए कपड़ा खरीदने बंबई जा रहे हैं। अब तक वे प्रायः अहमदाबाद जाया करते थे और यह भी सुनने में आया कि चाची भी साथ जा रही हैं। दूसरे दिन आकर चाची ने भी यह सूचना स्वयं आकर माँ को दी और मुझसे बम्बई चलने को कहा। बंबई के सम्बन्ध में बहुत दिनों से सुनता आ रहा था कि वह बहुत बड़ा और सुन्दर नगर है। माँ तो बंबई में रह भी चुकी थीं। इसलिए उन्हें तो कोई आकर्षण था नहीं। बंबई के सम्बन्ध में कभी-कभी कथा सुनाती थीं। इससे नगर देखने की मेरी लालसा बड़ी प्रबल होगई। मेरी इच्छा हुई कि मैं भी बंबई देखता। सैर का चाव मुझे सदा से ही रहा है। पिताजी के साथ हरद्वार, काशी, अहमदाबाद, डाकौर जी की यात्रा कर चुका था। बंबई में वे मेरे जन्म से पूर्व काम कर चुके थे। यही कारण है, बंबई मैं नहीं जा सका था। इधर चाची के साथ मेरा सम्बन्ध पहले से अच्छा था। कुछ दिनों से वे मुझे अपने घर बुलाने भी लगी थीं। बड़े प्यार से बातें करतीं। जब मैं जाता तो प्यार में आकर मुझे गोद में बिठा लेतीं। मेरा मुँह भी कभी-कभी चूम लिया करतीं। मैं उस समय अपनी समझ से काफी बड़ा हो गया फिर भी जब वे मुझे मेरे कभी-कभी घर पहुँचने पर खींचकर प्यार से मुँह चूम लेतीं तो मुझे बड़ी लज्जा आती। लेकिन मैं यही सोचकर कि इनके कोई लड़का नहीं है, मुझे ही लड़का समझतीं हैं। मैं भी चाची को आदर की दृष्टि से देखने लगा था।

चाची के संकेत पाते ही मैं माँ से बंबई भेज देने का आग्रह करने लगा। दैवयोग से निकट भविष्य में ही मेरी छुट्टियाँ होनेवाली थीं। कोई रुकावट तो थी नहीं। फिर भी मैंने देखा कि माँ मेरे बंबई जाने से सहमत नहीं हैं। पिताजी के सामने प्रस्ताव आते ही स्वीकार कर लेने पर भी वे न जाने क्यों चाची के साथ मुझे भेजने में हिचक रही थीं। दो-एक दिन घर में यह चर्चा प्रबल रही। मैं जितना ही जाने का आग्रह करता उतना ही वे विरोध करतीं। हठी प्रकृति का होने के नाते उतनी ही मेरी जाने की उत्कटता बढती जाती। मुझे दिन-रात बंबई के स्वप्न आने लगे। एकाध बार मैंने सुना कि माँ और पिताजी में भी इस सम्बन्ध में कहा-सुनी हो गई है।

माँ का आग्रह था कि लड़के को किसी अन्य स्त्री के साथ नहीं भेज सकती। पिताजी कहते थे कि वह अन्य स्त्री कैसे हैं, आखिर चाची और माँ में अन्तर ही क्या हो सकता है? माँ कहतीं, वह जानती है कि उसके कोई सन्तान नहीं है इसलिए उसे भीतर-ही-भीतर लड़के से द्वेष है। मुझे संदेह है कहीं अजय को कुछ कर दे। पिताजी ऐसे विश्वास को मूर्खता समझते थे। अन्त में जाने के दो दिन पूर्व जब चाची माँ से मिलने आई तब माँ को कोई भी बहाना न सूझा और न जाने कैसे उन्होंने मुझे भेजना स्वीकार कर लिया। चलने के दिन उनके हाथ मुझे सौंपते हुए बोलीं—

'मैंने अजय को कभी अपनी आँखों से ओझल नहीं किया है।'

इतना कहकर उन्होंने मेरे सिर प्यार का हाथ फेरते हुए अपने आँसू पोंछ डाले। मैंने जल्दी में पैर छूकर बिदा ली और बाहर खड़ी बग्घी में जा बैठा। पिताजी और माँ के साथ मैं सदा ही दूसरे दर्जे में बैठकर जाता रहा हूँ। इससे जब प्लेटफार्म पर आकर दूसरे दर्जे की गाडी की ओर चला तो चाचाजी तीसरे दर्जे की गाड़ी में बैठने का आदेश करते हुए बोले:—

'हमारा दूसरा दर्जा यही है।' और इसके साथ ही हम लोगों को तीसरे दर्जे की गाड़ी में बिठा दिया। पिताजी स्टेशन तक पहुँचाने आए थे। गाड़ी चलने से पूर्व मैंने उनके चरण छुए और गाड़ी मे आ बैठा। बैठने और लेटने के लिए आमने-सामने की दो छोटी सीटें हमने घेर ली थीं। बिस्तर बिछा दिया गया था। चाची और मैं खिडकी की तरफ बैठे थे। चाचाजी सामने की सीट पर। 'एक्सप्रेस'-गाड़ी होने के कारण गाड़ी बहुत कम ठहरती थी। मैं रेल की

खिड़की से मुँह निकालकर बाहर देखता जा रहा था। चाची कभी खिड़की से बाहर झाँकतीं, कभी चाचा जी से बातें करतीं। किन्तु मुझे रह-रहकर पिशी की याद आ रही थी। मैं सोचता था, क्या अच्छा हो कोई पिशी की तरह लड़की फिर हमारी गाड़ी में आ जाय। और मैं उससे बातें करूँ। मैं सोचता था पिशी न जाने अब कहाँ होगी। न जाने मुझे वह याद भी करती होगी। मैं स्वयं इससे पहले पिशी को भूल सा गया था। इतने में मैंने देखा कि एक स्टेशन से एक स्त्री सिर पर गठरी और एक लड़की को लिए हमारी गाडी में घुसी। उस समय तक भीड़ अधिक हो गई थी और उन दोनों को बैठने की कोई जगह नहीं मिल रही थी। स्त्री समझकर चाचाजी ने अपनी सीट पर उसे बैठने के लिए थोड़ी सी जगह दी। स्त्री गुजरातिन थी पर थी बड़ी बातून। उसने बैठते ही बात चीतकरना प्रारम्भ कर दिया। कभी चाचाजी से कभी चाची से बात करती। वह अहमदाबाद जा रही थी। वहाँ उसका पति किसी मिल में मजदूरी करता था, उसी के पास। लड़की मेरी सीट पर बैठने के लिए बहुत उत्सुक हो रही थी। किन्तु मैली कुचैली और नाक से पानी बहने के कारण मैं स्वय उसे वहाँ बैठने नही देना चाहता था। जब एक बार वह उधर आई तो मैंने झिड़क दिया और पैर फैला लिए।

उस स्त्री ने मुझसे अपनी लड़की को वहाँ बैठने देने के लिए कई बार कहा। किन्तु मैंने एक न सुनी। इस पर वह लड़ने के लिए तैयार हो गई और लड़की ने बैठने के लिए आग्रह करते हुए रोना प्रारम्भ कर दिया। थोडी देर मे उसने विकराल रूप धारण कर लिया।

चाचाजी ने पहले तो उसे समझाया कि वहाँ जगह नहीं है। खाना रखा है। किन्तु उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। वह बराबर बोलती चली जा रही थी—'बड़े आदमी हैं दूसरों को जगह नहीं देते। हमने भी तो किराया दिया है। तू बैठ, देखूँ कैसे रोकते हैं?' इतना कहकर उसने लडकी को पकडकर मेरे और चाची के बीच में धकेल दिया। इधर चाचाजी चुप थे। चाची ने उसे रोका पर वह रुकी नहीं। पहले तो मैं चाचाजी के डर से कुछ न बोला पर जब मैंने देखा कि वह बैठकर पैर पसारनें लगी है। तब मैंने हाथ पकड़कर उसे सीट से उतार दिया और धक्का खाकर वह माँ की गोद में जा गिरी। इतने पर भी जब चाचाजी और चाची कुछ न बोले तब मैंने कहा—'इधर आई तो नीचे फेंक दूँगा।'

टुकड़ों को उठाकर सिर से लगाया और एक तरफ रख दिया। बोले—'अन्न का अपमान नहीं करना चाहिए, अजय।'

किन्तु मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि सिर से लगाने पर अन्न का सत्कार कैसे हो गया, क्या इसमें जान है? क्या इस प्रकार मानापमान को यह टुकड़े समझ सकते हैं?

इसी तरह की उधेड़बुन में लगा मैं न जाने क्या-क्या सोचता चला जा रहा था और धीरे धीरे मुझे झपकी लग गई।

किन्तु फिर मैं रात भर न सोया। इसी तरह जागता और स्टेशन देखता चला जा रहा था। प्रातःकाल सूरत और दो बजे के लगभग कुलावा स्टेशन पर हम लोग उतर पडे। परन्तु बम्बई आने से मीलों पहले उसके पूर्व रूप ने मुझे मुग्ध कर दिया। इतना बडा नगर मैंने अपने जीवन में पहली बार देखा था। आकाश को चूमनेवाले ऊँचे-ऊँचे विशाल भवन, मीलों तक फैली हुई रेल की पटरियाँ। मिनट-मिनट पर आनेवाले स्टेशन दौडती हुई मोटर, बस, लारी की लम्बी कतारें एक नया और मनोरम दृश्य उपस्थित कर रही थीं। बम्बई के पास आते-आते तो ऐसा देख पड रहा था मानों हम लोग बिलकुल नए प्रदेश में आ गए हैं।

६

बम्बई में जो कुछ देखा और सुना उसमें आश्चर्य की मात्रा ही अधिक है। इतना जन-समूह, ऊँचे-ऊँचे मकान, सवारियाँ, नए-नए फैशन के नरनारी चौडी सडकें, ट्राम, मोटरों की धकापेल ऐसा मालूम होता था मानों सब तरफ आदमी ही आदमी हैं। ऊँचे-ऊँचे मकानों की खिडकियों से झाँकते हुए स्त्री पुरुषों, बालकों को देखकर मालूम होता था मानों यहाँ के निवासी आकाश में ऊपर चढ़ते चले जा रहे हैं।

बंबई पहुँचकर सबसे पहला काम यह किया कि हम लोग धर्मशाला में

असबाब रखने के बाद समुद्र स्नान को चले। मेरे लिए तो सभी जगह आश्चर्य था, जब समुद्र के सम्बन्ध में चाचाजी ने बताया कि गंगा-जैसी पचासों नदियों से भी वह बड़ा है, तब मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। रेल से भी समुद्र की खाड़ी का कुछ भाग देखने को मिला था। किन्तु उसके किनारे दीखते थे। मैं सोचता था यह कैसे सभव है कि समुद्र का किनारा ही न हो। बिना दूसरे किनारे के कोई चीज कैसे हो सकती है?

एक तो समुद्र में स्नान करने का चाव, उस पर उसके फाट का तट पाने की उत्सुकता दोनों भावनाओं ने मुझे बहुत लालायित कर दिया था और चौपाटी पहुँचकर जब मैंने समुद्र देखा, उसकी ऊँची-ऊँची पर्वताकार लहरें देखीं तो चौमासे की गगा का प्रवाह बिलकुल तुच्छ मालूम होने लगा। और किनारा तो कहीं दिखाई ही नहीं देता था। पानी ही पानी, पानी ही पानी। इस विशाल समुद्र के सामने हम कितने छोटे हैं। जो कुछ नावें दूर समुद्र की छाती पर तैर रही थीं वे मस्तूल फैलाये एक भुनगे की तरह मालूम होती थीं। पानी का कहीं छोर ही नहीं था। कितना साहस है इन नाववालों का जो इन लहरों से नाव चला रहे हैं और डूबते नहीं हैं। क्या इस पानी की कहीं थाह नहीं है? मैं इतना विस्मित, हर्षोत्फुल्ल और अभिभूत हुआ समुद्र को देख रहा था जैसे इस ससार में समुद्र के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। हमारी पृथ्वी भी इसकी छाती पर एक छोटे से पत्ती की तरह है। न जाने कब डूब जाय और उसका पता भी न लगे। कभी-कभी मैं सोचता रहता था, पानी कहाँ से इकट्ठा हो गया है। भूगोल के मानचित्र सब सामने आ गए। फिर याद आया कि मक्खी के पंख की तरह समुद्र पर हमारी पृथ्वी है। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या और किस तरह सोचूँ। जैसे मेरा छोटा-सा मस्तिष्क निकम्मा हो गया है। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। इतना पानी? चाची क्या सोच रही थीं यह मुझे नहीं मालूम किन्तु मैं तो जड़ हो गया था। चाचाजी के बार-बार कहने पर भी मैं उसी तरह बैठा रहा। अन्त में बहुत डरते-डरते हम लोग कपडे उतारकर पानी में घुसे। हजारों नरनारी यहाँ स्नान कर रहे थे। कुछ नहानेवाले दूर तक चले जाते, उनको देखकर कुछ साहस भी होता। अन्त में मुझे मालूम हुआ कि समुद्र को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता भी हो रही है। मैं कुछ और नहानेवालों के साथ आगे बढता

चला गया। इधर चाची मुझे दूर जाता देख चिल्ला रही थीं किन्तु मुझे कुछ भी सुनाई नही दे रहा था। गोता लगाने के साथ ही खारी पानी ने तमाम मजा किरकिरा कर दिया। इतना पानी और खारी? इस विचार ने फिर मुझे अपनी तरफ खींच लिया और मैं लहरों से खेलता वहीं खड़ा रहा। दूर पर नावें हवा के झोकों से डगमगाती हुई चली जा रही थी। जैसे-तैसे समुद्र-स्नान समाप्त हुआ। अब हम लोग डेरे पर चलने की तैयारी करने लगे। चौपाटी के पास ही सड़क के किनारे ट्राम की प्रतीक्षा में खड़े हो गये और ट्राम के आते आते इतनी भीड हो गई कि मैं चाचाजी से बिछुड़ गया। यह समझकर कि कदाचित सब लोग गाड़ी में बैठ गए हैं ट्राम पर जा चढा। चलती गाड़ी के बाहर लोग लटक रहे थे। मैं भी फुटपाथ पर हैण्डिल पकडकर खड़ा हो गया। अब धीरे-धीरे भीतर घुसकर इधर-उधर देखा तो कहीं भी उन दोनों का पता न था। अब क्या हो, कहाँ जाऊँ, किस जगह उतरूँ! टिकट बाँटनेवाले ने आकर पूछा तो मैं उसकी बोली न समझ पाया। मुझे गुमसुम देखकर एक मारवाड़ी सज्जन ने जो पास बैठे थे, मेरा पता पूछा। किन्तु मैं क्या जवाब देता? अन्त में उनके बराबर पूछने पर मैंने बताया कि समुद्र स्नान करके लौटते हुए इसी ट्राम के पिछली स्टेशन पर मेरे सबंधी खो गये हैं। मैं बम्बई में बिल्कुल नया हूँ। कण्डक्टर ने पीछे को जाती हुई ट्राम की ओर संकेत करके कहा कि मुझे उस ट्राम से फिर चौपाटी चले जाना चाहिए। सभव है वे लोग वहाँ मिल जायँ। मारवाड़ी सज्जन ने मुझे उतारकर दूसरी आती हुई गाड़ी पर बैठने के लिए अपने पीछे आने को कहा। मैं उसके पीछे दौड़ते हुए भी सड़क न पार कर सका और बीच में ही रह गया। मेरे पार करते-करते दो-तीन और गाड़ियाँ आईं और चली गईं। इधर मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करूँ? मारवाड़ी ने ठहरने का पता पूछा तो वह भी मुझे मालूम न था। हारकर न जाने क्या सोचकर मुझसे कहा कि वह मेरे सबधियों को ढूँढने का यत्न करेगा किन्तु उसे बहुत जरूरी काम है और इतना कहकर उसने अपने साथ-साथ चलने को कहा। वह लगभग चार बजे का समय होगा। मेरे पास एक भी पैसा न था। केवल एक लँगोटा जो गीला था, मेरे कधे पर था। मैं धोती-कुरता पहने नगे सिर धर्मशाला से निकल पड़ा था। उधर भूख भी बड़ी जोर से लग रही थी। इस अनजान विशाल जनसमूह में मैं अकेला था? कोई जान

न पहचान। घर का कोई पता नहीं। मेरी आँखों में आँसू छा गए और मैं रोने लगा। आगे-आगे वह सज्जन और पीछे-पीछे मैं। बहुत दूर चलकर वह एक दुकान मे घुस गया और मुझे एक जगह बैठा दिया। थोड़ी देर बाद एक आदमी आकर मुझे अन्दर ले गया। मैं बराबर रो रहा था। मुझे सात्वना देते हुए उस मारवाड़ी तथा दुकान के और व्यक्तियों ने ब्यौरेवार सब हाल पूछना प्रारम्भ किया। जिस धर्मशाला मे हम लोग ठहरे हैं, उसका आकार-प्रकार आदि के बारे में भी सब कुछ जानना चाहा, पर मुझे तो कुछ मालूम ही न था। फिर वे आपस में बातें करते रहे। एक नौकर कुछ मिठाई ले आया। किन्तु भूख होते हुए भी मैंने उसमे से बहुत थोड़ा खाया।

मुझे मालूम हो रहा था कि अब मैं किसी तरह भी चाचा चाची से नहीं मिल सकता। एक व्यक्ति कह रहा था—'वैसे तो बड़ी-बड़ी बबई में चार-पाँच ही धर्मशालाएँ हैं, किन्तु यह कैसे मालूम हो कि कौन-सी धर्मशाला में वे लोग उतरे हैं। दूसरा कह रहा था कपड़ा खरीदने आए हैं तो कपड़े की मार्कीट में खबर कर देनी चाहिए। वहाँ से पता लग सकता है। तीसरा कह रहा था धर्मशालाओं में जाकर ढूँढने से सब कुछ मालूम हो सकता है।

और भी आस-पास के दुकानदार आकर मेरा हाल सुनते और सलाह देकर चले जाते। कुछ लोग उस लानेवाले मारवाड़ी को झिड़कने लगे कि इस लड़के को उसी समय लेकर क्यों न चौपाटी चला गया। इधर दुकानों पर गाहकों की भरमार थी। मैं अकेला बैठा था। अन्त मे एक आदमी ने आकर कहा कि तुम्हारे चाचा यहाँ न मिलेंगे तो तुम्हे अजमेर पहुँचा दिया जायगा। उस छोटी-सी किन्तु विशाल मार्कीट में इतने आदमी आ-जा रहे थे कि थोडी देर के लिए मैं यह भूल गया कि मैं बिछुड़ा हुआ हूँ। गुजराती, मारवाडी, युक्तप्रातीय, मराठी, पजाबी, सिन्धी और न-जाने किन-किन देशों के व्यक्ति नए-नए फैशन में, नई भाषाएँ बोलते हुए आ-जा रहे थे। मैं यह दृश्य देखने के लिए दुकान में से उठकर बाहर आ बैठा। इतने में एक व्यक्ति ने चट से आकर कहा—'बोझ ले चलेगा, दो आना।' मैं चुप था। साथी बोला—'थोड़ी दूर जाना होगा। बस ट्राम तक। चल तीन आना देगा। जब मुझे टस से मस न होते देखा तो बडबड़ाते हुए दोनों आगे बढ़ गए। इधर मेरी आँखों में फिर आँसू डबडबा आए। मैं सोच रहा था क्या करूँ, कैसे करूँ? रह-रहकर

रो उठता और चुप हो जाता। एक बार उठकर भागने लगा कि उसी दुकान का एक आदमी आकर फिर मुझे पकड़ ले गया। दुकान के मालिक ने, जो गद्दी पर बैठा था, मुझे बुलाकर समझाया—'रोने से काम नहीं चलेगा। हमने दो आदमी धर्मशालाओं में पता लगाने के लिए भेजे हैं, पता लगते तुम्हे पहुँचा दिया जायगा और यदि मैं भाग जाऊँगा तो किसी तरह भी अपने चाचा-चाची से नहीं मिल सकूँगा। जब तक चाचा-चाची का पता नहीं लगेगा, तब तक तुम हमारे साथ रहना, भला?' इतना कहकर उसने मेरे सिर पर हाथ फेरा और काम में लग गया। उस मार्कीट मे हजारों आदमी आए और चले गए। इतना कोलाहल, इतनी भीड़। बिजलियाँ जल रही थी, पखे चल रहे थे। अन्त में हारकर मैंने सेठ से पूछा कि वह आदमी जो मुझे यहाँ लाया, कहाँ है?

सेठ ने उत्तर दिया—'वह एक आदमी के साथ धर्मशालाओं में पता लगाने गया है। जल्दी ही लौटेगा।' इधर रात बढी चली आ रही थी। चाचा जी का पता लगाने वालों मे से कोई भी व्यक्ति नहीं लौटा था। इधर मार्कीट की दुकाने धीरे-धीरे बद होने लगी। मेरे हृदय में रह-रहकर हूक उठती, कुछ देर रो लेता और फिर चुप हो जाता। मुझे ऐसा लगता, मानो माँ-बाप सभी से मैं सदा के लिए बिछुड गया हूँ और अब वे मुझे न मिलेंगे। फिर सोचता, क्या सभी के माँ बाप होते हैं? क्या बबई में मेरा-जैसा और कोई नहीं है? किन्तु रह-रहकर याद आने पर मुझे जान पडता, जैसे इस संसार में सबसे अधिक कष्ट में मैं ही हूँ। ये भीख माँगनेवाले जो गिड़गिड़ाकर, रोकर नए-नए ढग से रोटी, पैसा माँग रहे हैं, वे भी मुझसे कम दुखी हैं। रह-रहकर होता, अब क्या करूँगा। रात कैसे कटेगी? मेरे सेठ की दुकान के अतिरिक्त बाकी सब दुकाने धीरे-धीरे बद हो रही थीं और उस दुकान पर भी दो नौकर, दो मुनीम और सेठ के सिवा सब चले गये थे। सेठ की अवस्था लगभग पचास साल की होगी। दुबला शरीर, गोरा रग, मलमल का कुरता और पीली पगड़ी पहने वह बैठा था। उसकी दुकान रग की थी। इसलिए उनमें से किसी के भी सफेद कपडे नहीं थे, सेठ तिजोरी में से रुपये निकालकर गिनता और मुनीम लोग हिसाब बताते। इतने रुपयों का ढेर मैंने अपने जीवन में नहीं देखा था। मुझे रुपयों की तरफ घूरते देखकर सेठ मुस्कराकर बोला—'तुम्हारा बाप अजमेर में क्या काम करे हैं?'

'दफ़्तर में नौकर हूँ'—मैंने जवाब दिया।

'क्या तनखा मिलती है ?'

'ढाई सौ रुपये ?'

'बाबू हैं बाबू'

'हाँ ?'

फिर सेठ मुनीमों से कुछ बातें करने लगा। मैं समझ-बूझकर मार्कीट के बाहर बाज़ार में आकर खड़ा हो गया और बाहर बाजार का दृश्य देखने लगा।

अन्त में दोनों व्यक्तियों के साथ सेठ बाहर मेरे पास आकर बोला—'देखो भाई, अभी तुम्हारे चाचा-चाची का पता नहीं लगा है। अब तुम हमारे साथ चलो। रात को हमारे पास रहना। सवेरे फिर पता लगावेंगे।'

मैं यह सुनकर फिर रोने लगा। रोते-रोते मेरी घिग्घी बँध गई। सेठ बहुत समझा रहा था पर वह जितना ही समझाता, उतनी ही मुझे रुलाई आती। अन्त में न जाने क्यों वह मुझे थाने में ले गया। थानेवालों ने मेरा सब हुलिया और पता लिख लिया। थानेदार चाहता था कि मैं रात को थाने में रहूँ। सेठ ने मुझसे पूछा—'तुम थाने में रहना चाहते हो।'

थाने का नाम सुनकर मुझे वैसे ही डर लग रहा था। मैंने एकदम रोकर कहा—'मैं थाने में नहीं रहना चाहता।'

तब सेठ थानेदार को अपने घर का पता लिखाकर अपने साथ मुझे ले चला।

सेठ का घर काफी बड़ा था। दो-तीन नौकर इधर-उधर दौड़ रहे थे। मुझे देखते ही दरबान, जो सेठ के साथ मकान में घुस आया था, बोला—

'यह लड़का अच्छा है सेठजी। काम करनेवाला दिखाई देता है। कौन-से गाँव का है रे ?' सेठ ने बीच ही में रोककर कहा—'यह नौकर नहीं है। और इतना कहकर अन्दर चला गया। मैं एक चटाई पर बैठ गया। थोड़ी देर बाद एक आदमी ने थाली लाकर मेरे सामने रख दी और बोला—'रो मत रोटी खा ले। हाथ धोवेगा ? वहाँ नल में धो ले।' मुझे मालूम हो रहा था कि इन्होंने मुझे कितना हीन आदमी समझ रखा है। वास्तव में बात यह थी कि मेरे कपड़े मैले थे, नंगे सिर। बदहवास तो मैं वैसे ही हो रहा था। मैंने क्रोध

में आकर जवाब दिया—'मैं क्या कोई नौकर हूँ, जो इस तरह बोलता है। तेरे जैसे तो मेरे यहाँ नौकरी करते हैं ?'

वह आदमी थाली रखकर बडबडाता चला गया। थोड़ी देर बाद सेठ ने आकर देखा और चिल्लाकर कहा—'रसोई में ले जाकर खिला' ; और दूसरे नौकर से कहा—'मेरे कमरे में सोने के लिए प्रबन्ध कर दे। इसके बाद यथासमय खा-पीकर मैं कमरे म आकर खाट पर लेट गया। मुझे नहीं मालूम कब मैं सो गया। सबेरे आँख खुलते ही देखा कि दो सिपाहियों के साथ चाचाजी खडे हैं ? मुझे देखते ही उन्होंने गोद में उठा लिया और मैंने देखा, उनकी आँखों में आँसुओं की बूँदें छलक आई हैं। फिर भी हँसते हुए उन्होंने सेठ को धन्यवाद दिया। इसके बाद सिपाहियों को पाँच-पाँच रुपये देकर बिदा किए। सेठ से बात करते हुए उन्होंने बताया कि बबई के प्रत्येक आस-पास के थाने में जाकर उन्होंने रिपोर्ट लिखाई तथा दस-बारह आदमी मुझे ढूँढने के लिए नियुक्त किए हैं। रात भर बिना पानी और अन्न के खोजते बीती है। उनकी आँखें लाल और सूजी हुई थीं। सेठ के आग्रह से उन्होंने थोड़ा-सा जल-पान किया और मुझे लेकर धर्मशाला की ओर चल पडे। रास्ते में उन्होंने मुझे खूब फटकारा, डाटा। गालियाँ दीं। फिर भी उनका क्रोध शान्त नहीं हो रहा था। मैं चुपचाप सुन रहा था। इधर चाची का मेरे खो जाने पर बुरा हाल था। उन्होंने सारी रात बिना सोए, बिना कपडे बदले वैसे ही बिता दी थी। थोड़ी देर बाद जब मुझे बार-बार देखने पर भी उनका जी न भरता तो कह उठतीं—'हाय, भाभी को जाकर कैसे मुँह दिखाती।' इतना कहकर फिर रोने लगतीं। इसके बाद सबसे पहली बात उनके मुँह से जो निकली वह थी—'घर वापस चलो ! मैं यहाँ नहीं रहना चाहती। मालूम होता है मेरे खो जाने पर आपस में कहा-सुनी हो चुकी थी।

अन्त में, मैंने समझा-बुझाकर खुशामद करके चाची को शान्त किया। चाचाजी उस समय अपने व्यवसाय के लिए बाहर चले गए थे।

प्रथम दिन की दुर्घटना के बाद बबई मे हम लोग ठहरे तो सही पर जैसे चाचा-चाची का सारा उत्साह फीका पड़ गया था। बाहर जाते तो चाचाजी मेरा हाथ पकड लेते। फिर उन्होंने मुझे धर्मशाला का नाम भी बता दिया था। यद्यपि यह सब मैंने स्वय जान लिया था। मुझे स्वय खेद था कि यदि मै

धर्मशाला का नाम पहले जान लेता तो यह कष्ट न होता और न हमारी यात्रा अन्त में इतनी नीरस ही होती। कदाचित् रह-रहकर चाचा-चाची को वह कष्ट याद आ जाता और हँसते-हँसते भी उदास हो जाते। बाहर जाते तो मेरा हर समय ध्यान रखते। किन्तु मैं बीच-बीच में कभी-कभी अकेला निकल जाता और दूर तक सैर कर आता। एक बार दोपहर को इण्डियागेट के पास और वापिस लौटकर मलाबार हिल तक ट्राम में हो आया। इसके बाद दो-तीन दिन और रहकर हम लोग एक दिन अजमेर लौट पड़े।

१०

मैंने अब तक जीवन में जो कुछ पाने की इच्छा की है वह पा लिया है। पिता के गंभीर और बहुत शान्त रहने पर भी मैंने बिना हठ के अपना प्राप्तव्य लिया है। उनके बाहर से रूक्ष हृदय में मैंने स्नेह का सागर उमड़ते देखा है। संसार में माता-पिता जैसी और कोई वस्तु है, मैं इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। कदाचित् बालक के जीवन की सरसता, आयुष्य का सबसे बड़ा ग्राह्य पदार्थ उसे माँ-बाप से मिलता है। मैं नहीं समझता कौन-सी संसार की वस्तु है जो माता-पिता अपनी संतान को नहीं देते। कष्ट से कमाई हुई सबसे प्रिय वस्तु धन जिसके लिए वे भाई को, बन्धुओं को शत्रु समझते हैं, संतान को दे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त संतति की मूर्खता से जो अपयश उन्हे मिलता है, वह भी सहन कर केवल उसकी हितकामना करते हुए प्राण विसर्जन कर देते हैं। मैं नहीं मानता कि मैं निरा दूध का धोया ही रहा हूँ। कोई बुरा काम मैंने नहीं किया है। केवल जिज्ञासा, उत्सुकतावश जो मूर्खता के काम मैंने किए हैं और जिनके प्रारम्भ हो जाने पर माता-पिता के अभिमान, उनकी पवित्रता को जो धक्का लगता है। मैं समझता हूँ, वैसी अवस्था में कदाचित् मुझे माता-पिता के अतिरिक्त और कोई हो तो अवश्य जेल के सीकचों में बन्द करवा देता। या

हमेशा के लिए घर से निकालकर बाहर कर देता। किन्तु मैंने देखा कि गर्हित काम जानकर भी उनके पवित्र प्रेम की धारा मेरे ऊपर वैसी ही बही है। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि इस अवस्था में कौन ऐसा लडका है जो मकान की सीढियों पर दौडकर चढते और उतरते एक बार भी फिसलकर न गिरा हो। आज मैं समझता हूँ और सेक्स की प्रवृत्तियों का थोडा-बहुत ज्ञान हो जाने के कारण कह सकता हूँ कि सेक्स स्वाभाविक है किन्तु समाज ने जो रोक, जो बंधन लगाए हैं उनके मूल में स्वाभाविकता होते हुए भी कल्याण-भावना का बहुत बडा हाथ है। सेक्स सम्बन्ध स्वाभाविक होते हुए भी पशुओं में प्रकृति अपने आप उनका नियंत्रण करती है। परन्तु ज्ञानवान मनुष्य के सामने प्रकृति को कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। जैसे वह चुपचाप निर्दय होकर उसे दण्ड देने के लिए ही प्रस्तुत रहती है। पहले से चेतावनी तक उसे नहीं देती।

मैं बहुत विस्तार से नहीं कहूँगा और अपनी कोई बात छिपाकर न रखने का भी मैं हल्का-हल्का वायदा कर चुका हूँ।

हाँ, तो नलिन बाबू एक दिन अचानक तार लेकर पिताजी के सामने आए और अपने भाई की बीमारी का समाचार सुनाते हुए बोले—'मुझे आशा नहीं है कि भाई बच सकें। फिर भी जाना इस समय अत्यन्त आवश्यक हो गया है। सुधी और उसकी माँ यहीं रहेगी। तुम जानो और तुम्हारा काम।' मैं आज रात की गाडी से जा रहा हूँ।'

पिताजी ने आश्वासन देते हुए उन्हे विदा किया और अपने काम में लग गये। जाने से पहले नलिन बाबू हडबडाते हुए आए और बोले—'सुधी की माँ का भी जाना निश्चित है। वह भी जा रही है।'

'तो सुधी को भी ले जाओ।' पिताजी ने कहा।

'नहीं, सुधी को ले जाना इस समय संभव नहीं है, वह स्कूल जाती है।' मुझे सामने देखकर बोले—'चलकर सुधी को ले आ। वह यहीं रहेगी।' इतना कहकर मुझे साथ लेकर वे चल पडे। स्टेशन पर पिताजी उन्हें छोडने गए थे। उसी दिन से सुधी ने मेरे पासवाले कमरे में अपना डेरा जमाया।

मैं इस समय तक सोलह से ऊपर पार कर चुका था। ससार की बहुत सी सेक्स सम्बन्धी गोप्य बातें कुछ इधर-उधर से सुनकर, कुछ अपने हृदय में

उठनेवाले भावों एवं इच्छा के अनुसार अचानक ही दृष्टिपथ मे आ जानेवाले कारणों से जान गया था। इधर पिछले दिनों बम्बई में जिस धर्मशाला में हम लोग ठहरे थे। उसके साथ ही दूसरे कमरे में, जोकि बन्द करके दो भागों में बाँट दिया गया था, ठहरनेवाले नवदम्पति की कामक्रीड़ा देखने का एक बार अचानक अवसर मिल गया। उसी रात को अपने कमरे में अन्धकार मे जो कुछ सुना उसने मुझे पहले तो क्रोधित किया। फिर जिज्ञासा ने स्वाभाविक रूप से हृदय में अपना स्थान बना लिया और मैं इधर-उधर बहुत सी बातें भूल कर केवल स्त्रियों के सम्बन्ध मे सोचता रहता। अब मैं स्त्रियों के प्रत्येक भाव, आकार, चेष्टा, उनके अग सचालन को अपने हृदय में बैठनेवाले भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा करता। अपने-घर काम करनेवाली कहारिन की लडकी को, जो अठारह-उन्नीस वर्ष की होगी, मैं हमेशा चिढाया करता था और जिससे कभी ठीक तरह नहीं बोला मुझे वही अब लुभावनी लगने लगी। पड़ोस में रहने-वाले एक बाबू की लड़की की शिकायतों पर जिसका दो वर्ष हुए विवाह हो चुका था, और जो बड़ी चुगलखोर थी, मैं कई बार माँ से डाट फटकार खा चुका था। एक बार पिताजी से पिट भी चुका था। उस दिन एकाएक फिर शिकायत का बदला लेने के लिए क्रोध से पागल होकर जब मैं उससे हाथा पाई करने लगा तो अचानक उसके स्तनों पर हाथ पड़ जाने से सिहर उठा और मेरा सारा क्रोध न जाने कहाँ चला गया ? फिर हम दोनों एकदम बदल गये। अब सुधी भी दूसरे ढग की लडकी मालूम होती थी।

एक दिन यही बात स्कूल से आते हुए मैंने हरीश से कह डाली। वैसे भी हर तरह की बातें उससे होती रहती थीं। इसके अतिरिक्त हरीश अब पहले का हरीश नहीं रहा था। अब वह बड़ा नटखट, मसखरा और चुटीला व्यग्य करता। सुधी को मेरे घर देखकर उसने कह ही तो डाला—'कहाँ से माल उडाया है मित्र ? तब मैंने उसे फटकारा और अपनी लडाई की बातें सब उसे सुना डालीं। इस पर भी उसने बुरा नही माना और नशीली आँखों से मेरी तरफ़ देखने लगा। बाजार में चलते-चलते उसकी निगाह के सामने कोई छोकरी आ जाती तो उसे घूरकर देखा करता।

मैं मानता हूँ, नगरों में रहने के कारण हमारा सेक्स अवस्था से पहले जाग उठता है और कई जगह तो हम दूसरों से अनावश्यक रूप से सीख

कर उसे अपने भीतर भड़काते हैं। फिर वही हमारे स्वभाव में मिलकर हमें कुपथ पर ले जाने को बाध्य कर देते हैं। स्कूल में छोटे-छोटे लड़कों की परस्पर अनुचित कहानियाँ सुनकर पहले मुझे आश्चर्य होता था, अब वह स्वाभाविक मालूम देता। किन्तु उसमें रस भी मैं लेने लगा था। दो वर्ष पूर्व एक बार स्कूल से छुट्टी पाकर निकलते हुए मेरी अवस्था के एक मुसलमान ने हँसी-हँसी मे एक लडके का गाल छूकर अपनी उँगलियाँ चूम लीं और चटकारा भरा तो मैंने उसका बड़ा विरोध किया। यहाँ तक कि मुझमे और उस लडके में लडाई भी हो गई। तब मैं इसे शरारत समझता था किन्तु आज मैं उसे दूसरे ही रूप में देखता और समझता हूँ।

कभी-कभी मैं एकान्त में बैठकर सोचने लगता कि सेक्स को जगाने का एक कारण स्त्री-पुरुषों की दूरी भी है, उनका अपने को जान-बूझकर बचाकर रखना भी है। कदाचित् इसी से यह जागता है। जितना ही हम एक दूसरे से बचने का प्रयत्न करते हैं उतना ही हमारे भीतर मिलने की चेष्टा जागती है। कुछ भी कारण रहा हो। मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर पाया कि यह कौन-सी बात है, जिसने मुझे पहले जैसा नहीं रखा। रात को अपने कमरे में जब मैं पढने बैठता तो इच्छा होती सुधी मेरे पास होती। सुधी माँ के कमरे में पढ़ती और वहीं सोती थी। मैं किसी-न-किसी बहाने से पढते-पढते सुधी के पास जा बैठता और उससे बातें करने लगता। कभी वह सवाल पूछने के बहाने मेरे कमरे में आ जाती, और मेरे शरीर से सटकर खडी हो जाती। उसके लहराते बाल जब मेरे ऊपर पड़ते तब हम मानों सवाल निकालना छोडकर आँखों-ही-आँखों में एक दूसरे को पी जाने का यत्न करते।

फिर भी यह मैं कैसे कह सकता हूँ कि घर का डर न होता तो उस भेदभाव से—जिसका पहले उल्लेख कर चुका हूँ—हम अपनी रक्षा कर लेते, तथा सुरक्षित रहते। हाँ, एक बात मुझे रह-रहकर कचोटती। मेरी बडी बहन तो मर चुकी थी। उससे छोटी एक और बहन थी, उसको देखकर कभी वैसा विचार भी न उठता था। किन्तु विचार आते ही डर और घृणा के मारे जैसे शरीर काँप उठता। आज जब मैं अपनी कहानी लिख रहा हूँ, तब भी इस प्रसग को छेड़ते और उसकी स्मृति आने पर भी जैसे कोई सैकड़ों बिच्छुओं के काटने के समान व्यथा होती है। तर्क की कसौटी पर कसने तथा किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के

लिए ही मैं कह रहा हूँ कि आखिर बहन और सुधी मे स्त्री के होने के नाते क्या अन्तर था ? उस समय तो न मालूम क्या-क्या सोचता था पर किसी परिणाम पर पहुँचना शक्ति के बाहर की बात थी। सुधी से जब मैं हर तरह से घुल मिल गया तो उसने एक बार कहा भी कि 'सीना भी बड़ी सुन्दर स्त्री होगी, उसके नखशिख बडे अच्छे हैं।' इस पर मैंने सुधी को कितना बुरा-भला कहा, कितनी गालियाँ दी, वह इस समय ठीक-ठीक याद नही आता। किन्तु इतना याद है मुझे उस तरफ ध्यान करने मात्र ही से डर लगता था।

हाँ, तो समाज की दुर्लंध्य परिधि को विश्वास की दृढता से लाँघकर सुधी के माता-पिता की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर जब मैं छिप-छिपकर उसकी तरफ खिंचने लगा तो एक दिन दुर्निवार वज्रपात की तरह घहराकर वह मेरे सिर पर आ गिरा। और उसके परिणाम स्वरूप जो मुझे, प्रताड़ना, अपमान, लाछना का भागी होना पड़ा, उसका विस्तृत ब्यौरा दिए बिना मैं कदाचित् यौवन की पूर्व पादपीठिका पर चढकर सौभाग्यशाली बनने का पूरा साहस नहीं कर सकूँगा।

जैसे-जैसे नलिन बाबू के भाई की अवस्था बिगड़ती जा रही थी। वैसे-ही-वैसे मेरा और सुधी का सपर्क "घनिष्ठ होता जा रहा था। हम लोग दोनों एकान्त की खोज में रहते। माँ को कुछ-सदेह हो गया था या सावधानी के तौर पर हम दोनों का बहुत मिलना-जुलना, पास बैठना उन्होंने निषिद्ध कर दिया था। इस सम्बन्ध में एकाधबार सुधी को और एक से अधिक बार मुझे समझा भी दिया था। फिर भी जब तब वे पातीं कि हम दोनों दिखाने के लिए साथ-साथ पढ रहे हैं। कभी मैं कभी सुधी किसी न किसी बहाने मिलते और अनभ्यस्त प्रेमी की तरह अपने-अपने आकर्षण की कहानी कहते। एक दिन माँ पड़ौस में सुधी तथा बहन को लेकर गई थी। मैं अकेला था। छकियाँ की बाबत मुझे याद नहीं, कहाँ गया था, इतना निश्चित है वह घर पर नहीं था। इतने में सुधी न जाने कैसे माँ की आँख बचाकर घर आ गई। और हम दोनों एक ही खाट पर बैठकर तरह-तरह की बातें करने लगे। मुझे कभी आश्चर्य होता कि जो बातें 'मैं नहीं' जानता वह सुधी जानती है। उसने मुझे अपने माता पिता के साथ प्रेमालाप की कहानियाँ सुनाईं। और किवाड़ ढुकाकर हम दोनों लेटे-लेटे बातें कर ही रहे थे कि, अनभ्र प्रलय मेघ के समान पिताजी ने

एकदम दरवाजा खोलते हुए मुझे पुकारा। मैं और सुधी उठ भी न पाए कि तडातड बेंत मेरे शरीर पर बजने लगे। सदा से शान्त रहनेवाले पिता के शरीर में कितना क्रोध आ गया था, इसका अनुमान लगाना कठिन है। बेंतदरबेंत खाते-खाते मैं मूर्छित हो गया। जब होश में आया तो मैंने देखा नाक मुँह और शरीर से रुधिर बह रहा है।' माँ सामने खडी हैं। क्रोध, घृणा से उनका मुख लाल हो रहा है। सुधी का कहीं पता भी नहीं है। माँ कह रही थीं—'कुलागार तू पैदा होते ही क्यों न मर गया! अधम, पतित, नीच! तेरा मुँह देखना भी पाप है। और भी इसी तरह की बातें करते-करते वे कमरे से बाहर चली गईं। बहन ने पानी लाकर मेरा मुँह हाथ धुलाया। मैं न जाने कितनी देर तक उसी अवस्था में जमीन पर पडा रहा, इसका मुझे ज्ञान नहीं है। उस अवशेष दिन और रात को न मुझसे किसी खाने के लिए पूछा और न मैं कमरे से बाहर ही निकला। आत्म-ग्लानि, क्षोभ और दुख के मारे न मैंने किसी से बात की और न कोई मेरे कमरे में आया। दूसरे दिन भी दोपहर तक बिना खाए कमरे में ही पड़ा रहा। पीछे नौकर से मालूम हुआ कि उस दिन खाना भी नहीं बना। शरीर इतना दर्द कर रहा था कि रह-रहकर रुलाई आती। कभी अपने दुर्भाग्य को कोसता, कभी सुधी को। घर में इतने व्यक्तियो के रहते भी मालूम होता था जैसे यहाँ कोई बोलना नहीं जानता। पिता जी भी घोर आत्मवेदना के मारे दो दिन तक दफ़्तर नहीं गए। उन्हें भी कदाचित् बुखार आगया था। मैं पश्चात्ताप और अपने ही पाप से इतना पीड़ित हो रहा था कि माँ के सामने कई दिन सिर नहीं उठा सका। पिताजी के सामने जाना मौत के सामने जाना था। कदाचित् मैं आग्रह करने पर माँ से बात कर सकता था परन्तु पिताजी के सामने जाने की तो किसी तरह हिम्मत ही नहीं पडती थी। तीन दिन तक मैं दुखी रहा। दूसरे दिन मध्याह्न के समय बहन ने खाना लाकर सामने रख दिया और चुपचाप चली गई। तीसरे दिन उसी अवस्था में बाहर किसी को कहते सुना कि चाचा जी को हैजा हो गया है। इसके साथ ही घर में एक प्रकार की घबराहट शुरू हो गई। पिताजी की छकिया को बुलाने की आवाज आई। माँ, एकदम कपडे पहन कर तैयार होगईं। घर में मैं और छकिया बहन रह गये थे। पीछे बहन से मालूम हुआ कि उसी दिन सुधी को

चाचा जी के घर रहने के लिए भेज दिया गया था। और पिताजी के एक-दम किवाड़ खोलने का रहस्य भी यह निकला कि सुधी को पड़ोसिन के घर से ग़ायब देखकर माँ ने बहन को सुधी की खोज में भेजा। बहन ने आकर जो देखा उसका जिक्र करने वह मा के पास जा रही थी कि नीचे बैठक में पिताजी दफ़्तर से आकर बैठे दिखाई पडे। इनके पूछने पर उसने वह हाल डरते-डरते उनसे कह दिया। इतने भेदियेपन का काम करने पर भी मुझे बहन पर कोई क्षोभ न था और मैंने उससे कहा भी कुछ नहीं। किन्तु यह देखकर कि मेरी पिटाई से वह भी दुखी होकर कई बार रोई, मुझे दया आई। बहन, सचमुच इन बातों को नहीं जानती थी। फिर भी वह कितना जानती है, यह मुझे नहीं मालूम। यह जीवन में सबसे बडा प्रारम्भ था, जिसका सूत्रपात सबसे बडी मार, सबसे बड़े अभिमान, सबसे बड़ी लाँछना सब से बडे अपयश के साथ हुआ। फिरभी समझ नहीं पा रहा था कि यह इतनी निकट की वस्तु इतनी गर्हित और हेय क्यों है? कभी-कभी मन कहता, क्यों अब फिर ऐसा करोगे? इसका उत्तर इतनी मार खाकर, इतनी पीडा सहकर भी मन यही देता—'साहस बुरा नहीं है।'

समार में जैसे दुख से सुख का महत्व है, इसी तरह मृत्यु से जीवन का महत्व है। मृत्यु न होती तो जीवन का न कोई महत्त्व होता और न उसकी सरसता ही कहीं दीख पाती। मृत्यु के समय और उससे बच जाने के बाद जीवन कितना प्यारा लगता है, इसका ताजा उदाहरण फिर एक बार ज्वलन्त होकर मेरे सामने आ गया। जिन चाचाजी से मैं केवल डरता ही था और स्नेह नाम की वस्तु उनके और मेरे बीच में कभी आई ही न थी, वही स्नेह उनकी बीमारी में न जाने कहाँ से अविरल स्रोत की तरह फूट पड़ा, वह अज्ञात शक्ति की तरह हृदय द्वारों को विदीर्ण करके एकदम उभर आया। जब चाचाजी की बीमारी में सब घर के लोग उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए चले गए तो मुझसे भी न रहा गया और मैं बहन को लेकर उनके घर पहुँचा डरते-ड ते। रोगी की दशा बहुत ही खराब हो रही थी। जिस कमरे मे वे पड़े थे उस कमरे मे केवल चाची और पिताजी थे। चाची बार-बार उनके कपडों को साफ करती उनको ठीक तरह लिटातीं। पिताजी ऊपर की देख भाल कर रहे थे। डाक्टर से परामर्श करते, दवा देते। उनके ससुर साहब दूर एक कुर्सी पर बैटे अजमेर के डाक्टर वैद्य,

हकीम बीमारों का इतिहास सन् संवत् दिन मास के साथ जबानी ही सुना रहे थे। उनका लड़का बगल में खड़ा था, जिसे सीता के लिए लक्ष्मण के द्वारा खींची गई रेखा के समान एक इंच भी बीमार की तरफ बढ़ने की आज्ञा न थी। उनकी धर्मपत्नी जरा हटकर पालथी मारे पानदान की सामग्री का अपने विराट पोपले मुख की अग्नि में प्रति पाँच छै मिनट के हिसाब से हवन कर रही थी। वह केवल लड़की के घर का पान ही खा सकती थीं। पानी नहीं पीती थीं। पूछने पर एक बार उन्होंने कहा—'क्या करूँ, बिना पान के तो जीवित नहीं रह सकती। फिर जो कुछ मैं कभी-कभी लड़की को दे देती हूँ उसमें सबसे पहला ध्यान मेरा खाए हुए पानों का बदला चुकाने का भी होता है। उनकी आन्तरिक इच्छा थी कि लड़की (चाची) अपने पति की सेवा से हट जाय जब भाई, भतीजे हैं तो वही उस (चाचा) की सेवा करें! कल को लड़की को कुछ हो गया तो वह किसे अपनी लड़की कहेगी। इसीलिए मेरी माँ की ओर संकेत करते हुए उन्होंने अपनी बेटी से एकाधबार कह भी डाला—"अरी बिट्टी, तू जरा हाथ-मुँह तो धोले। देख बड़ी बिटिया आ गई है, उसे भी तो जरा काम करने दे।' पति की तरफ इशारा करते हुए उन्होंने कहा—'तुम घर क्यों नहीं जाते, क्या आज पूजा पाठ कुछ भी नहीं करना? जाओ और इसे (लड़के को) भी साथ ले जाओ। इसे भी स्कूल का काम करना है।'

इस पर श्वेत दाढ़ी और मूँछों के भीतर से छोटी सी अँधेरी गुफा का द्वार खोलते हुए पति देवता ने उत्तर दिया।

'अरे तो घबराती क्यों है' बीमारी है ठीक हो जायगी। तू तो व्यर्थ की चिन्ता करती है। न जाने घर में जरा किसी के पेट दुखते ही इसे क्यों इतनी चिन्ता हो जाती है। शिव-शिव! इसके साथ ही उन्होंने गीता का यह श्लोक पढ़ डाला। अशोच्यानन्वशोचस्त्व प्रज्ञावादाश्च भाषसे।

व्याख्यान का क्रम जारी रखते हुए बोले—'मनुष्य को धीरज नहीं छोड़ना चाहिए, प्रयत्न करते जाना चाहिए। मनुष्य की शक्ति ही कितनी है। वह चाहे तो पहाड़ को चींटी बना दे। और हम लोग ब्राह्मण हैं, ब्राह्मण का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। इसके साथ उन्होंने भृगु और विष्णु की लात मारनेवाली कथा सुनाना प्रारम्भ कर दी। किन्तु होते-न-होते उनकी धर्मपत्नी ने टोककर कहा—

'अपनी हाँके जाते हैं, किसी की नहीं सुनते। मरे, पान भी तो अब अच्छे नहीं आते। न जाने कहाँ से लकाकाण्ड हो गया है।'

पति देवता बोले—'अरी, लकाकाण्ड न होता तो राम का इतना महत्त्व ही संसार न मानता। मैं यह कहना भूल गया कि डाक्टर ने बीमार के पास बहुत बोलना बन्द कर दिया था। पिताजी के कहने से डाक्टर ने स्वयं उन दोनों से बहुत बोलने को मना कर दिया था। इस पर ससुर साहब ने डाक्टर को डाँटते हुए कहा, क्या मैं यह सब बातें नही जानता? आप निश्चिन्त रहिए डाक्टर साहब, यहाँ कोई मुँह भी नहीं खोलेगा। पहले तो देर तक बाहर खड़ा रहा, किन्तु चाची और पिताजी को कपड़े हटाते, साफ करते देख एकदम भीतर चला गया और चाची की सहायता करने लगा। चाची ने स्नेह से मेरी ओर देखा और चुप हो गई। माँ ने जब यह सब देखा तो वे घबरा गईं और दो दिन का मौन भंग करते हुए कहने लगीं, तू बाहर हट जा, मैं जो हूँ। इतना कहकर वे भीतर आ गईं। किन्तु मैं उनके हटाने पर भी न हटा और हर प्रकार से बीमार की सेवा में लग गया। इतने में फिर उनकी अवस्था बिगड़ने लगी। रंग काला होता जा रहा था। ससुर साहब यह सब सुनकर एकदम यथासमय संध्या का बहाना करके उठ पडे और लडके को अपने साथ लेते गए। जाते-जाते मेरी तरफ देखकर उन्होंने कहा। बेटा, बड़ों की सेवा करने का शास्त्रों में बडा महत्त्व है। पिताजी इस बीच में डाक्टर के पास गये हुए थे। इधर-उधर देखकर क्रोध रोकते हुए मैंने कहा—'पंडित जी, शास्त्र की सब आज्ञाएँ कदाचित् रोगी के भाई भतीजे के लिए लिखी गई हैं, साले और ससुर के लिए उनका विधान नहीं है। इसीलिए वे रोगी की हवा से दूर रहकर केवल पडिताई छाँटना ही जानते हैं।' इसके प्रभाव की संपूर्ण तीक्ष्णता को सहन करने के लिए सन्नद्ध होकर मैं लापरवाही के साथ चाचाजी के सिर पर हाथ फेरने लगा। किन्तु ससुर साहब मेरे जैसे तुच्छ अपठित बालक की बात का बिना उत्तर दिए चले जाते तो उनके जीवन में अर्जित ज्ञान और महत्त्व के शिखर पर चढ़े हुए उनके वैभव को कितना धक्का लगता, यही वे कदाचित् सोच रहे थे कि दोनों पति-पत्नी की सरस्वती एकदम मुखर हो गई। पत्नी कह रही थी—'जरा-सा लड़का सिर पर चढकर बातें करता है। न बडे को देखे न बूढ़े को भला यह भी कोई बात है। अरे तू तो क्या

तेरा बाप भी तो इनके पैरों की धूल पहले हो ले।' और भी बराबर बोलती जा रही थीं कि पति देव का स्वर सुनाई पडा। 'क्या हम इस छोटे लौंडे की बातें सुनने आए हैं? शिव-शिव। कहाँ है इसका बाप? अरे सेवा करते हो तो अपने की न करो। हमें क्या? माना हमारे भी हो। देखो तो सही इस लडके ने हमारा अपमान कर डाला और इसकी माँ ने मुँह खोलकर यह भी नहीं कहा कि क्या कहता है।' चाचाजी बोले—'बाबूजी, इसने बात झूठ नही कही है। आज को मेरे भाई न होते तो तुम तो मुझे हाथ भी न लगाते और अछूत की तरह मर जाता। अब मुझे सतोष है कि यदि मैं मरूँगा तो मेरी मिट्टी खराब न हो पायगी।'

'पानी गड्ढे में ही भरता है, पैर पेट की तरफ ही झुकते हैं।' इत्यादि कई मुहावरे सुनाते हुए ससुर साहब ने अपनी तोंद को 'राइट अबाउट टर्न' कर दिया। पत्नो पान की गिलौरी मुँह में दबाकर थूकने के बहाने कमरे से बाहर हो गईं। इधर पिताजी दो डाक्टरों को और लेकर कमरे में दाखिल हुए। मैंने केवल पिताजी के मुँह से निकले हुए ये ही शब्द सुने—'जाते हैं, अच्छा, हाँ, जाइये सध्या पूजा, भोजन को देर होती होगी।'

इसका कोई उत्तर ससुर साहब के मुँह से न सुनकर मैंने समझ लिया कि मैंने उन्हे अप्रतिभ ही नहीं अवाक् भी कर दिया हैं। वास्तव में बात यह है कि हम लोग चाचाजी के ससुर को फूटी आँखों भी नहीं सुहाते थे। वे सदा पिता जी को हीन दृष्टि से देखते, वे अधिक वेतन और ऊँचे पद पर थे, उसका कारण उनका खुशामदी स्वभाव वे बताते थे। उनकी बातचीत की गभीरता को वें ढोंग, उनके चलने को अकड, और मैं तो था ही अवारा। सौभाग्य से सुधी और मेरे सबध की बात उनके कानों तक नहीं पहुँच पाई थी, नहीं तो मेरे सबध मे वे एक नया विष्णु सहस्रनाम बना डालते और वह वहीं समाप्त न होता। परिचित-अपरिचित, पास-दूर सभी के कानों में देश-काल के परिच्छेद को फाडकर गूँजता सुनाई देता। इधर पिताजी ने जब मुझे चाची को हटाकर अपने आप उनका वमन, पाखाना साफ करते देखा तो वे एकदम स्नेहसिक्त स्वर में बोल पडे—

'अजय, तुम बाहर आ जाओ।' और उन्होंने माँ से चाचाजी की सेवा करने को कहा। माँ भीतर घर का कुछ काम कर रही थीं। उन्होंने एकदम

भीतर आकर मेरा हाथ पकड़कर मुझे बाहर कर दिया। चाची ने मुझसे कई बार वहाँ से हट जाने को कहा था। पर मैं ही नहीं मान रहा था। पिताजी ने एक काम किया। हम लोग जितने घर में थे, सबको डाक्टर से एक-एक गोली लेकर पानी के साथ खिला दी। कहने की आवश्यकता नहीं उस रात को कई प्रयत्न करने पर भी चाचाजी की अवस्था बिगड़ती गई और प्रातः चार बजे के समय उनका शरीर छूट गया और घर में एक बार फिर कुहराम मच गया।

११

चाचाजी की मृत्यु का प्रभाव दो प्रकार से हुआ। पिताजी शान्त स्वभाव के होते हुए आँसू न रोक सके और बाँध टूट जाने पर बरसाती नदी की तरह वे जहाँ बैठते, आँसुओं का प्रवाह उनकी आँखों से झरने लगता। माँ और चाची भी बहुत रोईं और यह कौन कह सकता है कि चाची को दुख न हुआ होगा। भारतीय नारी के लिए पति का क्या महत्त्व है और उसके अभाव में उसकी कैसी हीन दशा हो जाती है, इसका प्रत्यक्ष रूप वे स्वयं थीं। बार-बार उन्हें मूर्छा हो जाती, बार-बार हम लोग उन्हें सँभालते। चाचाजी की मृत्यु के बाद बहुत देर तक तो गूँगे की तरह आँखें फाड़े उनकी तरफ देखती रहीं। इसके बाद जो रोना उन्होंने प्रारम्भ किया, उसका परिणाम इतना ही मैं बता सकता हूँ कि सारा सिर गुमड़ों, और खून से भर गया था। उधर चाची की माँ उस दिन रात को दुकान की चाबी अलमारी से निकालकर खाने-पीने के बहाने चली गईं, फिर उनकी मृत्यु का समाचार पाने पर ही लौटीं। चाचाजी की मृत्यु का समाचार देने गये थे हम और छकिया। तो देखा मकान मे रात के तीन बजे भी लालटेन जल रही है। और दो-तीन आदमी सामान इधर से उधर रख रहे हैं। द्वार पर गाडी के पास श्वसुर महाशय खड़े थे। कपडा भीतर रखा जा रहा था।

मुझे देखकर भी वे बोले नहीं। पहले तो कुछ सकपकाये, फिर छकिया के मुँह से समाचार सुनकर बोले—

'रेल गोदाम से दुकान के लिए कपडा आया था, वही रखकर आ रहा हूँ।

'रात को भी क्या रेल गोदाम से माल आता है—' मैंने धीरे से कहा।

तो झल्लाकर कहा—'हाँ रात को भी! न कुछ समझता है, न बूझता है मूर्ख कहीं का। जा!'

हम दोनों उलटे पैरों लौट पड़े। यथासमय क्रिया-कर्म हुआ। शाम को पिताजी ने चाची को बुलाकर कहा—'दुकान की चाबी कहाँ है? उसे सँभाल कर रखना। जिस किसी का लेना-देना है' वह दुकान से ही चुकाना होगा।' किन्तु चाची से कुछ भी कहना व्यर्थ था। कदाचित् वे शोक के कारण वहाँ से हिलीं तक नहीं। सभव है उन्हें यह विचार रहा हो चाबी यथास्थान रखी होगी। तेरहीं तक पिताजी को उस घर में रहना पडा क्योंकि दाहकर्म उन्होंने ही किया था। इसी बीच मेरे छोटे चाचा भी वहीं आ गए थे।

इधर मेरी पिटाई के बाद जब सुधी को उसी समय चाचाजी के घर भेज दिया तो वह वहीं रहने लगी और चाचाजी की बीमारी के समय जब मुझे वहाँ आना पडा तब भी मैंने उसे वहाँ बहुत कम देखा। उसे कठोर आज्ञा दी गई थी कि वह मुझसे बात नहीं कर सकती। मेरे पास नहीं बैठ सकती। तथा पिताजी ने उसी समय एक पत्र नलिन बाबू को उनके भाई की बीमारी का समाचार पूछते हुए लिख दिया था कि सुधी को वह नहीं रख सकेंगे।

इसके चार-पाँच दिन के बाद नलिन बाबू के कोई सम्बन्धी आकर सुधी को ले गए। तेरहीं के बाद हम लोग घर लौट आए। चाची के घर पर एक तरह से उनके पिता का पूरा अधिकार हो गया था। पिताजी चाहते थे कि चाची के निर्वाह के लिए दुकान बेचकर सब रुपया उनके नाम बैंक में जमा करा दिया जाय किन्तु माँ-बेटी ने इस पर कुछ ध्यान न दिया और तेरहीं के बाद मकान छोडकर बाप के घर चली गईं। इधर पिताजी ने जो रुपया दुकान के लिए उधार लिया था किश्त के तौर पर स्वय चुकाने का निश्चय किया। वेतन उचित होते हुए भी उसका बहुत-सा भाग देनदारो के पेट में जाता। एक बार जब उन्होंने इस बात का ज़िक्र चाची के पिता से किया तो उन्होंने 'दुकान में कुछ था ही नहीं।' कहकर साफ जवाब दिया। महीना भर पूर्व चाचाजी जो कपड़ा बबई से

लाए थे, उसमें बहुत-सा उधार भी था। आढती ने चाचाजी की मृत्यु का समाचार पाकर पिताजी को आकर घेरा तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि दुकान का सारा माल मृत व्यक्ति के ससुर के पास है। इस पर आढती ने कोर्ट से आज्ञा लेकर उनका घर जा घेरा और बहुत-सा अपना माल निकालकर ले गये। शेष स्वयं ससुर साहब ने बेचकर रुपया जमा कर लिया और लेनदारों को दाँत दिखा दिये। परोपकार करते हाथ जलनेवाली लोकोक्ति से माँ बहुत दुखी और असतुष्ट थीं। जब तब घर मे भाई के साथ किए गये परोपकार पर घर में झड़प हो जाती। यह पहला ही अवसर था कि मैंने पिताजी को इस तरह उदास देखा। माँ भीतर-ही-भीतर कुढ़तीं। मेरे मन में इन बातों का कोई विचार ही नहीं उठता था। इधर मैंने बाजार में चोरी छिपे खाना भी प्रारम्भ कर दिया था। सुधी की बात भूल गई थी। साँझ को मित्रों के साथ घूमता। किस्सा तोता-मैना का उन दिनों बहुत प्रचार था। एक दिन हरीश के घर से लाकर रात भर वह किताब पढी। कुछ जासूसी उपन्यास भी पढ़े।

एक बार लन्दन रहस्य की कुछ प्रतियाँ कही से हाथ लग गईं, वे भी एक साँस में पढ़ डालीं। माँ तो मेरे कमरे में कभी जाती नहीं थीं। जब लगातार उन्होंने मुझे कुछ दिनों तक बराबर कमरे में बैठे पढते देखा तो उन्हे निश्चय हो गया था कि मेरी आदत बहुत कुछ सुधर गई है और मैं सब-कुछ छोडकर पढ़ने में ही मन लगा रहा हूँ। सुबह-शाम भोजन के समय वे मेरा अधिकतर ध्यान रखने लगी। पिताजी भी प्रसन्न थे। एक दिन अचानक रात के समय वे कमरे में चले आए, मैं उस समय कोई जासूसी उपन्यास किताब में दबाए पढ़ रहा था। पिताजी की निगाह से वह किताब मैं छिपा न सका। उन्होंने उसे देख लिया। फिर माँ को बुलाकर कहने लगे।

'जिस लड़के की तुम तारीफ कर रही थीं' उसकी करतूत देख लो।

माँ एकदम अन्दर आ गई और बोलीं—'क्या है ?'

'ये जासूसी उपन्यास पढ़े जा रहे हैं। यही पढाई है। अब समझ लो तुम्हारे सुपुत्र के पास होने में जरा भी कसर नहीं रहेगी।' पिताजी बोले।

मैं चुपचाप अपराधी की तरह नीचा मुँह किए खड़ा था। अन्त में बिना कुछ बोले वे कमरे से बाहर निकल गए।

माँ ने, क्रोध में भर कर कहा—'क्यों रे, तेरे जी मे क्या है ? न पढना हो

तो क्यों हमारे रुपये बरबाद कर रहा है बोल ? तुझे सूझता नहीं है कि आज-कल वे कितने दुखी रहते हैं ? भाई होने के नाते तेरे चाचाजी के पापों से उन्हें छुटकारा नहीं मिल रहा है, इधर तूने हर तरह उन्हें दुखी करने की सौगन्ध खा ली है ? जवानी सबको आती है, तुझे अकेले को ही तो नहीं आई। यदि इसी तरह तुझे हम दोनों का खून पीना है तो पी ले। मूर्ख कहीं का।'

इन सब बातों का प्रभाव मेरे ऊपर कुछ देर तक तो इतना तीक्ष्ण रहा कि अकेला बैठकर कुछ देर तक गुम-सुम रहा। सचमुच इन पिछले दिनों से पिताजी बहुत उदास रहते।

इधर मेरी प्रकृति में विचित्र परिवर्त्तन होता जा रहा था। बुरे और भले की पहचान तो मैं पहले भी नहीं कर पाता था किन्तु दूसरे की बताई हुई बुराई-भलाई को पहचान कर चलता था। अब मैं स्वय कुछ न सोचकर भी एक तरह से लापरवाह हो गया था। पुराने सस्कारों या माता-पिता के आचार-विचार पर कभी-कभी सोचता और निश्चय करता कि अब भविष्य मे कोई ऐसा काम न करूँगा, जिससे उन्हें कष्ट हो। फिर एक प्रवाह की तरह दूसरा विचार आता और पिछली सब बातों को भूलकर जैसा का तैसा हो जाता। मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैं अपने विचारों को तर्क की कसौटी पर कसकर निश्चय पर पहुँचता था किन्तु बिना सोचे विचारे भी कभी एकदम कोई बात मुझे अच्छी मालूम होने लगती। यदि वह ऐसी होती कि मैं उसे स्पष्ट रूप से नहीं कर पाता तो छिपकर करता। धोखा फरेब, झूठ बोलकर भी उसको पूरा करना चाहता। जिस चोरी की बात ने मुझे एक बार पिताजी के सामने अप-राध स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया था और जिससे मैं कई दिनों तक दुखी रहा, वह अब मुझे एक हँसी और मूर्खता मालूम होती। माँ की बात से मैं पूर्णतया सहमत था कि पिताजी ने कार्य में उधार रुपया लेकर चाचाजी की सहायता की। मैं उनकी नेकी की भावना की किसी तरह भी प्रशंसा नहीं कर पाता था। हमारे छोटे चाचाजी को इन सब बातों से कोई मतलब नहीं था। वे न कभी इस प्रकार के वाद-विवाद में भाग लेते और न परामर्श ही देते। उन्हे यह भ नहीं मालूम था कि बडे भैया ने मझले की कितनी सहायता की। और उसी के फलस्वरूप उन्हे कितना देना है, आदि आदि।

कभी-कभी माँ जब उनके सामने कहतीं तो एक ही उत्तर मिलता।

'भाभी, न जाने क्यों मुझे इन बातों में कुछ भी रुचि नहीं है। आप जाने और आप का काम जाने।' किन्तु भोजन में चीनी, घी या नमक की जरा-सी कमी पर जो उपदेश वे झाडने लगते वह मनोरमा या लघुशब्देन्दु शेखर की फक्किकाओं से किसी तरह भी सरल नहीं होता था। सप्ताह में एक बार खीर के लिए उनका आग्रह रहता था। सायंकाल में भोजन के साथ रबड़ी के लिए छक्किया को उनका 'स्टेण्डिङ्ग आर्डर था।' रात को दूध भी अवश्य चाहिए। इसके साथ ही उसमें मलाई का अति मात्रा में होना आवश्यक है। चाचाजी की मृत्यु पर उनका समवेदना प्रकट करने के लिए आना इतना आवश्यक था कि वे बीस रुपये उधार लेकर आए और शीघ्र ही बड़े भैया को मनी-आर्डर द्वारा भेजने का आग्रह करने लगे। मुझे मालूम है, डाक घर की छुट्टी या किसी कारण से दो-तीन दिन की देरी होने पर माँ से शोक कराने आई बाहर की स्त्रियों के सामने लड़ पडे थे। पिताजी से कहते वे कुछ डरते थे किन्तु स्वादिष्ट भोजन न बनने पर माँ को बुरा-भला कहने में वे किसी प्रकार का संकोच नही करते थे।

उस दिन न जाने क्यों माँ को जब उन्होंने उपर्युक्त उत्तर दिया तो वे बोलीं—

'हाँ, भैया तुम्हे किसी के दुख-सुख से क्या? तुम्हें तो स्वादिष्ट भोजन रबड़ी, खीर खाने को चाहिए फिर चाहे कोई कुएँ में गिरे या मरे।

तो तुमने थोड़ा-सा जो मुझे खाना खिलाया, उसके बदले में चाहती हो कि मैं तुम्हारे साथ जोऊँ और मरूँ। मेरे लिए तुम लोगों ने किया ही क्या है?'

'किया तो हमने उनके लिए भी कुछ नही है, जिनके प्रेम के वशीभूत होकर हर मास आधे से अधिक वेतन सेठ के पेट में डालना पड़ता है। हमने तो किसी के लिए कुछ भी नहीं किया।' माँ ने उत्तेजित होकर कहा।

चाचाजी एकदम थाली छोडकर उठ खडे हुए। माँ ने भी कुछ न कहा। थोड़ी देर बाद देखता क्या हूँ कि पिताजी की प्रतीक्षा में बिस्तरा बाँधकर नीचे बैठक में बैठे हैं। माँ ने आकर उनसे फिर समझाते हुए कहा कि तुम्हारा अपमान या तुम्हे नाराज करने की कोई इच्छा नहीं है, यह तो मैंने तुम्हें घर की परिस्थिति बताई है।

इस पर भी वे कुछ न बोले। जब पिताजी घर आए और चाचाजी ने उनसे जाने की आज्ञा माँगी तो वे आश्चर्य में पडकर बोले—

'क्यों क्या बात है ?'

चाचाजी कुछ भी न कह पाए थे कि माँ ने एकदम प्रकट होकर कहा—'मैं आप को सब समझा दूं।' इसके साथ ही उन्होंने पिताजी के सामने बोलने की क्षमा माँगते हुए सारा किस्सा कह सुनाया, अन्त मे वे बोली—'मुझे आप से कुछ भी नही कहना है। एक भाई का पाप आप अब तक भोग रहे हैं जो सिर के बालों की तरह अनन्त होकर घर को खा रहा है। आपके इन भाई साहब को ससार से कोई काम नहीं है। किन्तु खाना बढिया चाहिए, दूध, रबडी भी चाहिए। खर्च भी चाहिए पर हमारे सुख-दुख से कोई मतलब नही है। हम चाहें मरें चाहे जिएँ।'

पिताजी ने बीच में टोकना चाहा पर माँ ने बात को जारी रखते हुए कहा—'मैं जो कहना चाहती हूँ वह मुझे कह लेने दीजिए। मैं किसी का अपमान नहीं करती। क्या ये महाशय अपना खर्च भी नहीं चला सकते ? आप के ही तो भाई हैं। क्या इन्हे कभी ध्यान नहीं आता कि कठिनाई में पडे हुए भाई की मुझे सहायता करनी चाहिए।'

पिताजी ने कहा—'तुमने कहकर सब किए-धरे पर पानी फेर दिया।'

माँ बोलीं—'कोई आपका किया-धरा माने भी तो ? ईश्वर न करे यदि कल को कुछ हो जाय तो मैं इतना भी विश्वास कर नहीं सकती कि आपके ये पडित-मन्य भाई किसी तरह भी हमारी सहायता कर सकेंगे ?'

'अच्छा जाओ।' चाचाजी चुप थे। जब पिताजी भोजन के लिए ऊपर जाने लगे तो वे बोले—'मैं जाता हूँ। मैं यहाँ नही रह सकता।'

'अच्छी बात है।' इतना कहकर वे ऊपर चले गये और सदूक से कुछ रुपए निकाल उनके हाथ पर रखते हुए कहने लगे—'मेरा हाथ बहुत तग है इसलिए भविष्य मे मैं तुम्हें रुपये न भेज सकूँगा।' चाचाजी बिना उत्तर दिए और बिना प्रणाम किये छकिया के सिर पर बिस्तरा रखवाकर बाहर निकल गये।

इसके बाद छै-सात मास तक उनका कोई पत्र नहीं आया।

मेरे हृदय पर इस घटना का बडा प्रभाव पडा। मैं रह-रहकर सोचता कि रुपए की तंगी के कारण माता-पिता कितने दुखी हैं। प्रति मास किश्त चुकाने पर भी

रुपया किसी तरह कम न होता था। सूद और दर सूद जुड़ते मूलधन में बहुत कम कमी हो पाती, कुछ दिनों तक मेरी चाल-ढाल ठीक रही। फिर मैं वैसा ही लापरवाह होने लगा।

इसके कुछ दिनों बाद मैंने देखा कि पिताजी रात को सोने और पढ़ने के लिए मुझे अपने कमरे में बुला लेने लगे। बीच-बीच में पढने के लिए वे मुझे महापुरुषों के जीवन चरित्र लाकर देते। कभी-कभी मुझे पढकर सुनाने को कहते। जब मैं सुनाता तो वे बीच-बीच में प्रश्न करते। मुझे वे पुस्तकें बिलकुल अच्छी न लगती थीं। मैं उन्हे ध्यान से तो पढता नहीं था उत्तर क्या देता? जहाँ तक कहानी का प्रश्न है मुझे वह भाग याद रहता और उपदेश या गंभीर बातें आते ही मैं उन्हे छोड़ देता।

१२

हमारे जीवन में कुछ ऐसी बातें हैं जिन पर हमारा कोई वश नहीं है। न चाहने पर भी वे होती हैं और चाहने पर भी उनके होने को कोई रोक नहीं सकता। जुए की तरह हम जीवन से खेल खेलते चलते हैं, समझते हैं यह चाल, यह पासा हमारा होगा। किन्तु कभी उलटा और कभी सीधा होकर सामने आता है। जैसे हर क्रिया की दो शाखाएँ हैं सफलता और असफलता। निश्चित कुछ भी नहीं है। काम वर्तमान को मिला है और असफल भविष्य के हाथ में है। और एक भविष्य है जो चश्मा लगाकर, ज्योतिषियो से पूछ देखने पर भी साफ नहीं हो पाता। कभी मैं सोचता (इन दिनों घर की दशा पर मैं भी सोचने लगा था। और चाचाजी की मृत्यु के कुछ दिन बाद तो मैं हर बात को सोचने-सा लगा था किन्तु स्पष्ट कुछ भी नहीं होता था।) क्या ससार में चालाकी से काम चलता है? नेकनीयती, ईमानदारी कुछ भी नहीं है? कभी सोचता क्या समय ही सब कुछ है। आखिर क्या चीज हमारे लिए बहुत आवश्यक है? पढ़ने बैठता तो विचार इधर-उधर दौड़ने लगते। इधर एक

और घटना हो गई। पिताजी की तरक्की का प्रश्न था। और न जाने क्यों उनको तरक्की नहीं मिली। इस पर वे साहब से लड पड़े। वे समझते थे—'मैं सचाई पर हूँ।' उधर विधाता को कुछ और ही मजूर था। लडाई का परिणाम यह हुआ, उन्होंने आवेश या क्रोध में आकर नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र स्वीकृत हो गया। पिताजी कहते थे जहाँ इतनी अनीति हो, वह नौकरी नहीं कर सकते। लोग कहते थे, नौकरी न छोडो। साहब से कह देने मात्र से काम चल जायगा। किन्तु वे न माने। नलिन बाबू का समझाने में प्रमुख हाथ था।

नौकरी छोड़ने पर पिताजी को आठ हजार के लगभग रुपया मिला। उसमें चार हजार तो उन्होंने चाचाजी के सेठ का हिसाब चुकाया। शेष रुपया लेकर वे परिवार के साथ लौटकर गाँव में आ गए। गाँव आठसौ-नौसौ की आबादी का था। अजमेर की अपेक्षा खर्च भी कम किन्तु आमदनी तो कुछ भी नहीं। पिताजी ने कुछ व्यापार किया तो उसमें घाटा पडा। इसी चिन्ता मे बीमार हुए और आठ-नौ मास की बीमारी के बाद उनकी मृत्यु हो गई। मैं एक बात कहना भूल गया कि अजमेर में मेरे एक भाई और हो गया था। अब हम लोगों को सँभालनेवाला गाँव में भी कोई नहीं था। पिताजी ने बहन को हमारी नानी के पास भेज दिया। मैं और वह भाई उनके पास थे। धीरे-धीरे यह अवस्था हो गई कि एक-एक करके पिताजी ने माँ का गहना बेचना प्रारम्भ कर दिया। वे स्वयं बीमार रहने लगे। सग्रहणी उनको हो गई थी। इलाज के लिए हम लोग कई जगह गए किन्तु उनको कोई लाभ न होता था। वे बहुत कृश हो गये थे। मैं यथा सभव उनकी सेवा करता। जब वे चलने-फिरने में असमर्थ हो गए तब मैं दवा लाता, उनके कपडे धोता। खाना पकाता और सब काम करता। रात को और दिन मे उनके कपडे खराब हो जाते, उनको साफ करता।

आगरे मे उनके अनेक मित्र थे, जिनको समय-समय पर पिता जी ने अनेक लाभ पहुँचाए थे। और बीमारी की अवस्था में उनका साथ छोड दिया था। उनकी सुसराल के लोगों मे कुछ बाहर चले गए थे, जो रह गए थे, वे पूछने पर कहते कि—काम के मारे अवकाश नहीं मिलता। और भी इष्ट मित्र थे, वे सामना होने पर हाल पूछते और बाहर ही बाहर चले जाते। एक वैद्य थे

जिनके पिता को खर्च देकर पढाया था और वैद्य को स्वय अजमेर मे छै मास घर पर रखा था, फीस न मिलने के कारण उन्होंने इलाज करना बन्द कर दिया था। एक जाति-बन्धु थे, जो उनके बाद भी अपने को पिता जी का लगोटिया यार कहते थे, पिता जी को घर पर देखने कभी नहीं आए। और उनके मर जाने पर श्मशान तक न गए। एक और अनुगृहीत सम्बन्धी थे, जो पोस्ट आफिस के इन्सपेक्टर थे, दौरे करने जब आते तो प्रायः पिता जी के पास ठहरते और अपनी मित्रता का दम भरते थे। उन्होंने भी मुँह मोड लिया था। उस समय उनकी सेवा करने वालों में से केवल मैं था। और मेरा छोटा भाई। हम दोनों दिन-रात यथाशक्ति उस घर में अकेले रहकर पिता जी के लिए दवा लाते और सेवा करते। मैं अवकाश पाते उनकी अवस्था देखकर सोचता कि कितने कृतघ्न हैं ये लोग। जो आज हमारे ऊपर विपत्ति देखकर मुँह मोड गए हैं ? क्या यही मित्रता है ? यही रिश्ता-नाता है ? स्पष्ट तो यह है कि उनसे कोई धार्मिक सहायता नही चाहते थे, कोई सेवा नहीं चाहते थे केवल सहानुभूति, मौखिक सहानुभूति चाहते थे, वह भी उन दुष्टों, कृतघ्नों नालायकों की तरफ़ से पिताजी को न मिली ? एकबार मैं जब उनके कपड़े धोकर लौटा तो मैंने देखा कि इनकी आँखों में आँसू छलक आए हैं, मैं एक-दम उनके पास दौड़कर गया किन्तु मैंने देखा कि उनके सामने मेरा गला स्वय रुँध गया है। मैं नीची दृष्टि करके उनके पास बैठ गया।

मुझे अपने पास सरका कर धीरे-धीरे मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बोलेः—'तुम्हे बडा कष्ट होता है बेटा, किन्तु मैं क्या करूँ मैं विवश हूँ। मुझे नहीं मालूम था कि मुझे यह विवशता का दिन देखना पड़ेगा।' फिर वे चुप होगए।

मैंने कहा—'आप कष्ट क्यों मानते हैं बाबू जी ! मैं आपके चरणों में हूँ। आपने मुझे इतना बड़ा किया है, पाला है। आप किसी प्रकार की चिन्ता न कीजिए। कल मैं एक बडे प्रसिद्ध होम्योपैथिक डाक्टर को बुला लाऊँगा। आप ठीक होजायँगे।'

वे बोले—'मैं तुम्हारे ही सहारे जी रहा हूँ बेटा ! मुझे दुख इस बात का है, मेरे बाद तुम्हारी क्या दशा होगी ? रही इलाज की बात सो.. ।' रुक कर कहने लगे—'अच्छा देखा जायगा। तुमने देखा, जिनको मैंने जीवन में सब प्रकार का लाभ पहुँचाया, सब प्रकार का सहारा दिया, वे आज मेरी अवस्था

को देखकर फूटे मुँह से सहानुभूति भी दिखाने को तैयार नहीं हैं। यही संसार का नियम है कदाचित् ।'

वे दिन भर खाट पर पड़े रहते। मैं यथासमय दवा खिलाता, पथ्य बनाता। इसी बीच में एक घटना और हुई। उन इन्स्पेक्टर जाति भाई ने बीमारी में कहने पर एक खाट हमारे घर भिजवा दी थी। इधर जब पिताजी की अवस्था धीरे-धीरे गिरने लगी तब उन्होंने खाट लेने के लिए आदमी भेजा। उन्हें शायद खयाल था कि कहीं ऐसा न हो कि पिताजी की मृत्यु हो जाय और खाट भी खराब हो जाय। मैंने उस आदमी से कहा—'पिताजी की अवस्था ऐसी नहीं है कि वे नीचे सो सकें। इसलिए खाट मैं किसी तरह भी न दूँगा।' बात यह थी कि बीमारी के कारण वे बहुत दुर्बल हो गए थे।

इस पर वह आदमी चला गया और थोड़ी देर बाद आकर कहने लगा। खाट हमको अवश्य चाहिए साहब ! पिताजी ने सुना तो वे बोले अजय बेटा, खाट दे दो। मैं उस आदमी की खाट पर सो नहीं सकता। मैं नीचे ही सोऊँगा। अन्त में हमने खाट उठाकर दे दी और शीघ्र ही मैं अपने मित्र के घर से खाट माँग लाया। उन दिनों बनी हुई खाट कहीं नहीं मिलती थी। बन जाने में समय लगता। मुझे इतना अवकाश ही न था। मेरे मित्र के पिताजी कभी-कभी आते और हमको धीरज बँधाते। उनकी स्त्री चाहती थीं कि हम-लोग खाना उनके घर खा लें किन्तु यह किसी प्रकार सभव नहीं था। इधर माँ की मृत्यु के बाद मैं स्वयं भोजन बना लेता था और पथ्य तथा दवा के लिए तो मुझे आग जलानी ही पडती थी। फिर मैं किसी प्रकार की सहायता लेना नहीं चाहता था। इसी बीच में हमारे एक सबधी के यहाँ से मुझे निमन्त्रण आया तो मैंने स्पष्ट शब्दों में निषेध करते हुए कहाः—

'मैं ऐसे नीचों के यहाँ, जो केवल सुख के साथी हैं, पानी भी नहीं पी सकता।' वह आदमी अपना-सा मुँह लेकर लौट गया।

जब पिताजी ने यह सुना तो वे बडे प्रसन्न हुए और बोले—

'हम लोगों को आत्मगौरव नहीं खोना चाहिए बेटा !' थोड़ी देर बाद देखने आए मित्र के पिता से यही समाचार कहा।

इन दिनों उसी प्रसिद्ध होमियोपैथ डाक्टर की दवा चल रही थी। डाक्टर साहब का व्यवहार बड़ा सहृदयतापूर्ण था। पहली बार उन्होंने फीस ली थी।

आध घंटे तक बैठे बैठे पिताजी को देखते रहे। इसके बाद जब मैं उनके साथ ताँगे पर बैठकर दवा लेने गया तब उन्होंने सारा पूर्व इतिहास पूछ डाला।

एक दिन मेरे दवाखाने में पहुँचने पर बोलेः—

'देखो, बेटा विपत्ति को सहना ही मनुष्य का लक्षण है।'

मैंने उत्तर दिया—'ऐसी क्या बात है डाक्टर साहब, मैं तो समझता हूँ पिताजी अधिक दवा से ठीक हो जायँगे।'

'मैं अपनी तरफ से कोई भी कमी नहीं रहने देता। अच्छी से अच्छी दवा देता हूँ किन्तु।' इतना कह वे चुप हो गए और मेरे मुँह की तरफ देखने लगे। फिर बोले—'लक्षण अच्छे नहीं हैं। तुम बच्चे हो। फिर भी मैं तुम्हें समझाए देता हूँ। जरा सावधान रहना। उनके हाथ-पैरों मे सूजन आ गई है। क्या तुम्हारे और कोई नहीं है जो इस समय यहाँ आ सके?'

मैंने दुखी होकर कहा—'है क्यों नहीं, पर आ नहीं सकते। यहीं मेरी पहली माँ का घर है। किन्तु कोई झाँकता भी नहीं है।'

इस पर वे चुप हो गए और दवा उन्होंने मुझे दे दी। मैं रास्ते भर यही सोचता रहा कि अब अन्त समय निकट है। मैंने चुपचाप लाकर पिताजी को दवा दी। पिताजी ने मुझे उदास देखकर पूछा—'क्या बात है उदास क्यों हो?'

मेरे कुछ भी उत्तर न देने पर वे भी चुप हो गए। इन दिनों पिताजी बहुत कम बोलते थे और चुपचाप पडे सोचा करते। मै यथासभव उनकी सेवा करता रहता। मेरे छोटे भाई की अवस्था लगभग आठ-नौ वर्ष की थी। वह कुछ भी नहीं समझता था। या तो वह पिताजी के पास बैठा रहता या कभी-कभ बाहर लड़कों में खेलने निकल जाता।

एक दिन वह काल-रात्रि आ गई, जिसकी पिताजी धीरे-धीरे चुपचाप प्रतीक्षा कर रहे थे। उस दिन उन्होंने प्रातःकाल ही मेरे मित्र के पिता को बुलाकर उनके हाथ में माँ का अन्तिम गहना देते हुए कहा कि इसको बेचकर रुपया ला दीजिए। मित्र के पिता ने पहले तो टाल-मटोल की फिर वे कपडे में लपेटी और जेब में रखकर चले गये।

दोपहर के समय पिताजी का कष्ट बहुत बढ़ गया और उन्होंने मुझे पास बुलाकर कहाः—

'देखो, बेटा घबराना मत। तुम बुद्धिमान् हो।' इसके आगे वे कुछ न

कह पाए और करवट बदलाने के लिए मुझे आदेश दिया। मैंने उन्हें करवट बदलवा दी। मैं इतना तो जानता था कि पिताजी की अवस्था ठीक नहीं है किन्तु यह मुझे स्वप्न में भी नहीं मालूम था कि आज ही वह समय है जब पिताजी का आशीर्वादी हाथ सदा के लिए मेरे ऊपर से उठ जायगा। इधर दो-तीन दिन से उन्होंने दवा खाकर भी बन्द कर दिया था। केवल पानी पीते थे। सायकाल के समय वे और भी बेचैन हो गए थे। शाम को यथासमय शशी के पिता आए और उनकी अवस्था देखकर घबरा गये।

पिताजी रह-रहकर कुछ बोलते। कभी कोई गीता के श्लोक पढते। कभी बड़बड़ाने लगते। रात को सोने के समय एकदम सज्ञा प्राप्त करके वे कहने लगे। रात को दोनों मेरे पास सोओ, और जागते रहना भला।

हम दोनों ने स्वीकार कर लिया और एक घटे के लगभग जागने के बाद मुझे ऐसी नींद आई कि मैं किसी तरह भी जाग न सका। मुझे मालूम है वैसी नींद मुझे कदाचित् कभी न आई होगी। पिताजी चुप पड़े थे। एक तरफ उनकी बगल में मैं सो रहा था और दूसरी तरफ मेरा छोटा भाई। वे कल तक खाट पर सोए थे। किन्तु हम दोनों को पास सुलाने के कारण उन्होंने आज नीचे ही ज़मीन पर बिस्तर बिछवाया था।

मेरे सोते हुए उनकी क्या अवस्था हुई, क्या वे कहना चाहते थे। पानी माँगा या नहीं, मुझे कुछ भी नहीं मालूम। जब रात के तीन के लगभग मेरी आँख खुली तो मैंने एकदम पिताजी को टटोला। देखा कि वे निर्जीव पड़े हैं। मैंने इतने निकट से किसी भी मृत व्यक्ति को नहीं देखा था। किन्तु इतना जानता था कि मरने पर साँस बन्द हो जाती है। शरीर अकड जाता है। वे सब लक्षण दीये के प्रकाश में मैंने देखे और एकदम मेरे मुँह से चीख निकल गई। उसी समय मैंने छोटे भाई को, जिसके सिर पर वे हाथ रखे थे, जगाया। उससे कहा कि बाबूजी की मृत्यु हो गई हैं। उसे क्या मालूम कि मरना किसे कहते हैं। किन्तु मुझे रोता देखकर वह भी रोने लगा। मैंने एकदम उनके मुँह पर कपड़ा ढक दिया। इधर उस सुनसान रात में मेरा रोना सुनकर पड़ौस के एक आदमी ने बाहर से मुझसे पूछा। मेरा उत्तर देने पर वह किवाड खुलवा-कर भीतर आ गया और उसने हम दोनों को वहाँ से हटा दिया फिर अपनी

घर की वृद्धा को बुलाकर वहाँ बैठाया। शशी के पिता भी आ गए थे। वे भी रात भर बैठे रहे।

प्रातःकाल होते-होते पिताजी की मृत्यु का समाचार मुहल्ले भर में फैल गया। अब वे धूर्त लोग आए और बाहर बैठ गए जिन्होंने उनकी बीमारी में कभी आने का कष्ट नहीं उठाया। कुछ पोले मुँह से शोक करते और कुछ अपनी कथा कहते। उन इन्स्पेक्टर के एक चाचा थे वे प्रथम श्रेणी के चरसी थे। लोगों ने मुझसे कहा कि कफन के लिए इन्हें रुपये दे दो। मैंने दे दिए। जब कई घंटे बीत जाने पर वे न लौटे तब मुझे चिन्ता हुई। शशी के पिता ने कहा, कहीं वह चरस तो नहीं पी गया ? इतना कहने के साथ उन्होंने लड़के को जो भेजा तो उसने आकर कहा कि वह तो चरस में दम लगाकर बगीची में पड़ा है। उसे होश भी नहीं है।'

मैं उस समय होश में नहीं था, फिर भी उस बुड्ढे के चरस पीने की बात सुनकर मुझे हँसी आ गई। हम सभी तो संसार का सुख-दुख मानते हैं। किन्तु जो आदमी नाली का पानी कत्थे चूने में डालकर पान खा जाता है, तथा जो मुर्दे के कफन को लेकर शादी कराने जाता है और दुलहिन को प्रसन्न करने के लिये जो मृत स्त्री के कफन का दुशाला उसे भेंट करता है, उसमें और इस ब्राह्मण में क्या अन्तर है ? यही सोचकर मैं हँस पड़ा।

फिर भी मैं मानता हूँ कई दिन बाद ऐसा सुयोग मिलने पर, भले ही वह उसके एक मान्य की मृत्यु पर दिये गये कफन का पैसा था, उसका ठीक उपयोग न करना कदाचित् उसे सदा ही खटकता रहता। उसने चरस पीकर जो आत्मतोष लाभ किया वह निश्चय ही उपयोगितावाद की दृष्टि से ठीक था। कोई भी उपयोगितावादी जीवित के चरस पीकर जीवन को बनाए रखने की अपेक्षा मृत को कफन देने के पक्ष में नहीं होगा। वही उसने किया। फिर कैसे मैं उसकी निन्दा करता। किन्तु उन बैठे हुए व्यक्तियों ने जो घृणा प्रकाश किया, छी-छी करके उसका अपमान किया, उसने मुझे ज़रा भी प्रभावित नहीं किया। वे लोग मोटे तौर पर यह कहना चाहते थे कि यह कितना अनुचित काम हुआ है। किन्तु मेरी दृष्टि में वे धूर्त अधिक भयंकर थे जो मरने पर समवेदना प्रकट करके अपने पाप को दिखाने के तौर पर धो डालने के लिए वहाँ इकट्ठे हुए थे। क्योंकि उन कृतघ्नों की अपेक्षा वह चरसी स्पष्ट हृदय तो था ही। भले

ही वह उसकी मजबूरी रही हो और जब उस इन्स्पेक्टर ने अपने चाचा के इस जघन्य कृत्य पर जरा भी दुख न मानकर थोड़ा सा मुसकरा भर दिया तब मैंने समझा कि यह व्यक्ति नरक में भी दुख नहीं पा सकता।

मैंने फिर दुबारा एक और आदमी को भेजकर कपडा मँगाया और क्रिया-कर्म हुआ।

उसी दिन शाम की गाड़ी से हम दोनों ननसाल जाने के लिए स्टेशन पर आ गए।

दूसरा अध्याय

१

भूगर्भशास्त्रियों का विश्वास है कि पृथ्वी में जो एक तरह की मिट्टी और एक तरह की चट्टान की तह मिलती है, उससे सृष्टि के जीवन के एक युग का पता लग जाता है। हरप्पा, मंहेजोदड़ो, तक्षशिला के पृथ्वी से निकले भग्नावशेषों में जीवन का कंकाल कितना रूखा मिला है, कितना स्मृतियों से आप्लुत ! उस समय की प्रत्येक घटना में मनुष्य के प्रत्येक आह्लाद की कितनी वैभव पूर्ण चेष्टाएँ कंकालों, भग्नावशेषों, स्तरों, स्तूपों के साथ जुडी हुई, पर कितनी फीकी मिलती हैं यह वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने उन्हें एक बार पढने की चेष्टा की है; कल्पना के रंगीन सौन्दर्य पर मानव जाति की भावनाओं को पहचानने की इच्छा की है।

ठीक इसी तरह मनुष्य के जीवन के प्रत्येक अध्याय में स्मृतियों का जाल बिखर जाता है। मनुष्य की आँखों में उसका महत्त्व कितना अधिक होता है। फिर मैं भी कैसे कह दूँ कि शैशव के प्रथमाध्याय को मैं बिलकुल भूल गया हूँ। हमारे जीवन में, हमारे ही क्या मनुष्य जाति के जीवन में एक ही बात रही

है कि हम न सुन्दर को रख सके हैं न अशुभ को आने से रोक सके हैं। हम जीवन की नदी में, काल की नाव पर बैठकर बहते चले जा रहे हैं। जैसे उस नाव को रोक सकना हमारी शक्ति के बाहर है। सहसा विश्वास के होते हुए भी कोई चप्पू कोई डॉड ऐसी नहीं है जो उसे एक मिनट के लिए भी रोककर पथ में आनेवाले महान् दृश्य को देखने के लिए हमें स्थिर कर सके। हम हलके पानी में मस्त होकर नहाते हुए बालकों का क्रीड़ाविलास भी न देख पाये कि नाव आगे बढ़ गई। सृष्टि के सौन्दर्य को तिरोहित करनेवाले, प्रकृति के प्रपातों, ललनाओं के कामविलासों, तपस्वियों के तपोवनों को देखते हुए चले जा रहे हैं। रुक नही सकते ? कोई रोक नहीं सकता ?

इधर मैंने माता-पिता से भाषा, सस्कार, बल, चलने की शक्ति पाकर जैसे उन्हे सबको पीछे खदेड़ दिया और अब मैं, केवल मैं ससार के अथाह सागर में तैरकर पार जाने या बीच ही में थककर कहीं डूब जाने के लिए उतर पड़ा हूँ। मुझे उन सबको पीछे छोड़ आने में कितना दुख हुआ ? कितना निर्बल, अशक्त मैं अपने को जानने लगा हूँ। उन सबकी आवृत्ति न करके कोई नवीनता ला सकने की सभावना से दूर जाकर मैं इतना ही जान पाया कि मैंने जितना कष्ट भोगा, उसने मुझे दुख के साथ एक नई शक्ति भी संसार के मैदानों, उबड़ खाबड़ भूमि को पार करने की दी। कौन कह सकता है कि दिन और रात की बारह-बारह घण्टों की कई मोटी तहों में मेरा दुख दब नहीं गया। उसकी एक झीनी, पतली स्मृति रह गई, जो कभी दुख पाने पर और कभी एकान्त में बैठकर ध्यान आ जाने पर हृदय की भावनाओं को पीसती हुई निकल जाती।

अब मैं अकेला था, बिलकुल अकेला। कभी-कभी लगता कि कभी मेरे साथ कोई रहा ही नहीं। शायद वह एक स्वप्न था। जिसमें गभीर धवल पिता की सद्भावना, संसार में खोजने पर भी न मिल सकनेवाली शान्त, स्निग्ध, प्रेम-पूर्ण, दयामयी माता की आकृति तथा अन्य बातों की स्मृतियाँ एक झोंके की तरह आईं और स्वप्न के बाद जागृति की तरह धूमिल हो गईं ! प्रत्यक्ष जीवन का बड़ा सत्य है। वह जहाँ भूत को भुला सकने की क्षमता रखता है वहाँ भविष्य के लिए आशाएँ बोकर मनुष्य को काँटों में दौड़ाने, लहरों पर ...ने, भँवरों से निकल भागने की सामर्थ्य भी देता है।

पिताजी के क्रिया-कर्म के बाद रेतीले मैदान में उगे हुए बबूल के वृक्ष की तरह मैंने अपने को निस्नेह काँटों का ताज पहने पाया। भाई और बहन निर्बलाश्रित नानी के आश्रम में चली गयी थीं। नानी अपने पति की मृत्यु के बाद साधारण परिस्थिति के भाई के आश्रम में आकर रहने लगी थीं। हम लोग नानी के भाई को भी नाना ही कहकर पुकारते थे। उनके पास कुछ ज़मीन थी। उसके सहारे अविवाहित वे नाना जीवन का भार ढो रहे थे। दो निराश्रित व्यक्ति जैसे एक दूसरे से मिल गए थे, वैसे ही हम लोग भी वहीं जमा हो गये। नानी को तो हमसे स्नेह था ही किन्तु नाना एकदम मौन रहने की प्रतिज्ञा करके जीवन-क्षेत्र में उतरे थे। इसलिए उनके स्नेह की अभिव्यक्ति कभी नहीं हो पाई थी। वे बहुत कम बोलते। जब बोलते तो अव्यक्त वाणी में बहुत जल्द बोल जाते, इसलिए जब तक उनकी भाषा समझने का अभ्यास न हो तब तक कभी-कभी यह भी नहीं मालूम होता था कि यह मनुष्य की वाणी है या कोई मशीन की गड़गड़ाहट। पढ़े-लिखे भी वे अधिक न थे। मेरा विश्वास है कदाचित् वे बिलकुल भी पढना-लिखना नहीं जानते थे। क्योंकि मैंने उन्हें कभी कुछ भी पढते-लिखते नहीं देखा था। घुटनों तक धोती, आधी बाँह की बण्डी और एक कान तक का लम्बा लट्ठा और दुपलिया सफ़ेद टोपी। बस, यही उनकी पोशाक थी। जाड़ों में वे एक कुरता और पहनते। व्यवहार में अजातशत्रु थे। साधारण परिस्थिति के होते हुए भी मैंने देखा कि क़सबों के बड़े-बड़े आदमी उनका मान करते थे। वह क़सबा मुकदमों के लिए प्रसिद्ध था किन्तु नाना को हमने कभी किसी की गवाही देते नहीं सुना। उनका कहना था कि 'मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा।'

मेरे सामने की तो बात नहीं है, सुनता हूँ कि एकबार उन्होंने किसी मुक़दमे में गवाही दी थी। उनकी तरफ का आदमी बहुत साधारण था। इतने पर भी केवल नानाजी की गवाही से वह जीत गया था। यह बात दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी कि उन्होंने जीवन में कभी झूठ नहीं बोला।

मैं पिता-माता के साथ बचपन में एकाध बार इधर आया था, इसलिए उनकी प्रकृति, रहन-सहन का मुझे बिलकुल ज्ञान न था। इस बार भाई के साथ जब मैं उनके द्वार पर पिताजी की मृत्यु का समाचार लेकर पहुँचा तब वे सब कुछ सुनकर भी वैसे ही बैठे रहे। नानी तो रोईं भी, किन्तु कहे जाने

वाले नानाजी तो वैसे ही बैठे रहे। उनको जडवत्, मौन देखकर पहले तो मैंने समझा कि कदाचित् उन्होंने हमारा आना बोझ ही समझा। किन्तु भविष्य के दुर्भिक्षों, महँगाइयों, अभावों में भी उन्होंने चट्टान की तरह अडिग रहकर जब हमसे कुछ न कहा तब मैंने मन-ही-मन एकबार नहीं कई बार सोचा जैसे इस व्यक्ति ने अथाह समुद्र-सा गभीर हृदय पाया है। गर्मियों में दोपहर के समय, वे मन-डेढ-मन का चरी का गट्ठा सिर पर रखे आते, जाड़ों में प्रातःकाल उठकर हल-बैल लेकर खेत जोतने चले जाते। चार बजे लौटकर आते, रात को खुले में सोते, सत्तर वर्ष की अवस्था में दिन भर अथक परिश्रम करके भी मैंने उन्हे कभी बीमार होते, सिर दर्द का बहाना करके लेटते न देखा था।

पास पड़ोस में इतनी बहू-बेटियों के होते हुए भी उन्होंने कभी किसी की तरफ आँख उठाकर नहीं देखा। ऐसा प्रायः लोगों से सुनकर मैं सोचता था। क्या सचमुच ऐसा निरीह, तपस्वी मौन व्यक्ति इस कलियुग में सभव है? जितने दिन मैं वहाँ रहा, न उन्होंने मुझसे किसी काम के लिए कहा और न मैंने खेत का कोई काम ही किया।

सबेरे आठ-नौ बजे तक सोकर उठता। मुँह-हाथ धोकर कुछ जल-पान करता और क़सबे में मटर गश्ती के लिए निकल पड़ता। मेरे जैसे आवारा-गर्द को मित्र भी ऐसे ही मिल गए थे। उस समय जीवन में न कोई उद्देश्य था न नियत्रण। नाना स्वय नहीं समझ पाते थे कि मेरे सबध में वे क्या सोचें। नानी स्नेह और वात्सल्य से पूर्ण होने के नाते कुछ नहीं कह पाती थीं। जो कुछ भी वे कभी कहतीं मैं बातों-ही-बातों में उनकी बातें टाल देता। आप-पास की स्त्रियों में बैठकर वे हम लोगों के भाग्य पर तरस खातीं और मृत लड़की (मेरी माता) के स्मृति स्वरूप हमें समझकर बडे प्यार-दुलार से रखतीं।

जो मित्र मुझे मिले थे, उनमें एक मुझसे भी हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति था बेदू। नाम तो उसका था वेद प्रकाश पर 'वेदू' कहकर हम सब उसे पुकारा करते। वह क़द में मुझसे तीन इंच ऊँचा और भारी भरकम व्यक्ति था। उसके दो भाई खेती करते थे। वह घर पर गाय-भैंस की सानी करता, सुबह-शाम दूध ६ लेता और दिन भर मटरगश्ती करता था। वैसे उसे व्यसन या शौक़ तो

कोई भी न था, कुश्ती लड़ने में तेज था। खाता भी वह खूब था। दो ढाई सेर दूध पी जाना उसके लिए साधारण बात थी। मौसम में हम लोग खेतों पर चले जाते और बाजरे की बालें भूनकर खाते। कभी-कभी वह गाता भी था। दूसरा लडका था रामधन। धन्नू जन्म का आवारा अपनी माँ का अकेला पुत्र था। घर में कुछ जमीन थी। पिता मर चुका था। माँ और बेटे दोनों ही रहते थे। माँ ही आधबटाई पर ज़मीन दे देती थी। कुछ सीर भी होती थी। किन्तु घर में क्या होता है, किस बात की कमी है इसकी धन्नू को कोई चिन्ता नहीं थी। वह केवल वेदू के साथ दिन भर घूमा करता था। धन्नू की माँ को एक ही चिन्ता थी कि उसका ब्याह किसी तरह हो जाय तो घर बसे।

एक दिन हमलोग धन्नू की बैठक में बैठे थे कि उसकी माँ कुछ और कच-रियाँ लिए आ पहुँची। उसने बडे प्रेम से हमको वे वस्तुएँ खाने को दीं। हमारे खाते-खाते उसने कहा—

'धन्नू, दीनापुर से आज सबेरे एक आदमी आया है। वहाँ रामप्रसाद सुकुल के यहाँ एक बिटिया है, उसी के लिए। वे चाहते हैं कोई घर मिल जाय तो इसी साल अगहन में ब्याह कर डाले। सुना है बड़े अच्छे आदमी हैं। जायदाद भी बहुत है।'

'तो कर न डालो चाची, रामधन तो रोज कहता है कि मेरा ब्याह ही अम्मा नहीं करतीं।'

वेदू ने उत्तर दिया। फिर बोला—'हम तो बरात में जाने के लिए आज तैयार हैं। वह शुभ घड़ी आवे तो।'

'आज ही शाम को कह गया है। सोचती हूँ खाना भी खिला दूँ। इधर वह रामधन को भी देख लेता।'

'रामधन-जैसा लडका मिलेगा कहाँ? सिर्फ मुँह पर जरा चेचक के दाग हैं। सो वह तो कोई बात नही है।' मैंने कहा—'दाग मन पर नहीं होना चाहिए। मुँह पर दाग होने से तो मनुष्य और भी खिल उठता है क्यों अम्मा!' वेदू ने कहा। कहने को तो हम दोनों न जाने किस झोंक म कह गए किन्तु माँ के ऊपर इन बातों का क्या प्रभाव पडा। यह उस समय मालूम हुआ जब लम्बी साँस खींच माँ वहाँ से चली गई। धन्नू ने भी इसे बुरा समझा और उसने डपटकर कहा—

"चुप रहो। मेरे घर में ही मेरी निन्दा करते तुम्हें लाज नहीं आती।'

वेदू ने जवाब दिया—'तो यहाँ किसी के दबैल नहीं हैं। जो बात कहेंगे सौ में कहेंगे।'

मैंने कहा—'ब्याह के समय तो तुम्हें यह बात नहीं कहनी चाहिए वेदू।'

'हाँ हाँ, यह माना! अच्छा भाई धन्नू ब्याह में हमें ले तो चलोगे न!'

'क्यों नहीं। पर बात यह है मुझे डर लगता है। कहीं ब्याह की बात रह न जाय?'

'नहीं, ऐसा क्यों होगा? जरा झुटपुटे में मिलना। रेशमी कुरता मैं ला दूँगा। ढीला पाजामा भी।' मैंने समझाया।

दूसरे दिन सबेरे कपड़े लौटाते हुए धन्नू ने आकर खुशी-खुशी कहा—

'भैया, उसने मुझे पसन्द कर लिया है। तुम्हारे कपड़ों के कारण मेरी धाक जम गई। उसने जाते हुए कहा था, ऐसा लड़का दीपक लेकर ढूँढने पर भी न मिलेगा। अब तो विश्वास है मेरा ब्याह हो जायगा।'

'क्यों न होगा?' मैंने उत्तर दिया। इसके साथ ही हम दोनों वेदू के घर चल दिये।

इधर क़सबे में एक आर्य-समाज का मदिर था। वहाँ एक पाठशाला भी थी। उसके अध्यापक से भी मेरा परिचय हो गया था। वे बड़े साधु स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने मेरे पिताजी को देखा था। वे उनका मान भी करते थे। कुछ दिनों से मुझे इस तरह के लड़कों के साथ घूमते देखकर उन्होंने कई प्रकार के उपदेश दिए।

मैं भी कभी-कभी एकन्त में पड़ा सोचता कि यह सब क्या है? क्या इसी तरह मुझे रहना है?

कभी-कभी मुझे विचार आता कि मैं पतन की ओर जा रहा हूँ। परन्तु ये विचार घंटे दो घंटे से अधिक नहीं रह पाते थे। वेदू और धन्नू के घर में दाखिल होते ही मैं सब भूल जाता। और उनके साथ बाहर निकल जाता। उसी दिन धन्नू की माँ ने बताया कि दीनापुर के आदमी से ब्याह की बातचीत एक तरह पक्की हो गई है। बस, दो-चार दिनों में टीका आनेवाला है। उस दिन धन्नू की माँ ने हम सब का मुँह मीठा भी कराया। उसी दिन शाम को जब मैं घूमकर लौटा तो नानी ने बताया कि कमलिनी मुझे तीन बार पूछ गई है।

मेरे पूछने पर उन्होंने बताया कि परसों सब लोग गंगा नहाने जा रहे हैं।

मुझे भी साथ ले जाने को कहती थी। कमलिनी का कुछ परिचय देकर आगे बढना ठीक होगा। कमलिनी इसी गाँव की लडकी है। वह हमारे पड़ोस में ही रहती है। गाँव के नाते में मेरी मौसी लगती है। मैं भी उसे मौसी कहता था। उसका व्याह दस साल हुए पास के एक नगर में हुआ था। वह आदमी पागल हो गया था। इसी से कमलिनी उसे छोड़कर चली आई। इधर उसके तीन भाई थे। तीनों काफी कमानेवाले थे। वे कमलिनी को चाव से रखते थे। उन्हीं की देख-भाल में कमलिनी अपने यौवन के उभार को दबाए पड़ी थी। उसके सबध में कभी किसी ने नहीं सुना। कहते हैं, एक बार उसका पागल पति उसे लेने आया था किन्तु भाइयों ने उसे साथ भेजना स्वीकार नहीं किया। इस पर जाते हुए उसने कमलिनी के सिर पर बडे जोर डडा मारा जिससे माथे में गहरा घाव हो जाने के कारण उसे कुछ दिनों तक अस्पताल में रहना पडा। घाव तो अच्छा हो गया पर अपना प्रभाव छोड़ गया।। एक तो उसके सिर में गहरा निशान हो गया, दूसरे उसे कभी-कभी मानसिक विकार हो जाता। कभी-कभी वह प्रलाप करने लगती। अपने कपडे फाड़ डालती। प्रायः गर्मी के दिनों में उसे यह बीमारी हो जाती थी।

थोड़ी देर बाद कमलिनी फिर आई और बिलकुल मुझसे सटकर बैठ गई। मेरे कधे पर हाथ रखकर उसने मुझे नशीले नेत्रों से देखते हुए पूछा—

'हम लोग परसों गगा नहाने जा रहे हैं। भैया कहते हैं तुम भी चलो। बोलो चलोगे ?'

गगास्नान उस तरफ बडे ज़ोरों से मनाया जाता है। वेदू भी जाने की तैयारी कर रहा था, यह बात उसने मुझसे कही थी कि बैलगाड़ी पर हम लोग जा रहे हैं। किन्तु उसके साथ उसके भाई और भौजाइयाँ भी जा रही हैं। इस-लिए मैंने इच्छा रहते भी मना कर दिया था। इस बार कमलिनी की ओर से प्रस्ताव सुनकर इच्छा हो आई।

मैंने उत्तर दिया—'तुम्हारी गाड़ी में मेरे लिए जगह ही कहाँ होगी ? आखिर नानी भी तो जायँगी।'

नानी ने बीच ही में टोककर कहा—'भैया मैं कैसे जा सकती हूँ। तेरे नाना को तो जाना है नहीं। मैं चली जाऊँगी तो उनके खाने-पीने का कौन ध्यान रखेगा ? तू ही चला जा।'

वास्तव में बात यही थी, मैं नहीं चाहता था कि नानी गंगास्नान को जायँ। उनके साथ मेरी बहन और भाई भी तो थे। इधर कमलिनी के हाव भाव मैं किसी तरह भी नहीं जान पाया था। जब मैं घर होता तो वह किसी न किसी बहाने आकर मेरे पास बैठ जाती। वह उम्र में मुझसे कोई दस-बारह साल बड़ी होगी। ऐसी कोई सुन्दर भी नहीं थी। इस पर उसके माथे के गहरे घाव ने उसे और भी उपसुन्दर बना दिया था। उसके गाल और ठोड़ी पर फोडे का निशान था।

मेरे हृदय में किसी प्रकार का भी उसके प्रति आकर्षण न था। कभी-कभी उसके मेरे ऊपर हाथ रखने पर मैं उसका हाथ झटक देता था। उस समय जब उसने मेरे कंधे पर हाथ रख आग्रह के स्वर में कहा तो मैंने फिर हाथ झटककर उत्तर दिया—

'नहीं, मैं किसी तरह भी गंगा-स्नान करने नहीं जा सकता।' और उठकर भीतर के कमरे में चला गया।

पीछे नानी से ज्ञात हुआ कि वह रुआसी-सी होकर चली गई। नानी ने रात को काम धंधों से निश्चिंत होकर खाट पर लेटते-लेटते कहा—

'बेटा, तू क्या जाने तेरी माँ का विचार करके ही कमलिनी तुझे अपना समझती है। कैसी अभागी है बिचारी। पति पागल हो गया। अब भाइयों के सहारे ही अपनी जिन्दगी के दिन काट रही है।'

मैंने करवट बदलकर उत्तर दिया—'नानी, कमलिनी मुझे किसी तरह भी अच्छी नहीं लगती। वह जब देखो तब मेरे पास आकर मुझसे सटकर बैठ जाती है। मेरे कंधे पर हाथ रखकर बात करती है। क्या मैं इसका बच्चा हूँ?'

'हाँ, वह तुझे अपना बच्चा समझती है। तुझे नहीं मालूम वह कई बार मुझसे कह चुकी है कि पति के बाद जायदाद का अधिकारी मैं अजय को ही बनाऊँगी।'

'किन्तु मैं तो उसका बच्चा बनने को तैयार नहीं हूँ।'

'तो इसमें बुराई ही क्या है?'

'और भलाई क्या है।'

'सुन, तुझे नहीं मालूम तेरी माँ ने इसको बडे लाड़-प्यार से रखा है। बड़ी होती हुई भी वह इसे अपनी छोटी बहन समझती थी। यह भी उसके संकेत

पर जान देने को तैयार रहती थी। एक बार उसे बुखार आ गया तो यह उसके पास से हिली तक नहीं।'

'किन्तु माँ ने इसका जिक्र तो कभी किया नहीं।'

'माँ ने मेरा ही जिकर कितने बार किया होगा। न जाने मैं निगोड़ी क्यों बैठी रही और मेरी सोने की चिड़िया उड़ गई।' इतना कहते ही उनका स्वर भारी हो गया।

इसके बाद उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा। मैं पडा-पडा कभी कमलिनी के संबंध में, कभी अपने पिछले जीवन के सबध में सोचता रहा। उस समय मुझे अपने पिता के गौरव, वश, मर्यादा, वैभव का विचार रह-रहकर आता था। मुझे ऐसा लगने लगा, जैसे मैं अपने पिता की इच्छाओं के विरुद्ध पतन की ओर जा रहा हूँ। पतन, पतन, पतन।

यही सोचते-सोचते मेरी न जाने कब आँख लग गई।

दूसरे दिन बहुत सवेरे उठा और बाहर कुएँ पर नहाने के लिए चला गया। नगर के बाहर एक बाग था। वहाँ नित्यप्रति कुछ लोग नहाने जाते थे। मैं स्वभाव के विरुद्ध जब पहुँचा तो देखा वेदू एक वृक्ष के नीचे व्यायाम कर रहा था। कोई लोटा लेकर शौच जा रहे थे। कोई नहा रहे थे। कई लोग कुएँ के पास दालान मे बैठे संध्या कर रहे थे। मैं शौचादि से निपटकर जब दातुन कर रहा था तभी वे समाजमदिर की पाठशाला के पडितजी सध्या करके उठे और मुझे देखकर कहने लगे—

'हाँ, भले घर के लड़कों का यही काम है।' इतना कहते-कहते वे मेरे पास आ गए।

मैंने उधर मुँह करके उन्हें प्रणाम किया।

उन्होंने पास आकर मुझे बहुत ऊँच-नीच समझाया और कहने लगे—'तुम्हारे पिताजी बडे प्रतिष्ठित, कर्मकाण्डी व्यक्ति थे। क़सबे में जब कभी वे आते थे, तो हम लोग उनके दर्शन करने जाते थे। तुम्हे उनकी मर्यादा में बट्टा न लगने देना चाहिए। आजकल तुम क्या करते रहते हो? सुना है तुम्हारी सगति बहुत खराब है?'

मैं क्या उत्तर देता, चुपचाप सुनता रहा। अन्त में वे मुझे समाजमदिर में आने का आग्रह करके चले गए। वेदू आकर मेरे पास बैठ गया। उस दिन

चाहिए। वहीं विद्यार्थी पढ़ते थे। किन्तु उस समय छुट्टी हो जाने के कारण पडित जी एक खाट पर पड़े खर्राटे ले रहे थे। उनके पास ही एक सन्यासी दूसरी खाट पर कंबल बिछाए पड़े थे। सन्यासी महाशय आवश्यकता से अधिक लबे थे। उनकी लंबाई इसी से ज्ञात हो रही थी कि उनका एक पैर खाट से एक फुट आगे तक फैला हुआ था। मैंने बैठे बैठे देखा कि वे कभी एक पैर फैलाते कभी दूसरे को। फिर दोनों पैर सिकोड़ लेते।

मैं जब पहुँचा तो सन्यासी को प्रणाम करके सामने एक ओर खाली खाट पर बैठ गया।

संन्यासी ने नमस्ते की और चुप हो रहे। इतने में खुर्राटे बन्द करते हुए पंडित जी ने जो करवट बदली तो एकदम मुझे देखकर कहने लगे।

'आगए?'

'जी?'

'स्वामीजी ये हैं जिनके सबन्ध मे मैं आपसे कह रहा था।'

स्वामीजी ने मेरी ओर देखा और अच्छा कहकर चुप हो गए।

पंडित जी फिर बोले 'बड़े कुलीन वश के हैं ये।'

स्वामी जी ने एकदम श्लोक पढा—

रूप यौवन सपन्ना विशाल कुल संभवाः
विद्या हीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः।

मैं चुप था कि बात क्या है। फिर पंडित जी बोलेः—

स्वामीजी कहते हैं जीवन को व्यर्थ मत खोओ।

मैंने भौंहों को चढ़ाकर कहा—'जाता हूँ। बस?'

स्वामीजी जो इस समय तक खाट के आगे का भाग पैर से नाप रहे थे उठकर बैठ गए और बोले—'जब जानते हो तो करो।'

मैंने उसी दृढ़ता से उत्तर दिया—'क्या करूँ?'

'मनुष्य जीवन बडा अमूल्य है। इसका सदुपयोग करो। पढ़-लिखकर धर्म की, देश की सेवा करो भाई।'

इसके बाद वे फिर बोले—'मैं वंश, मर्यादा, कुलीनता में विश्वास नहीं करता। मैं तो यह मानता हूँ, नीच वंश का उत्तम विद्या को पाकर ऊँचा ब्राह्मण सकता है। आर्यसमाज का तो यह सिद्धान्त है।'

पडितजी ने कहा—'यह ठीक है किन्तु कुलीनता भी महत्त्व की वस्तु है। अपेक्षाकृत उस नीच वश के लड़के से अच्छे वश का शीघ्र उन्नति कर सकता है। मैं तो विद्यार्थियों को नित्य ही देखता हूँ। उन जाटों, किसानो के लडकों से ब्राह्मणों-क्षत्रियों के लडके जिनके घर में परम्परा से शिक्षा चली आ रही है, शीघ्र उन्नति करते हैं।

'किन्तु आर्यसमाज तो यह नहीं मानता!'

'तो आर्यसमाज यह भी तो नहीं कहता कि वश का कोई महत्त्व ही नहीं है। वह तो गुण, कर्म, स्वभाव से ही सब कुछ मानता है। स्वभाव ही यहाँ हमें अभिप्रेत है। स्वभाव दो प्रकार का है, एक वशगत और दूसरा वातावरण से उत्पन्न।'

स्वामीजी बोले—'दयानंद ने जो कुछ कहा है, यह बात उसके विरुद्ध है?'

पडितजी ने पूछा—'कैसे?'

मैं बीच में ही बोल उठा—'क्या स्वामी दयानद ने जो कुछ कहा वही सर्वथा नितान्त है। शेष सब अनर्गल और अमान्य है? यह तो स्वयसिद्ध बात है कि स्वभाव दो प्रकार का होता है। निश्चय ही व्यापारी का लडका अच्छा व्यापारी हो सकता है। पढ़े-लिखे ब्राह्मण का लड़का अपठित व्यक्ति के लडके से ज़ल्दी पढ-लिख जायगा। यह दुराग्रह के सिवा कुछ नहीं है।'

पडितजी को भी यह सह्य नहीं था कि मैं इतना आगे बढ़ जाऊँ। इसलिए बात को समाप्त करने के ढग में बोले—

'स्वामी दयानद इस युग के सबसे महान् पुरुष थे।'

'परन्तु उनसे गलती भी तो हो सकती है।' मैंने टोकते हुए कहा।

स्वामीजी जो अब तक चुप थे, एकदम उबल पडे और खड़े होकर बोले—'मुझे नहीं मालूम था कि यहाँ आर्यसमाज के रूप में पोप बसते हैं।' मैं बोला—'मैं तो आर्यसमाजी हूँ नहीं स्वामीजी! मैं आज दूसरी या तीसरी बार यहाँ आया हूँ। रही पडितजी की बात सो आप और यह समझ लें।'

स्वामीजी ने उसी उग्र रूप से कहा—'मैं तो सदा से कहता रहा हूँ कि पोपों से देश का उद्धार नहीं हो सकता।'

मैंने कहा—'स्वामी दयानंद भी तो ब्राह्मण और पोप ही थे।'

स्वामीजी बड़बड़ाते हुए उठकर चले गए। पडितजी बडे घबराये और बोले—

'यह बुरा हुआ। यह दुष्ट अब मेरा पीछा न छोड़ेगा। सब लोगो में मेरी निन्दा करेगा।'

उसी दिन साँझ को आर्यसमाज का साप्ताहिक सत्सग लगनेवाला था। मैं यथासमय आ पहुँचा। स्वामीजी का व्याख्यान हो रहा था। मुझे देखते ही उन्होंने दिन की बात छेड़ दी और अप्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मणों को बुरा-भला कहने लगे। जब कहने से भी उन्हे सतोष न हुआ तो गालियो पर उतर आए। मत्री ने व्याख्यान के बाद सफाई पेश की।

पडितजी तो कुछ न बोले—मुझसे न रहा गया मैं उठकर खड़ा हो गया। किन्तु मत्री ने यह कहकर कि अब समय नही है, मुझे बोलने से रोक दिया। आरती के बाद मैंने स्वामीजी से पूछा—'क्या गालियाँ देने से धर्म का प्रचार हो सकता है। स्वामी दयानद ने तो कभी किसी को भी गाली नहीं दी।'

वास्तव में मुझे नहीं मालूम था कि स्वामी दयानंद ने गाली दी या नहीं। मैं आर्यसमाज के सिद्धान्तों से बिलकुल अनभिज्ञ था। इतने पर भी मैंने देखा कि कुछ लोगों को छोडकर शेष सबने स्वामीजी के व्याख्यान को नापसन्द किया था। उन्हीं मे से एक ने बताया कि ये महाशय जाट हैं। पढ़े-लिखे तो हैं नहीं। कुछ लगन कहो या भोजन के लिए सन्यासी हो गए हैं। स्वय मत्री ने हम सबके सामने स्वीकार किया कि स्वामीजी का इस प्रकार बोलना अनुचित था। पीछे से मालूम हुआ कि समाज के सभासदों ने पडितजी से आर्यसमाज के विरुद्ध बोलने की कैफियत माँगी थी। समाज-मदिर से उठते ही बेदू दरवाजे के सामने मिला। मैंने एकदम बिना सोचे उससे कह दिया—'मैं गगा-स्नान को नहीं जाऊँगा।'

बेदू बिना आगे कुछ कहे एकदम लौट गया। उसके जाने के बाद मैंने मन-ही-मन कहा कि मुझे बेदू को इस तरह का उत्तर नही देना चाहिए। किन्तु न जाने क्यों उस दिन मुझे ऐसा लग रहा था, ऐसे आदमियो की सगति में मुझे नहीं बैठना चाहिए। इसीलिए सवेरे भी मैं उससे सीधे मुँह नही बोला था।

मैं इतना ही कह सकता हूँ कि बेदू पढा-लिखा तो अवश्य बहुत नही था। किन्तु और उसमें कोई बुराई नहीं थी। यही बात भन्नू के विषय मे भी कही जा सकती है। दोनों ही लड़के बहुत सीधे, दूसरो के दुख-सुख मे काम आनेवाले

थे। स्वय धन्नू ने कई बार माँ से चुराकर मुझे रुपये लाकर दिये थे और मैंने उन्हें ले लिया था। मैं ही कौन बहुत पढ़ा-लिखा था। पाठक कह सकते हैं कि वेदू और धन्नू की अपेक्षा मैं बहुत गिरा हुआ और स्वार्थी था। ऐसा उन्हे कहने और समझने का पूरा अधिकार है। उन दोनों की दृढ धारणा थी कि अजय न केवल पढ़ा-लिखा ही है वरन् समझदार भी हम दोनों से अधिक है। मैंने कई बार अनुभव किया कि वे दोनों जैसे मुझे पाकर अपने को धन्य मानते हों। यह उन दोनों की सहृदयता भोलापन ही कहा जाना चाहिए कि उन्होंने मुझे ऐसा समझा। अन्यथा मैं धन-जन-हीन, असहाय मनुष्य उनके मुक़ाबिले मे किसी तरह भी नहीं ठहर सकता था। इसका कारण यह भी हो सकता है कि मैंने शहर की हवा खाई थी। कुछ भी हो, मैं यही सोचता-सोचता वेदू के घर की ओर चल पड़ा। पंडितजी का मकान भी उधर ही था। घर पर आवाज़ लगाने पर ज्ञात हुआ कि वेदू नहीं है। वेदू की बड़ी भौजाई ने मुझे भीतर बुलाकर पूछा—'क्यो भैया, सुना तुम भी गगा-स्नान को चल रहे हो।'

'चलो न ? देखो वेदू एक दूसरी गाड़ी ले जाने की तैयारी कर चुका है।'

मैंने कहा—'हाँ भाभी चल तो रहा हूँ। इसीलिये वेदू के पास आया था।'

इतना कहकर मैं घर की ओर लौट पड़ा।

घर में आने पर सुना कि कमलिनी और उसके घरवाले रात के दो बजे गाड़ी पर सवार होकर चल देंगे। कुछ और भी गाडियाँ उस समय जायँगी। मैंने देखा कि प्रायः लोगो के द्वार पर गाडियाँ खडी हैं और लोग उनमे सामान रख रहे हैं। कमलिनी के घर भी खूब चहल-पहल थी। घर की स्त्रियाँ और स्वयं कमलिनी बिस्तर आदि सामान ला-लाकर गाडी में सजा रही थी। सबसे नीचे भूसा भर गया था। उसके ऊपर दरी गद्दे बिछाए गए थे। एक तरफ एक छोटा-सा ट्रक रखा था। मुझे देखते ही वह (कमलिनी) न जाने क्या भीतर भाग गई और इतने मे उसके भाई आकर मुझसे पूछने लगे—'तुम्हारा सामान कहाँ है ?'

मैंने कहा—'कैसा सामान ?'

'तो चलोगे नहीं ?'

'अभी तो कोई विचार नहीं है।'

'तुम्हारी इच्छा कमलिनी ने कहा था कि तुम जाना जाहते हो। इसीलिए मैं घर पर गया था। क्यों कोई अटकाव है क्या ?'

मैं बिना उत्तर दिए घर लौट पड़ा। उस समय क्रोध से मेरा तमाम शरीर जलने लगा। मैंने आते ही नानी से गर्जकर कहा—

'इसी बूते पर तुम कहती हो कि कमलिनी मुझे अपना समझती है ?'

'क्यो क्या हुआ ?' उन्होंने उत्सुक होकर मेरी ओर देखते हुए प्रश्न किया।

उसने झूठमूठ अपने भाई से कह दिया कि मैं स्वय गगा नहाने जाना चाहता हूँ।

'तो तूने कभी कहा होगा।'

'मैं क्यों कहने लगा। मुझे जाना होता तो बीस आदमी मुझे ले जाने को तैयार हैं।'

'तो कमलिनी के भाई भी तो तुझे ले जाने को तैयार हैं।'

'नही, मैं नही जाऊँगा।'

'तेरी इच्छा!' इतना कहकर नानी अपनी खाट पर लेट गई। मैं भी दालान में खरहरी खाट पर ही लेट गया। एक बार नानी ने कहा भी कि बिस्तर बिछा ले, किन्तु मैंने कोई ध्यान नही दिया। मैं पड़ा-पड़ा दिन भर की घटनाओं को सोचता रहा। मुझे झपकी आगई। इसी बीच में कुछ जोर की बातचीत सुनकर मेरी आँख खुल गई। मैंने देखा कि नानी की खाट के पास कमलिनी तथा उसकी दो भाभियाँ खड़ी हैं। नानी कह रही थीं कि वह नाराज होकर सोया है। वह अब नही जायगा, तुम जाओ। कमलिनी चुप थी। उसकी बड़ी भाभी कह रही थी नहीं, मैं जगाकर उन्हें ले जाऊँगी। वे गाँव के आदमी हैं, उन्हे बात करना नहीं आता। मैं स्वयं उससे माँफी माँग लूँगी। न जाने क्यों नानी स्वयं नहीं चाहती थी कि मुझे जगाया जाय। मैं उस समय पडा सोच रहा था, यदि अब इन्होंने मुझे जगाया तो मैं चला चलूँगा। बाहर कमलिनी के भाई खडे उन्हीं को बुला रहे थे। जब कोई भी उपाय उन्हें न सूझा तो वे चुपचाप चली गईं। अब मेरे जाने का कोई भी उपाय नहीं था। मैं सदा से अनुचित, अभिमानी और अक्खड़ रहा हूँ और सुयोग से लाभ उठाने का ध्यान नहीं किया। बात यह है, इस संसार में दो तरह

के मनुष्य होते हैं, एक वे जो क्रोध और अपमान की कुछ भी परवाह किए बिना अपना काम निकालने की ओर सदा अग्रसर रहते हैं। दूसरे वे जो आत्माभिमान या व्यर्थ की अकड़ मे कोई सुयोग ही पास नहीं आने देते और सुअवसर के पास आने पर उसे अपने घमड में खो देते हैं भले ही उन्हे पीछे पछताना पडे और पछताना तो पडता है पर आत्मभिमानी किसी बहाने के अवसर को ठुकराकर दूसरों के सामने अपनी निष्ठा की बडाई करके आत्म-सतोष पाना चाहता है। यही हाल मेरा था। वेदू ने जब सवेरे मुझसे कहा तो रात की ग्लानि में उससे बात करना भी उचित नहीं समझा, अपितु उसे अपमानित किया। शाम को पूछने पर भी मैंने स्वीकृति नहीं दी। और न जाने क्या सोचकर, कदाचित् मित्रता का ख्याल करके और मित्र को मनाने के विचार से मैं उसकी भाभी से कह आया कि जाऊँगा।

अब एक व्यक्ति के निहोरे खाने पर चाहते हुए भी नहीं गया। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कमलिनी के प्रति मुझे कोई आकर्षण नहीं था। उसके पास मुझे देने के लिए एक ही वस्तु थी—स्नेह। वह मैंने उसके अपरूप में छिप जाने के कारण ठीक-ठीक न समझा। मैं मानता हूँ, मैंने उसके स्नेह की कई बार परीक्षा करके भी पाया है कि वह मुझे चाहती है। किन्तु किस रूप में मुझे देखती है, यह मैंने जानने का यत्न नहीं किया। कभी-कभी मालूम होता कि वह मुझे सचमुच अपना पुत्र या बहन का लडका समझती है। कभी उसकी आँखों की तरफ देखने से मालूम होता कि किसी और तरह से मुझे देखती है। फिर भी इतना नहीं जान पाया कि वह दूसरी दृष्टि कैसी है, और उसका क्या अर्थ है। इधर गगा-स्नान के उसके आग्रह ने मुझे उसके प्रति और भी विरक्त कर दिया। एक बात कहकर आगे चलूँगा। वह यह कि कमलिनी जितना मुझे प्यार करती, उतना ही मैं उससे खिचता था। मुझे ऐसा लगता कि उसका हाथ, जिसे सदा मेरे कधे पर रखने का प्रयत्न करती थी, जहर से बुझा हुआ है। मैं नहीं कह सकता कि यदि वह सुन्दर होती तो मैं उसके प्रति आकर्षित होता या नहीं। मेरा विचार है, मुझमें इतनी दृढ़ता नहीं थी कि मैं उसके सुन्दर होने पर भी उससे दूर रह पाता। किन्तु मैंने उसकी तरफ से एक बात पाई कि वह मेरे खिचते रहने पर भी वेग के साथ मेरी ओर बढी आ रही थी।

प्रश्न यह है, क्या यह सेक्स का आकर्षण था? मैं उस समय यही समझता

था कि सेक्स के सतोष के लिए उस कसबे में ऐसे सुन्दर व्यक्ति बहुत थे, जो उसे चाहते थे। जब वह अपने घर से हमारे घर आती तो बीच में बडी सडक थी, जिसे पार करके उसे आना पड़ता था। इसी बीच में उसे देखने के लिए कभी-कभी दो-एक पड़ोसी दरवाजे पर आकर खड़े हो जाते और उसके आते ही खकारने लगते। अब समझता हूँ, न तो सुन्दरता का कोई मापदण्ड है न लक्षण हीं। जो वस्तु एक को असुन्दर लगती है, वही दूसरे के लिए सुन्दर भी हो सकती है या साधारण। इसके अतिरिक्त यौवन स्वय एक ऐसी चीज है जो असुन्दर को भी आकर्षक बना देती है। यह कमलिनी के यौवन का उभार था जिसने पडोसियों को जब-तब दरवाजे पर आकर उसे देखने को बाधित किया होगा। इसके अतिरिक्त प्रेम और वासना मे तो अन्तर है ही।

हॉ, तो जैसे चूका हुआ अन्तिम तीर हाथ से निकल जाने पर व्याधा को दुख होता है, यही मेरी अवस्था थी। लडके कपन कारण या वैसे ही इतने आदमियों को देखकर मेरी भी इच्छा हो गई थी कि मैं गगा-स्नान को जाऊँ। थोडी करवट बदलते रहने के बाद मैं उठा। नानी उस समय जाग रही थीं मुझे बाहर निकलते देखकर उन्होंने कमलिनी और उसकी भाभियों के आने की कहानी सुनाई। मैं बिना उत्तर दिये बाहर चला गया और फिर आकर खाट पर लेट गया। मैंने अनुभव किया कि आस-पास गाड़ी जोतने और चलने की तैयारियॉ हो चुकी हैं, और एक गाड़ी मेरे मकान के पास से होकर निकली। फिर दूसरी, फिर तीसरी। लोग 'जै गगामाई की' कहकर सडक पार कर रहे थे। शायद कुछ लोग पैदल भी जा रहे थे। इतने में एक गाडी आकर मेरे द्वार पर रुकी और बाहर से बेदू की आवाज आई। बेदू मुझे पुकार रहा था।

मैं बिना उत्तर दिये दिया जलाकर बिस्तर बाँधने लगा। नानी ने मुझे ऐसा करते देखकर झाड़ा कि बाहर खड़ा एक आदमी आवाज लगा रहा है। बोल तो!

मैंने कहा—'तुम जाकर कह दो कि मैं आ रहा हूँ।' नानी को अनिच्छा रहते भी उठकर जाना पडा। वे लोग कदाचित् हारकर गाड़ी पर बैठ गए थे, और गाड़ी को हॉकना ही चाहते थे कि नानी को मेरे आने की सूचना दी। गाड़ी रुक गई। मैं सोच रहा था, बेदू अदर आवेगा। किन्तु वह नही आया। मैं बिस्तर बाँधकर आँगन मे खड़ा था। मुझे ऐसा लगने लगा कि बेदू ने भीतर

न आकर मेरा अपमान किया है। इतने में नानी ने बुलाकर मुझे बीस रुपये देते हुए कहा—

'अजय, इतनी अकड अच्छी नही होती।'

मैं चुप था। इच्छा हुई न जाऊँ पर बाहर आकर देखता हूँ कि बिस्तरा कोई उठा ले गया है। मैं चुपचाप बैलगाडी में जा बैठा।

२

यात्रा के प्रारम्भ में कोई घटना न हुई। दूसरे दिन लगभग ग्यारह बजे हम लोग एक गाँव में पहुँचे। वहाँ बहुत-सी गाडियाँ वृक्षों के नीचे खड़ी कर दी गई थी। एक ओर बैल बाँध दिए गए थे। चारा उनके सामने था। लोग कुछ गाडियों में और कुछ बाहर कम्बल बिछाकर अपने-अपने काम में लगे थे। कोई पास ही कण्डों में भोजन बना रहे थे। कुछ अपने साथ जो लाए थे, वही खा रहे थे। हमारी गाड़ी भी एक तरफ ढील दी गई थी। मैं उतरकर घूमने निकल गया। सब लोगो के ठहरने, खाने-पीने का ढग आश्चर्य से देख रहा था। वह चार सौ पाँच सौ गाडियों का एक कसबा था। इतने में पीछे से कमलिनी के भाई ने मुझे आवाज लगाई। वे कुएँ से गागर भरे चले आ रहे थे। एकदम बोले—

'क्यों भैया हमारी गाड़ी में काँटे थे क्या ? किसके साथ आए ? चलो पास ही डेरा है।'

मैंने उन्हे बताया कि वेदू जबरदस्ती मुझे घसीट लाया।

'कोई हर्ज नहीं। साल में एक बार यह त्यौहार आता है। चलो कुछ खा लो हमारे पास मिठाई है।' मै उनके साथ हो लिया। मुझे देखकर कुछ रोष, क्षोभ और प्रेम से उनकी स्त्री और कमलिनी ने देखा। मै भी पास ही एक तरफ बैठ गया। बडी भाभी ने (कमलिनी के भाई को वेदू को मैं आगे इसी नाम से पुकारना चाहूँगा) कुछ ताने और भर्त्सना के साथ मेरे सामने बहुत सी मिठाई रख दी।

मैंने कहा—'मैं तो नहाया भी नहीं हूँ।'

'तो कुएँ पर नहा आओ। पास ही है। तुम्हारे छोटे मामा भी वहीं हैं और देखो तुम किसकी गाड़ी में आए हो अपना सामान यहाँ मँगा लो। वहाँ खाने-पीने की कठिनाई होगी। मामी ने यह सब आज्ञा और प्रेम के साथ कहा। इसी बीच में कमलिनी ने दो-एक बार कुछ कहा, जिसे मैं ठीक-ठीक नहीं सुन सका। मामी ने अपने पति से कहा कि वे मेरा सामान उठा लाएँ।

मैंने बीच में टोककर कहा—'खाना मैं यहाँ खाऊँगा, पर रहना वहीं ठीक होगा। वेदू मुझे बड़े आग्रह के साथ लाया है। अब उसका मन दुखाना ठीक नहीं है।'

मामी ने बहुत कहने-सुनने के बाद स्वीकृति दी। अपनी गाड़ी के पास आकर देखा कि वेदू, धन्नू और उसके भाई मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। लड़का बडा उच्छृखल है, मिजाज ही नहीं मिलते! किन्तु मुझे देखकर चुप हो गये। यथा समय नहा खाकर और कुछ आराम करके हम लोगों ने आगे के लिए प्रस्थान किया। कुछ सर्दी के दिन थे किन्तु पचासों गाड़ियों के एक साथ चलने से धूल बेहद उड़ रही थी। आखिर जब मुझसे न रहा गया तो मैंने वेदू के भाई से जो गाड़ी हाँक रहे थे, कहा कि या तो गाड़ी सबसे आगे कर लो या फिर सबसे पीछे। उस समय लोग आनंद में मस्त होकर बेतहाशा बैलों को दौड़ा रहे थे। कुछ गाते जाते थे। कुछ हुक्का पीते और बातें कर रहे थे। इधर बैलों के गलों मे पड़ी हुई घंटियाँ एक नया स्वर पैदा कर रही थीं। धूल से सारा बादल पट गया था। जहाँ सडक चौड़ी आती, वहाँ लोग एक दूसरे से आगे बढने का प्रयत्न करते। होते-होते वेदू के भाई ने अवसर देखकर गाड़ी सबसे आगे करने का निश्चय किया। उनके आगे कोई बारह गाडियाँ थीं। उनके आगे बढने का यत्न करते ही आगे के गाड़ीवालों ने दौड़ाना प्रारभ कर दिया। लोग प्रायः इन्हीं दिनों के लिए बैलों को तैयार करते थे। हमारी गाड़ी के बैल हरियाने की तरफ के थे। बडे ऊँचे और सुडौल। वेदू के भाई ने उनके सींगों को तेल और रँग से रँग दिया था। शरीर में मेंहदी लगा दी थी, पैरों में झाँझ व गले में कठे डाल दिये थे। बैलों की जोड़ी देखने लायक थी और लोगो के बैल भी कम न थे। जो वेदू की गाड़ी के आगे थे, उनमें दो गाड़ियाँ ठाकुरों की थीं। संयुक्त प्रान्त में ठाकुर लोग बड़े अभिमानी और अक्खड़ होते हैं। उन्हे यह

सह्य न हुआ कि कोई भी गाड़ी उनसे आगे निकल जाय। असल मे वे
बारह गाड़ियाँ एक ही गाँव की थीं। इसलिए उन्होंने रास्ता ही रोक लिया
ऊबड़-खाबड़ सड़क पर बारह की बारह गाड़ियाँ बेतहाशा दौड़ने लगी। एक
जगह आगे निकलते-निकलते हमारी गाड़ी ठाकुरों के बैलों से रगड़ खा
गई। इस पर ठाकुर ने बड़े जोर से एक साँट बेदू के बैलों को मारी। वह
बेदू के भाई के जाकर लगी। फिर क्या था, गाली-गलौज होने लगी। बात
बढती गई। हम लोगों ने बहुत प्रयत्न किया कि सब समाप्त हो जाय कि इतने
में उन ठाकुरों में से एक ने दौड़कर एक लाठी बेदू के भाई को मारी। लाठी
हटकर तेजी से दौडते बैलों और उन्हें छोड़कर मेरे आकर लगी। गाडी के
डंडों पर जोर से पडने के कारण उसका वेग कुछ कम हो गया था। इसलिए
मेरी पीठ पर बहुत चोट न आई। पर उसका प्रभाव कम भी न था। उस
समय बेदू ने कूद कर एक लाठी उसके सिर में मारी, वह भन्नाकर गिर पडा
सब गाड़ियाँ चलते-चलते रुक गईं। ठाकुर लोग लाठियाँ लेकर एक-एक
करके उतर आए। लोग तमाशा देख रहे थे। इधर मैंने बेदू के भाई ने तथा
धन्नू ने भी अपनी-अपनी लाठियाँ सँभाल लीं। मुझे तो लाठी चलाने का
कोई अभ्यास था नहीं। किन्तु उस समय पीछे हटना कायरता थी, यही सोच
कर मैं मैदान में आ गया। उधर पाँच-छः आदमी थे। बस, लड़ाई ठन
गई। बेदू और उसके भाई लठैत होने के साथ कुश्ती भी लडते थे। मैं इस
मामले में अनाडी होते हुए भी आगे आ गया। बेदू, उसके भाई और धन्नू
को लाठियाँ चलाने और अपने को बचाने की फुर्ती देखकर मैं दंग रह गया
उधर के ठाकुर लोग भी बड़े कौशल से लाठियाँ चला रहे थे। उस धूल से
भरे हुए आकाश में कभी-कभी तो लाठियों की खटखट ही सुनाई देती थी
लोग चारों ओर से इकट्ठे हो गए थे। एक ठाकुर ने आकर मेरे ऊपर वार
किया। मैंने आव देखा न ताव, अपनी लाठी फेंककर उससे चिपट गया और
लड़ने लगा। कभी वह ऊपर आता, कभी मैं। पर बेदू ने, जब ठाकुर मेरे ऊपर
था तभी एक लाठी उस पर जमाई। वह वहीं लेट गया। बेदू और उसके
भाई ने उन ठाकुरों की बुरी तरह मरम्मत की। सब एक-एक करके घायल
होकर जमीन पर गिर गये। इतने में न जाने पीछे से किसने आकर एक
लाठी बेदू के और एक मेरे मारी। मैं उसी समय गिर पडा। मेरे सिर से खून

बहने लगा। फिर मुझे नही मालूम क्या हुआ ! होश आने पर कराहते हुए मैंने चारो ओर दृष्टि दौड़ाई। न वहाँ वेदू था और न उसके भाई। कमलिनी मेरे पास थी। जो कभी-कभी मेरे सिर पर हाथ फेरती थी। मैंने सिर पर हाथ फेरते ही जाना। किसी चीज का लेप मेरे सिर पर लगा है। कमलिनी ने मेरे पूछने पर बताया कि वेदू ठीक है और भाई को तो कोई चोट ही नहीं लगी। धन्नू भी नहाने गया है। सब लोग यही पास ठहरे हैं। बाकी सब लोग नहाने गए हैं। मुझे भैया गगा नहलाकर तुम्हारे पास छोड गए हैं। अब कैसा दर्द है ?

मैंने कहा—'ठीक है ! मैं पानी पीऊँगा। उसने मुझे दूध दिया। मैं पीकर चैतन्य हुआ।'

उसने आँखो में आँसू भरकर कहा—'न जाने किस बुरी सायत से हम लोग चले थे।'

टप टप करके आँसू उसकी आँखों से झरने लगे। मैंने अपने हाथ से उसके आँसू पोछते हुए कहा—'मैं ठीक हो जाऊँगा ! तुम रोओ मत।'

इतना कहकर मैंने फिर आँखे बन्द कर ली और दर्द मे उसके स्नेह का आनन्द लेता रहा। वह जब तक मै बीमार रहा, मेरे पास बैठी रहती। मामियाँ भी जब-तब आकर मेरे पास बैठती और प्यार से मेरे माथे पर हाथ फेरती थीं। एक बार कमलिनी के भाई ने कहा कि अजय कमलिनी की सेवा से ठीक हुआ है। इस बिचारी ने अजय के पीछे अपना गगा-स्नान का आनद भी खो दिया। मैं तो नहा ही नही पाया था। हम लोग कार्तिक शुक्ल पक्ष की दशमी को पहुँचे थे। दो-तीन दिन मे चलने-फिरने योग्य हो गया। वेदू, धन्नू मेरे पास बैठे रहते। मैं कभी-कभी उनके साथ बाहर निकल जाता। जब गगा के किनारे पहुँचता तो लोगो को नहाते देखकर मुझे अपनी असमर्थता पर दुख भी होता था। उस समय गगा का जल बड़ा शुद्ध था। रात को झिलमिलाते तारो मे का प्रतिबिम्ब देखकर बडा आनन्द आता था। वहाँ घाट तो थे नहीं, रेती थी। उसी पर हम लोग रात को आकर बैठ जाते। वहाँ एक बाजार भी लग गया था। दिन में लोग या तो बाजार मे घूमते या फिर गगा के किनारे बैठकर गाते-बजाते, ताश खेलते, नहाते। कुछ लोगों ने तम्बू भी लगा रखे। परन्तु जहाँ मैं ठहरा था, वहाँ दो गाड़ियों के बीच में केवल तानकर बैठने

की जगह बनाई गई थी। स्त्रियाँ गाड़ियों में सोतीं, पुरुष नीचे कम्बलों पर। मैं प्रायः ठीक होने पर वेदू के पास चला गया था। क्योंकि इतनी जगह ही नहीं थी कि मैं वहाँ ठीक तरह से सो सकूँ। त्रयोदशी तक किनारे-किनारे मीलों तक लम्बा मेला हो गया था। कई बाजार लग गए। पुलिस, थाना, हस्पताल, स्वयसेवकों का कार्यालय सभी कुछ वहाँ था। सभी प्रकार के लोग वहाँ पहुँचे थे। गाँव के, शहर के, धनी, गरीब, साधारण चित्त के सन्यासी, साधु सभी अपने डेरे डाले पूर्णिमा के स्नान की प्रतीक्षा मे पड़े थे। जितने पुरुष थे, उतनी स्त्रियाँ भी थीं—बालिका, वृद्धाएँ, युवती, सुन्दर, कुरूप सभी तरह की। सध्या के समय हजारों स्त्री-पुरुष गगा के किनारे दीपक जलाते, पूजा करते। रात को कहीं-कहीं गैस के हण्डे, कहीं लालटेनें और कहीं दीये जलते। इतना बडा मेला मैंने जीवन में पहली बार देखा था।

त्रयोदशी के दोपहर तक वेदू के बडे भाई और उसकी भाभी आ गए। वे किसी कारण उस समय न आ सके थे। जब उन्होंने मार्ग की मार-पीट का हाल सुना तो कहने लगे—

'सालों मे से एकाध को मार न दिया। न हुआ मैं, नहीं तो देखता।' उन्हें ऐसा क्रोध आ रहा था, जैसे अभी वे जाकर उन ठाकुरों से लड़ना चाहते हों। जैसे-तैसे हम लोगों ने उनको शान्त किया। मुझसे कहने लगे—'तुम ठहरे शहर के आदमी तभी मार खा गए। यहाँ ऐसी लाठियों की तो कभी परवा भी नहीं की।' सचमुच उनका शरीर काफी गठीला और फुर्तीला था। उनके छोटे भाई और भी अलमस्त थे। उन्होंने इतना लडने, मार खाने के बाद भी कोई ध्यान नहीं दिया वे पहले की तरह मस्त थे। एक दिन वे ठाकुर भी घूमते-घामते मिल गए तो उन्हें देखकर वेदू के भाई ने उनसे हाथ मिलाने को आगे बढाया और बोले—

'अब लड़ाई खतम हो गई। अब कोई मलाल नही रखना चाहिए। इतना कहकर वे उस पिटे हुए ठाकुर को एक पान की दुकान पर ले गए और पान खिलाया। ठाकुर ने भी उनकी लाठी चलाने की बड़ी प्रशसा की। फिर तो हम लोग प्रायः मिलते। उनमे बडे ठाकुर को बडा दुख था कि मेरे जैसे अनारी को लाठी लग गई।

उसी दिन शाम के पाँच बजे जब मैं गगास्नान करके वेदू और धन्नू,

कमलिनी, वेदू की भाभी आदि के साथ लौट रहा था तो देखा कि एक जीर्ण कृश बीमार-से आदमी के साथ एक स्त्री जा रही है। पहले तो मैंने उधर ध्यान ही नहीं दिया, पर एकदम अजय कहकर आवाज लगाते ही जब मैंने उधर देखा तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सुधी यहाँ कहाँ ? वह इस समय काफी बदल गई थी। रंग निखर आया था। कुछ अपेक्षाकृत मोटी और स्वस्थ थी। माथे में बिन्दी लगाए लाल रेशमी साड़ी पहने बड़ी सुन्दर दिखाई दे रही थी। मैंने पास जाकर पूछा—

'सुधी, तुम कहाँ ? यह कौन है ?'

किन्तु उसके हँसकर संकेत करते ही मैं समझ गया। यह उसका पति है। उसने पूछा—'तुम किसके साथ आए हो ? माँ और ताऊजी कहाँ हैं ?'

मैंने संक्षेप में उत्तर दिया—'अब मैं अपने भाई-बहन के साथ अकेला हूँ।' शेष बातें पीछे बताने के लिए हम लोग आगे बढ़े। उसने कहा—'चलो डेरे पर चलो। मैं भी गंगा नहाने आई हूँ।' मैं सबसे विदा होकर सुधी के साथ हो लिया। सुधी ने अपने पति से मेरा परिचय कराया। उनसे बातें करने पर मालूम हुआ कि उनका नाम व्रजमोहन है। वे यहीं पास के एक बड़े स्टेशन पर बुकिङ्ग क्लार्क हैं, आजकल बीमार रहने के कारण छः मास की छुट्टी पर हैं। रोग और कुछ नहीं, दिल की धड़कन है। कभी-कभी साँस का आक्रमण हो जाता है। सुधी के आग्रह और स्वास्थ्य-परिवर्तन के विचार से गंगास्नान को दोनों चले आए हैं।

व्रजमोहन ने सुधी के कहने पर एक दुकान से थोड़ी मिठाई ली और डेरे की ओर चल दिए। वह स्थान हमारे ठहरने की जगह से यथेष्ट दूर था। मेले के बिलकुल अन्त में एक तम्बू लगाकर उसमें इन लोगों ने डेरा जमाया था। भीतर जाने पर मालूम हुआ, वहाँ दो व्यक्तियों के बिस्तरे और भी हैं। मेरे पूछने पर बृजमोहन ने बताया, इनमें एक स्टेशन मास्टर का लड़का और स्टेशन के बाबू हैं, जो इस समय कहीं घूमने गए हुए हैं। एक खल्लासी भी उन लोगों के साथ था, जो कंबल बिछाए बाहर ही चिलम पी रहा था। इन लोगों को थका जान वह भी घूमने-फिरने के लिए बाहर चला गया। व्रजमोहन इतनी दूर चलने के कारण थक गये थे, पर सुधी ने पानी का लोटा उनकी ओर किया और बोली—'जाओ, पानी ले आओ।' व्रजमोहन बिना कुछ कहे लोटा

लेकर पानी लेने चले गये। मैं चाहता तो स्वय पानी लेने जा सकता था किन्तु सुधी से बातचीत करने के विचार से ही बात को टाल गया।

मेरे पूछने पर सुधी ने दूसरे अपने बिस्तर पर बैठे-बैठे बताया कि दो वर्ष हुए इन महाशय से मेरा विवाह हुआ है। विवाह के बाद ही हैजे से अम्मा की मृत्यु हो गई। तीन चार मास बाद सुना बाबूजी एक और ब्याह करनेवाले हैं। इससे मुझे बड़ा दुख हुआ। मैं केवल एक बार माँ के मरने पर गई, इतने में पत्र पहुँचा कि वे बीमार हैं। मैं इधर चली आई। इनके एक दूर की मौसी हैं, वह आगरे में ही रहती हैं। उन्होंने ही इन्हे पाला है। इतना कह कर सुधी की आँखों में आँसू आ गए और उन्हे धोती से पोंछती हुई बोली। अब सुना है बाबूजी का ब्याह हो गया है। उन्होंने मुझे एक बार बुलाया भी था पर मैं नही गई। अब तो पत्रव्यवहार भी बद है। इनका भी शरीर ठीक नहीं रहता। क्या करूँ? यह कहकर सुधी मेरे पास आ गई।

मैंने रूमाल से उसके आँसू पोंछे और उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'घबराती क्यों हो, अच्छे हो जाएँगे।'

सुधी ने पास ही बैठे-बैठे कहा—'नहीं, मुझे आशा नहीं है। रोग बहुत पुराना है। डाक्टरों ने काम करने को मना कर दिया है। बड़ी कठिनाई से दो मास की छुट्टी मिली है। एक मास बीत चुका है। कोई आराम के लक्षण दिखाई नहीं देते।' वह फिर मेरे गले से चिपट गई।

मैंने कहा—'देखो, घबराने से काम नही चलता और कोई आ जायगा। तुम अपने ही बिस्तर पर बैठो।'

सुधी अपने बिस्तर पर जा बैठी और पूछने लगी—'तुम क्या करते हो? मुझे तुम्हारी इस बीच मे बडी याद आती रही है।'

मैंने आदि से अन्त तक सब कहानी कह सुनाई। तब सुधी बोली—'भाग्य से तुम मिल गए हो! अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगी। चलो मेरे साथ चलो। वहाँ अकेले मेरा मन भी नहीं लगता। इतने में ब्रजमोहन पानी भरकर आ गये और लोटा रखकर एकदम अपने बिस्तर पर, जिस पर मै बैठा था, लेट गये। सुधी के आग्रह करने पर भी उन्होंने कुछ नही खाया और लेट गये। मैं एक तरफ कोने में ही बैठा। जल-पान करने के बाद मैंने ब्रजमोहन से उनके स्वास्थ्य के बारे मे पूछा, तो बोले—

'स्वास्थ्य में तो कोई अन्तर आ नहीं रहा है। इधर कुछ दिनों से रात को नींद भी नही आती। जब साँस उखड़ पड़ती है तब रात-दिन बैठे रहकर बिताना पडता है। न लेटे चैन पड़ता है और न किसी तरह से। डाक्टर कहते हैं, ठीक हो जाओगे। पर कौन जाने कब ठीक होऊँगा?' इतना कहकर उन्होंने करवट बदल ली। सुधी ने शहद के साथ कोई दवा उन्हे चटाई और हम दोनों मूक होकर बैठे रहे। मैं सोच रहा था, कितना दुर्भाग्य है इस नारी का, जिसको अपने सौन्दर्य के कारण किसी अच्छे स्वस्थ वैभववाले पुरुष की स्त्री होना चाहिए।' वह इस अधेड़ वयस के बीमार पुरुष के पल्ले बाँध दी गई। कितनी उमगें, कितनी चंचलता थी इसमें अब वह सब न जानें क्या हो गयी। इतना दुख होते हुए भी मैंने देखा कि सौन्दर्य उसके बदन से फूटा पड रहा है। वह इस साडी मे कितनी सुन्दर दिखाई दे रही थी। उस समय वह रोते-रोते जो मेरे गले से चिपट गई थी, वह कितना शुभ समय था। क्या ही अच्छा होता कि वह घडी लम्बी-बहुत लम्बी होती। कभी वह मुझे देखकर कुछ सोचने लगती, कभी मैं उसकी ओर देखकर मुसकरा देता। जब बहुत देर हो गई तब मैंने सुधी से कहा—'मुझे अब आज्ञा दो! जाऊँगा। रात भी सिर पर आ रही है।'

व्रजमोहन जो अब तक चुप पडे थे, उठ बैठे और बोले—'अजय, क्या तुम जाओगे। अच्छा, मैं चाहता हूँ कि मेले के बाद यहाँ गाँव मे कुछ दिन और ठहरूँ। कोई प्रबन्ध हो सकता है?'

'क्यों नहीं हो सकता? किसी भी पडे के घर आपके ठहरने की व्यवस्था हो सकती है।'

'मैं कल ही पूछकर आऊँगा।'

जब मैं चलने लगा तो सुधी बोलीं—'कल स्नान का दिन है। भीड भी बहुत होगी। न हो तुम कल यही खाना खा लेना।'

मैंने उत्तर दिया—'मैं उन ब्राह्मणों मे से नहीं हूँ जो तीर्थ पर किसी के यहाँ भोजन करते हैं। भोजन की तुम चिन्ता मत करो। मैं कल स्नान के बाद आऊँगा।'

इतने में व्रजमोहन बोल उठे—'नहीं, कल तो तुम्हें सवेरे ही यहाँ आ जाना चाहिए। मेरे साथ दो व्यक्ति और आए हुए हैं किन्तु मैं किसी तरह भी सुधी

को उनके साथ भेजना पसन्द न करूँगा और मैं तो भीड में जा नहीं सकता। यह काम तुम्हें करना होगा भैया!'

मैंने कहा—'अच्छी बात है। मैं स्नान के लिए सवेरे ही आ जाऊँगा। आप लोग तैयार रहिएगा।' मेरे जाते-जाते उन्होंने मुझे बुलाकर कहा—'मैं चाहता हूँ यदि तुम मेरे साथ रह सको तो मेले के बाद भी कुछ दिन रहना।'

मैंने कहा—'सोचूँगा। कोई जल्दी नहीं है।' आप लोग प्रात. स्नान के लिए तैयार रहें।' इतना कहकर चलते हुए मैंने पूछा—'किसी चीज की आवश्यकता तो नहीं है?'

सुधी बोली—'नहीं, अब कुछ नहीं चाहिए।'

मैं बाहर निकलकर मार्ग मे जाते हुए सुधी के सम्बन्ध में सोचने लगा। कितना नीरस जीवन है इन दोनों का। एक दूसरे से अनपेक्षित, अस्पृश्य। दोनों पास-पास रहते हुए भी दूर। यौवन और वार्धक्य की तरह बेमेल। जैसे नाना प्रकार के सुस्वादु व्यजन एक बीमार के सामने पडे हो। वह न उसे सराह सकता हो, न खा सकता हो और वह नारी राशि-राशि सौंदर्य के सागर मे स्नान करके पूर्णमासी के तारों की झालर ओढे रजनी में तट पर खडी प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही हो—देख रही हो कि आज उसका पति आ रहा है। उसका प्रियतम वैसे ही लहरों की उमगों की तरह आनन्द मे भरकर नाव के चप्पू फेंकता हुआ आ रहा है, और पास आने पर देखे कि उसमें मनुष्य नहीं, एक कंकाल है। जो कभी-कभी हँस देता है, किन्तु कितनी विकट हँसी होती है उसकी कि किनारे की उमगें पिघलकर मूर्छित हो जाती हैं। जैसे फूल की आशाये लता पर हाथ डालते ही साँप उसके हाथ से लिपट जाय? ऐसी है इस सुधी की दशा। कोई कह सकता है कि नारी केवल विलास नहीं है, सहनशक्ति भी है, तप भी है, कर्तव्य भी है, परीक्षा के नद मे पार होने के लिए थकी हुई एक तैरनेवाली भी है। हो, यह भी हो, पर यथार्थ क्या है? यह आदर्श है जो छूँछा होते हुए तेजस्वी है। इस पुरुष को क्या अधिकार था कि जन्म-से बीमार होते हुए इसने ऐसी नारी को वरण किया? क्या यह पुरुष का स्त्री पर अत्याचार नहीं है? डेरे पर पहुँचते ही देखा कि कमलिनी बैठी है। उसने मुझे देखते ही मुँह फेर लिया। मैंने उधर ही घूमकर उसकी ओर देखते हुए पूछा—

'क्या है, कमलिनी ? और लोग कहाँ गए ?'

'गए होंगे कही, तुम्हे इससे क्या ? तुम्हे तो एक मिल गई न। तभी इतनी देर करके लौटे हो ? कौन थी वह ?'

'मैंने धीरे-धीरे उसे समझाया कि वह मेरे पिताजी के गहरे मित्र की लडकी है। हम दोनों एक ही घर मे बहुत दिन तक साथ रहे, खेले और पढ़े हैं।'

'और वह बीमार-सा आदमी ?'

'वह उसका पति है।'

'बडी अभागी है बिचारी !'

'हाँ ? मैं सवेरे ही उन लोगों को स्नान कराने ले जाऊँगा। उस रोगी पति मे तो इतनी सामर्थ्य है नही कि सुधी को इतनी भीड़ में स्नान कराने ले जा सके।

'चलो, तुम्हे तो गगास्नान का फल मिल ही जायगा।'

'मैं नहीं समझा।' मैंने पूछा ! मैं समझ गया था उसका संकेत किस ओर है और आज यह पहला ही अवसर था कि कमलिनी ने इस तरह की चुटीली बातें मुझसे की। मुझे आश्चर्य भी हो रहा था कि इसमें नारी सुलभ कितनी ईर्ष्या-अनावश्यक रूप से जाग उठी है और उस अवस्था में जबकि वह मुझे अपनी बहन का लडका समझती है।

मैंने बात को उसी के मुँह से सुनने के भाव से ऊपर का प्रश्न कर दिया। कमलिनी कुछ देर तक मेरी ओर देखती रहकर बोली—

'तुम नहीं समझते ? तुम सब समझते हो। तुम्हे क्या मालूम अजय कि किसी के हृदय में तुम्हारे लिये क्या है ?'

मैंने ढीठ होकर पूछा—'नही, सचमुच मुझे नहीं मालूम कमलिनी मौसी।' इतना कहकर मैंने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया।

उसने मेरी ओर देखते हुए कहा—'तुम सब जानते हो, तुम बड़े धूर्त हो ! इतना कहकर कमलिनी चुप हो गई। उसके हाथ से पसीना बहने लगा। मैंने अनुभव किया कि शरीर कॉप उठा है। एकदम हाथ छुड़ाकर वह आँखें बन्द करके लेट गई, और रोने लगी। उस समय अँधेरा तो था ही, दूर सड़क की एक लालटेन का मध्यम प्रकाश वहाँ आ रहा था।

मैंने उठते हुए कहा—'अच्छा जाता हूँ। देखूँ, बेदू कहाँ है ?'

कमलिनी ने हाथ पकड़कर बैठाते हुए कहा—'बैठ जाओ, बहुत दिनों से सोच रही थी कि तुमसे कहूँ पर कहने का अवसर ही नही मिला। इसीलिए गगास्नान को तुम्हे घसीट लाने का मैंने यत्न किया। पर तुम हो कि पत्थर की तरह कठोर।'

मैं नहीं चाहता था कि कमलिनी की कोई भी बात सुनूं। किन्तु उसके आन्तरिक स्नेह और अपने सिर फूटने के अवसर पर उसकी सेवाओं का विचार करके अनिच्छा से मुझे बैठ जाना पड़ा।

मेरे बैठने पर कमलिनी बोली—'तुम नही जानते कि मेरे मन मे क्या होता है। मैं पिछले एक वर्ष से मन मसोसकर रह जाती हूँ। मैं अच्छी नहीं हूँ पर......।' वह चुप हो गई। मैं बैठा रहा......।

वह फिर बोली—'तुम क्या चाहते हो ?'

मैंने कहा—'कुछ नही।' वह बोली—'मेरा जीवन भार हो गया है। मैं अब और नही सह सकती।'

मैंने कहा—'तुम जो चाहती हो वह नहीं हो सकता।'

उसने फिर कहा—'मैं और कुछ नहीं चाहती। केवल तुम सदा मेरी आँखों के सामने रहो, बस इतना ही।'

मैंने कहा—'मेरा कुछ भी ठीक नही है। मैं नानी के पास अधिक दिनों तक नहीं रह सकता। मुझे कहीं जाना होगा।'

'तो मुझे भी साथ ले चलो। मैं सब कुछ छोड़कर तुम्हारे साथ चलूँगी अजय! मेरा जीवन बोझ है।'

मुझे आश्चर्य हो रहा था कि एक कुलागना इतना आगे भी बढ़ सकती है। मैंने फिर बैठे रहकर कहा—'लोग क्या कहेंगे ?'

'लोगों की मुझे कोई पर्वाह नहीं है।'

'तुम्हे न सही मुझे तो है। मैं कैसे, किस बूते पर तुम्हे ले जा सकता हूँ। और मेरा तुम्हारा सम्बन्ध भी तो कोई नहीं है। तुम्हें, जैसे रहती हो वैसे ही रहना चाहिए। सभव है तुम्हारे पति कुछ दिनों में ठीक हो जायँ, फिर तुम्हें उन्ही के पास रहना होगा। यह सकट का काम है, इसमें मेरी-तुम्हारी दोनों की निन्दा है। न हो तुम कुछ पढना-लिखना ही क्यों नहीं प्रारम्भ कर देतीं। संभव है, थोड़ा-बहुत पढ़-लिख लेने पर तुम्हें कहीं नौकरी मिल जाय। इस तरह तुम्हारा जीवन सुख से बीत सकता है।'

कमलिनी बोली—'अच्छा तो तुम इतना ही करो कि मुझे पढ़ा दो।'

'मेरा कुछ ठीक नहीं है, मैं कब कहाँ चला जाऊँ। अभी कुछ दिनों तक मुझे यहाँ रहना होगा। सुधी के पति चाहते हैं कि वे स्वास्थ्य के लिए कुछ दिन यहाँ ठहरें। सुधी इस समय घोर कष्ट में है। मैं उसकी सहायता करना चाहता हूँ कमलिनी!'

कमलिनी सुधी का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़कर ताने के साथ बोली—'तो यह कहो, सुधी में मन रमा है।'

मैंने झल्लाकर कहा—'तुम कैसी बात करती हो कमलिनी! उसका पति बीमार है, वह निराश्रित है, उसकी सहायता करने में कोई अपराध है?'

'मैं ही कौन आश्रययुक्त हूँ। जाओ, जो तुम्हें सूझे सो करो। जब तुम्हें मुझसे कोई स्नेह ही नहीं है तब मैं तुमसे किसी बात की आशा ही क्या कर सकती हूँ?'

जिस दयनीयता के साथ कमलिनी ने ये वाक्य कहे थे, उससे मुझे बड़ी व्यथा पहुँची, किन्तु मैं परवश था। मैं चाह कर भी उसे नहीं चाह सकता था। उसके स्नेह का मेरे सामने कोई मूल्य भी नहीं था। मैं उस मनुष्य के समान था, जिसके सामने अनचाही अत्यधिक भोजन सामग्री पड़ी हो और भूख होते हुए भी वह उसको न खा रहा हो। कमलिनी ने इसी प्रकार की और भी बहुत-सी बातें कीं, किन्तु मेरे ऊपर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में मैं उठने को ही था कि उसकी भाई-भौजाइयाँ आ गईं। वेदू भी उनके साथ था।

मैं थोड़ी-बहुत बातचीत करके वेदू के साथ उसके डेरे पर चला गया।

प्रातःकाल चार बजे से स्नान का मुहूर्त था। लोग दो बजे से ही उठकर स्नान की तैयारियाँ करने लगे थे। झुण्ड-के-झुण्ड लोग राम-राम कहते हुए गंगाजी की ओर जा रहे थे। कुछ लोग मंडली बनाकर गाते-बजाते जा रहे थे। उस सारे प्रदेश में भक्ति का स्रोत उमड़ पड़ा था। बच्चे, जवान, बूढ़े सभी प्रकार के लोग उत्साह से भरे धोतियाँ अँगोछे कंधों पर रखे जा रहे थे। मैंने वेदू को साथ लिया और सुधी के डेरे की ओर चल दिया। जाते ही देखा कि तम्बू भीतर से बन्द है। खल्लासी से कहकर उनको जगाया तो सुधी के अतिरिक्त फिर सब सो गए। सुधी ने बताया कि उसके पति की अभी आँख लगी

है। रात भर दमे का दौरा रहा। बाकी दो व्यक्ति भी सो रहे थे। बिना सुधी के पति की सम्मति के मैंने उसे स्नान के लिए ले जाना उचित न समझा और वह स्वय नहीं जाना चाहती थी। उसकी सूजी हुई आँखों से ज्ञात होता था, वह स्वय भी रात भर जागी है। बाहर आकर जब हम लोग चलने लगे तब वह कुली भी हमारे साथ हो लिया। उससे मालूम हुआ, उसके पति ने सुधी को मारा था। कारण पूछने पर उसने बताया कि वह सुधी के चरित्र पर सदेह करता है। पहले तो कुली कुछ न बोला फिर उसने बताया, सुधी को मारने का मूल कारण तुम ही हो।

मुझे बडा दुख हुआ कि मेरे कारण सुधी को मार पड़ी। खोद-खोदकर पूछते रहने पर उसने फिर कहा—'बाबू समझते हैं, अजय कोई नहीं है उसका उपपति है। ऐसा बाबू को विश्वास हो गया है। दूसरी बात यह है कि स्टेशन मास्टर के लड़के ने भी जिस दिन हम आए थे, उसी रात को सुधी को छेडा था। इस पर सुधी ने उसे बहुत बुरा भला कहा। बाबू (व्रजमोहन) ने क्रोध में आकर उस लडके को गालियाँ दीं। इस पर आपस में कहा-सुनी हो गई। मैंने आगे कुछ भी नहीं पूछा और हम दोनों स्नान करने के लिए गगाजी के तट पर पहुँच गए। वेदू ने दो-एक बार मुझसे पूछा भी पर मैंने उसे इधर-उधर करके टाल दिया। जब स्नान करके लौटा तब सूर्य निकल आया था। भीड बहुत-कुछ कम हो गई थी। मैं वडे असमजस में पडा था कि क्या करूँ ? सुधी से मिलने के लिए छटपटाने लगा। इधर यहाँ तक नौबत पहुँचने के बाद उसके पास जाना भी उसके कष्ट बढ़ाने का कारण ही होता। यही सोच-कर मैं फिर रुक गया। इसी उधेड़बुन में मैं पडा था कि कमलिनी के भाई ने आकर सदेश दिया कि सब लोग गाडियाँ जोतकर वापिस लौटने की तैयारी कर रहे हैं। तुम भी तैयार हो जाओ। वेदू अपने भाई के साथ बाजार कुछ खरीदने चला गया था। मैंने मन मे कहा वेदू और धन्नू अवश्य आज ही वापस लौट जायँगे। इतने में धन्नू आता दिखाई पडा।

मैंने उससे पूछा—'क्यों भाई, तुम कब जा रहे हो ?'

'आज ही दोपहर तक हम लोग चल देंगे। यह देखो मैंने इतनी वस्तुएँ खरीदी हैं।'

यह कहते हुए उसने दो धोतियाँ जो उसने माँ के लिए खरीदी थीं,

मुझे दिखाई। दो तेल की शीशियाँ। एक शीशा, एक कघी और इसी प्रकार का सामान था।

फिर उसने कहा—'माँ ने एक साडी खरीदने को कहा था, पर मुझे तो पहिचान है नहीं, इसलिए नही ली।'

मैंने कहा—'मुझे ले चलते।'

वह बोला—'तुम तो भैया, नए स॰ार में रमते हो न ? कल से तुम्हारा पता ही नही है। वह एक छोकरी क्या मिल गई, तुम तो हमको भूल ही गए। इसीलिए मैंने तुमसे कुछ नहीं कहा।'

'तो तुम समझते हो मैं बदमाश हूँ।'

'नहीं, सो बात नहीं है। पर सबको आश्चर्य हो रहा है कि यह न जाने कौन छोकरी है, जिसके पीछे अजय पागल हो गया है।'

'क्या बेदू और उसके भाई भी यही समझते हैं ?'

'हाँ।'

'उसकी भाभी भी।'

'वह मैं नही जानता। और देखो, हमने सुना है, तुम वापस भी नहीं चल रहे हो।'

'तुमसे किसने कहा।' मैंने आश्चर्य और रोष के साथ पूछा।

'कमलिनी के भाई अभी सामान खरीदते हुए बाजार में आपस में बात कर रहे थे।'

'उन्हे क्या मालूम ?'

'यह मैं नहीं जानता ! लोगों का विचार है, शहर के लडके ऐसे ही होते हैं। तुम बुरा न मानना, आखिर यह स्त्री तुम्हारी कौन है ?'

मैंने कहा—'धन्नू तुमसे क्या छिपाना है, यह मेरे पिताजी के मित्र की लड़की है। हम दोनों बचपन में एक साथ खेले और पढे हैं। उसका पति बीमार है। यदि मैं उसके पास सहायता के लिए चला गया तो इसमें पाप ही क्या है ?'

बेदू कह रहा था—'तो तुम्हारी इसके साथ दोस्ती है। सम्बन्ध कोई नहीं है।'

मेरे ऊपर मानो वज्र गिर पडा। बेदू ने इस तरह की बात उडाकर मुझे

सबके सामने कितना लाछित किया है ? यह सोचकर मुझे वेदू के ऊपर बड़ा क्रोध आया। फिर मैंने उससे कुछ भी नहीं कहा। इसके बाद वेदू अपने भाई-भौजाई के साथ लौटा तो मुझसे उसने बात तक नहीं की। और तो और मुझे वहाँ देखकर कतराकर निकल गया।

मैंने जाते देखकर कहा—'वेदू सुनो, तुमसे एक बात कहनी है।'

उसने कहा—'मैं जल्दी में हूँ, अभी आता हूँ।' इतना कहकर बाहर निकल गया।

मैंने देखा, कोई भी मुझसे बात नहीं करना चाहता। जब बैठना असह्य हो गया तो मैं उठकर कमलिनी के डेरे की ओर चला। वहाँ देखता क्या हूँ, बेदू हँस-हँसकर बैठा बातें कर रहा है। मुझे देखकर कुछ सकपकाया तो अवश्य, परन्तु कुछ खरीदे हुए कपड़े देखने के बहाने कमलिनी की भाभियों से भाव-ताव करने लगा। मैंने जब उसे पुकारा, तब भी उसने मेरी बात को सुना नहीं।

अन्त में जब मुझे उसका व्यवहार असह्य हो गया तब मैंने पास जाकर उसे पुकारा। वह जैसे मजबूर होकर मेरी तरफ देखने लगा। मैंने उससे कहा—'आओ तुमसे एक आवश्यक बात करनी है।' और इसके साथ ही मैं उसका हाथ खींच उठाकर ले गया।

उसने जरा दूर हटते ही कहा—'क्या है ?'

मैंने कहा—'मुझे नहीं मालूम था कि तुम मेरे मित्र होकर मेरे विरुद्ध अपवाद फैलाओगे।'

'कौन कहता है ? मैंने तो किसी से भी कुछ नहीं कहा।' वह बोला।

'देखो, सब लोग ऐसा देख पड़ता है, मेरे विरुद्ध हो गए हैं।'

'तो इसमें झूठ भी क्या है ?'

'तुम समझते हो यह सच है ?'

'वह कुली क्या कह रहा था ?'

'तो तुम मुझे बदमाश समझते हो क्यों ?'

'देखो अजय, हम सब लोग तुम्हारा यथेष्ट सम्मान करते रहे हैं, किन्तु एक तो ऐसा देख पड़ता है, तुम हम सबको कोरा मूर्ख समझते हो। तुम मुझे मित्र भी नहीं समझते। जब मैंने तुमसे पूछा तब भी तुमने मझे बहका दिया।

फिर मैं क्या समझूँ। यह ठीक है कि मैंने कहा है; किन्तु उससे पूर्व तुम्हारे विरुद्ध भी काफी कहा जा चुका है।'

'किसने कहा ?'

'यह मैं नहीं जानता।'

मैंने उसे आदि से अन्त तक सुधी के सबंध में सब बताया। इस पर वह बोला—'मुझे बडा दुख है!' उसने मुझे बताया—'सब लोग जाने को तैयार हैं, हम लोग दोपहर से पहले चल देंगे। कमलिनी कह रही थी कि तुम नहीं जाओगे।'

जब मैं चुपचाप वहाँ से चलने लगा तो उसने पूछा—'बोलो चलोगे या नहीं ?'

मैंने उत्तर दिया—'कह नहीं सकता।' इतना कहकर मैं न चाहते हुए भी सुधी के डेरे की ओर चल दिया। डेरे पर पहुँचकर देखा, सुधी और उसके पति का कहीं भी पता नहीं है।

सब डेरा उठ गया है। लौटते हुए रास्ते में वही ठाकुर मिले। उनसे पूछने पर पता लगा कि वे कल जायँगे।

मैंने वेदू की अनुपस्थिति मे अपना सामान लाकर ठाकुर के डेरे में रख दिया। सुधी को ढूँढने लगा। इधर सब घाट-बाज़ार ढूँढने पर भी सुधी का कहीं पता नही मिला। चार-पाँच घण्टे बराबर ढूँढते रहने पर जब उन दोनों का कहीं पता न लगा तो मैं गंगा के किनारे एक घाट पर आ बैठा। दोपहर से ऊपर का समय हो गया। मुझे विश्वास था कि सुधी अभी गई नहीं होगी। यात्री उस समय भी स्नान कर रहे थे। मेला उखड रहा था। लोग गगाजल भर कर जाने की तैयारियों में थे। किन्तु कभी मैं सुधी के सम्बन्ध में सोचता, कभी कमलिनी के। कमलिनी ने मेरे सम्बन्ध मे जो कुछ कहा था उसको मैं एक नए रूप मे ही देख रहा था। मैं समझता था, उसने ईर्ष्यावश लोगों से कहा है। वह समझती होगी कि मैं इस प्रकार अपवाद से डर जाऊँगा और उसका साथ दूँगा। ऐसी स्त्री भी ईर्ष्या कर सकती है, जिसके साथ मेरा कोई निकट का सम्बन्ध नहीं है और जो मुझे अपनी बहन का लडका समझती है। स्त्री में अपने ही सेक्स के प्रति असहिष्णुता होती है, यह तो मैं जानता था किन्तु वह जरा सी बात मे इतना उग्र रूप धारण कर सकती है, इसका

अनुभव मुझे पहली बार हुआ। उसके इन वाक्यों का अर्थ अब समझ में आया।

'जब तुम्हें मुझसे स्नेह नहीं है तब मैं तुमसे आशा ही क्या कर सकती हूँ ?' स्नेह की प्रतिक्रिया हिंसा और अपवाद है। उसके बाद कमलिनी न तो मुझसे मिली और न मैंने उससे कुछ पूछना उचित समझा। फिर भी इस साधारण सी बात को इतना तूल देने मे कमलिनी को क्या मिला ? यही मैं बहुत देर तक सोचता रहा। एक बार इच्छा हुई, गाडियाँ अभी गई नहीं होंगी। लौट क्यों न चलूँ ? जब सुधी और उसके पति को मेरी सहायता की आवश्यकता ही नहीं है तब उनके लिए भटकना ही व्यर्थ है। वह यदि चाहती या उसका पति चाहता तो मुझसे कह सकता था। जब चलने के लिए मन में उमग आई और उठने ही वाला था कि फिर जैसे किसी ने कहा कि तुम सुधी और उसके पति के पास गए कब ? वह रोगी ही किस बात का जिसका मानसिक स्वास्थ्य न बिगड़ जाय ! रही मेरे सम्बन्ध में उसकी धारणा की सो वह भी कौन जाने सही हो या बनावटी। हो सकता है, उस कुली ने ये सब बातें गढकर कही हों। प्रायः अपढ व्यक्ति जरा-सी बात को बड़ी और बड़ी बात को छोटी बनाकर कहते हैं। यह उनकी रुचि पर होता है। यथार्थ बात कहने के लिये बडी योग्यता की आवश्यकता है। सत्य सदा ही तर्क से नपे-तुले मस्तिष्क से प्रकाशित हो सकता है। इसके साथ ही मैं उठकर कमलिनी का जहाँ डेरा था, वहाँ गया तो देखा कि सब खाली है। वेदू की गाडी भी चली गई होगी, यह सोचकर सामान देखने ठाकुर के डेरे पर गया। बडे ठाकुर कहने लगे—'हम आज रात को ही चले जायँगे।'

मैंने जो थोडा-सा सामान था, बगल में दबाया और पास ही कुएँ की मन पर जा बैठा। मुझे उस समय कुछ भी नहीं जान पडता था कि मैं क्या कर रहा हूँ। कभी पछताता कि मैंने सुधी से मिलकर अनुचित किया और मुझे निश्चित रूप से सबके साथ लौट जाना चाहिए था। किन्तु अब तो चले ही गए। कौन जाने सुधी भी चली गई हो। ऐसी दशा मे यहाँ ठहरना एकदम व्यर्थ ही है। इतने में मैंने देखा कि वेदू के भाई कुछ सामान उठाये जा रहे हैं। एक बार इच्छा हुई कि उन्हे पुकार कर साथ चला जाऊँ और उन्हे बिना बुलाए सामान लेकर चलने भी लगा। यह सोचा था कि पीछे से पहुँचकर सब

को आश्चर्यचकित कर दूँगा। थोड़ी दूर जाने के बाद फिर अपने आप लौट पड़ा और बगल में बिस्तर दबाए मैं गगा के किनारे आ बैठा। यात्री अब बहुत कम थे। घाटवाले भी अपना सामान बाँधने में व्यस्त थे। मैं बैठा रहा। उस समय कुछ भी नहीं सोच पा रहा था। वह मेरी अवस्था बिलकुल पागलों जैसी थी। जब घाटवाले ने मुझसे अपना सामान उठाने को कहा तब मैंने बिस्तर उठाकर रेती पर रख दिया और उसी के सहारे लेट गया।

उस समय धूप मे काफी गर्मी थी। भूखे, प्यासे पड़े-पडे कभी नींद का झोंका आ जाता, फिर आँख खुल जाती। मस्तिष्क बिलकुल थक गया था। शरीर शिथिल था। इधर चार बजने का समय हो आया। फिर भी मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सा पडा रहा। उस समय न तो मुझे सुधी का विचार था, न कमलिनी का। फिर भी पडा ही रहा। इतने में एक वृद्धा आई और मेरे पास कपडे रखकर नहाने चली गई। जब नहा-धोकर लौटी और कपडे बदल कर जाने के लिये तैयार हुई तब वह मुझे एक पैसा देने लगी। मैंने आश्चर्य में आकर कहा—

'क्या है ?'

'दान है बेटा।'

'मैं दान नहीं लेता, ले जा!' वह अपना-सा मुँह लेकर चली गई। मैं फिर भी पडा रहा। गंगा के किनारे जहाँ प्रातःकाल तक असख्य यात्री थे, इस समय थोडे-से मनुष्य रह गए थे। उनमे कुछ तो दुकानदार थे, कुछ फक्कड साधु। उधर सिपाही डडे मार-मारकर लोगों को उठा रहे थे। इतने में एक सिपाही उधर घूमता आ निकला और मुझे इस तरह पडे देखकर पूछने लगा—

'क्यों पड़े हो ?'

'ऐसे ही।'

'जाओ।'

'चला जाऊँगा।'

'कुछ खो गया है क्या ?'

'नहीं।'

'तो जगह खाली कर दो। रहना हो तो गाँव में जाकर रहो। यहाँ मत रहो। सरकार किसी की जान माल की जिम्मेदार नहीं है। जाओ।'

मैंने पूछा—'गाँव कितनी दूर है ?'

'अरे पास ही तो।' इतना कहकर वह चला गया। मैं बिस्तर उठाकर गगा के किनारे-किनारे एकान्त में एक वृक्ष के नीचे जाकर बिस्तरा बिछाकर लेट गया। भूख खूब लग रही थी। किन्तु वहाँ खाने को क्या था ? अन्त में पानी पीकर फिर बैठ गया। मैं उस निर्जन प्रदेश में इच्छा के विरुद्ध बैठा हुआ था। कार्तिक के मास में दिन जल्दी छिपता है। साँझ सिर पर आ रही थी। एकान्त देखकर कुछ भय भी मालूम होता था। किन्तु मैं किसी तरह भी उठ नही रहा था। जैसे मैं अपने ही विरुद्ध चल रहा होऊँ और अरे प्रथम स्थान से मैं गाँव के लिए उठा था किन्तु चला आया इधर। यही हो रहा था कि इच्छा के अनुसार कोई भी काम न किया जाय। फिर भी कैसे कहूँ कि मैं अपनी इच्छाओं का दमन कर रहा था। जब बहुत भूख लगी और पास ही दुकानों पर भोजन मिल सकता था, वहाँ मैंने भोजन न किया। धूप मे पड़े-पडे जब पसीना आने लगा तब भी मैं वहाँ से न उठा और अब जबकि गाँव की ओर जाने की सोचकर मैं उठा तो इधर सुनसान में चला आया। मुझे जैसे अपने ऊपर क्रोध आ रहा हो, ऐसी मेरी चेष्टा थी। असफलता के कारण जीवन मे जो निराशा, विरक्ति, झुँझलाहट होती है, उसी की लहरों में मैं बह रहा था। जब भूख के मारे बेचैन हो गया तो सोचा कि रेती ही खाऊँ। किन्तु एक बार खाने पर उसे दुबारा न खा सका, अपितु सारा मुँह बुरी तरह फिस-फिसा गया। फिर पत्ते तोड़कर खाए, वह भी न खा सका। एक व्यक्ति को गाँव में नीम के पत्ते बड़े स्वाद से खाते देखा था। मैं कुछ पत्ते तोड लाया किन्तु कडुआहट के मारे जी घबराने लगा। मैंने फिर भी कुछ और पत्ते खाए। इससे कुछ उन्हे खाना सह्य हो गया तदनतर मैंने दो-तीन बार और खाए। पानी पीकर फिर बैठ रहा। अब रात हो गई थी। वह प्रदेश भाँय-भाँय करने लगा। गगा अपने अविरल वेग से बहती जा रही थी। कभी-कभी किनारे टूटने का शब्द होता था। इतने में दूर से कुछ लोगों की आवाज सुनाई द। पास आने पर सुना कोई मुर्दा है और लोग उसे लिए आ रहे हैं। मुझसे पचास गज की दूरी पर उन्होंने उसे लाकर रखा। एक गाडी भी उनके साथ थी। मैं थोडी देर के लिए उनकी क्रिया देखता रहा। चंद्रमा आकाश मे उग रहा था। सब कुछ धवल-धवल

दिखाई दे रहा था। एक घटे मे जलाकर और स्नान करके लोग जाने लगे तो मुझे बहुत भय लगा किन्तु मैंने तो प्रतिज्ञा की थी कि रात को कहीं नहीं जाऊँगा। वे लोग जैसे आए थे। एक-एक करके चले गये। मेरे सामने फिर वही रात का सन्नाटा और थोड़ा-थोडा करके जलते मुर्दे की चिता का दृश्य रह गया। गगा फिर भी उसी वेग से वहती जा रही थीं। मैं डर के मारे थर-थर कॉपने लगा। कभी आँखे बन्द कर लेता, कभी फिर खोल देता। शरीर से पसीना छूट रहा था। कभी-कभी कुछ साहस होता। फिर डर लगने लगता। कभी ऐसा मालूम होता कि मानो वह मुर्दा चिता मे से उठकर मेरी ओर ही आ रहा है। और वहाँ मुर्दे ही मुर्दे नाच रहे हैं। कोई मुझे घूरकर देख रहा है। मैंने डर के मारे आँखे बन्द कर लीं। एकदम लगा कि जैसे किसी ने मुझे छू लिया हो। आँख खोलकर देखा तो कोई कीड़ा ऊपर रेग रहा है। मैंने फटक दिया। फिर साँप का ध्यान आने लगा। झींगुर झिल्ली की साँय-साँय चारों ओर हो रही थी। इसी अवस्था में मैं न जाने कब तक पड़ा रहा, जब आँख खुली तो देखा कि कोई व्यक्ति गगाजी मे स्नान कर रहा है। मैं उठा, शौच दातुन से निवृत्त होकर स्नान किया और विस्तर उठाकर चल दिया। जरा दूर जाने पर एक कुटिया दिखाई पड़ी। उसी मे चला गया। एक साधु बैठे भोजन कर रहे थे। मैं चुपचाप वैठ गया। भोजन के बाद उन्होंने पूछा—

'कौन हो, कहाँ से आए?'

'यह तो वडी लम्बी कहानी है। ऐसे ही घूम रहा हूँ।'

'क्या तुम ही गंगा के किनारे रात को सो रहे थे? बडा साहस का काम है!'

थोडी देर बाद मैं वहाँ से भी उठकर चल दिया।

गाँव में आने पर मैं निरुद्देश्य घूमने लगा। वह गाँव गंगा के पास ही था। इसलिए कुछ स्नानार्थी वहाँ आकर भी ठहरते थे। मैंने एक आदमी से पूछा—'इस गाँव का नाम क्या है?'

उसने बताया—'रामघाट।'

'अच्छा, यही रामघाट है?'

'हाँ।'

लोग आश्चर्य में थे कि यह अजीब व्यक्ति है, जिसको गाँव का नाम तो ज्ञात नहीं है और वहाँ आ गया। कुछ पडे आकर मेरा नाम-धाम पूछने लगे।

इतने मे देखता क्या हूँ कि सुधी एक दुकान से सामान खरीद रही है मैं चुपके से उठकर ,उसके पास पहुँचा और पुकारा—'सुधी—मैं तुम्हे ही खोज रहा हूँ।'

'मैंने समझा तुम चले गए होगे। यह तुम्हारी क्या दशा है ?'

'तुमने मुझसे तो ठहरने को कहा था न ? उनका क्या हाल है ?'

'वैसा ही।'

'कहाँ ठहरी हो ?'

'पास ही। देखो अजय, तुम जाओ ! मैं भुगत लूँगी, उनका मस्तिष्क विकृत होगया है। वे तुम्हे देखना भी नही चाहते।'

'क्यों ?'

'न जाने ?'

'फिर भी।'

हम दोनों को बातें करते देखकर कुछ लोग जुड गए। इसलिए वह बिना कुछ कहे चली गई। उसके जाने के बाद एक बोले—

'यह कौन है भैया ?'

दूसरा बोला—'गगा का किनारा है सभी तरह के आदमी आते हैं।'

तीसरा बोला—'रगीन है।'

चौथा बोला—'माल बुरा नहीं है।'

मैंने खीझकर कहा—'चुप रहो। क्या बकते हो ?' इसके साथ ही मैं उठकर चल दिया।

३

इधर एक घटना और हो गई। मैं घूमता-घामता जाकर एक मदिर मे ठहर गया। उसमें एक बूढी मारवाडिन भी ठहरी हुई थी। उसके साथ एक विधवा युवती थी। जिस दिन मैं पहुँचा, उसी रात को उसकी चोरी हो गई

एक-एक करके सब गहना-रुपया चला गया। जब दूसरे दिन मैं सवेरे गगा-स्नान से लौटा तो पुलिस के दो-तीन सिपाही और थानेदार वहाँ बैठे थे। मुझे देखकर उन्होंने पास बुलाया और मेरा नाम-धाम पता पूछा। अन्त में तीन आदमियों के साथ मुझे भी पकड़कर थाने में ले गए। यह जीवन में पहला अनुभव था। थानेदार मुसलमान था, उसने बारी-बारी से सबको बुलाया। मैं जिस कटघरे में बन्द था, वहाँ से सब कुछ देख पड़ता था। उन तीनों को थानेदार ने खूब पिटवाया। उनमें एक मदिर का पुजारी और दो नौकर। मैं देखकर डर गया और अपने को कोस रहा था कि क्यों न मैं वापिस ही लौट गया। पर अब क्या हो सकता था। जब मेरी बारी आई तो मैंने टूटी-फूटी अंग्रेजी में दो-एक वाक्य बोले। थानेदार, जहाँ तक मैं जानता हूँ, अग्रेजी से अनभिज्ञ था। उसकी कुछ भी समझ में न आया। मैंने हिन्दी में कहा कि मेरे पिता २५०) मासिक के रेलवे के दफ्तर में हैं। मैं ननसाल से गगा नहाने आया था और साथियों से छूट गया हूँ। उसी रात को मदिर में ठहरा जिस रात को चोरी हुई। मैं तो चोरी की बात भी नहीं जानता। यदि मैं चोरी करता तो मदिर से भाग न जाता। मैंने और भी झूठ-सच कहा, जिससे थानेदार के ऊपर काफी प्रभाव पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने मुझे नहीं पीटा, और कहा—

'हम तुम्हारे पिता को चिट्ठी लिखकर वास्तविकता का पता लगाएँगे। फिर छोड़ेंगे।'

मैंने उत्तर दिया—'ठीक है पूछ लो।'

कहने को कह दिया। किन्तु मुझे डर था कि रेलवे दफ़्तर से पता लगाने पर अवश्य कलई खुलेगी, फिर न जाने क्या हो।

मुझे सिपाहियों ने फिर कटघरे में बन्द कर दिया। वहीं मुझे खाने को दिया। मैंने कहा—'मैं इस प्रकार भोजन नहीं कर सकता।' परिणामस्वरूप मैंने सध्या के चार-पाँच बजे तक भोजन नहीं किया। रात को एक सिपाही के घर से पूड़ियाँ बनकर आईं। वे भी मैंने न खाईं। फिर रात को दूध दिया गया। वही पीकर मैं सो गया।

मैं बीच-बीच में सोच रहा था कि जीवन में अत्यन्त पतन का जो रूप है, वह न जाने क्यों अपने आप ही मनुष्य के सामने आ जाता है। बिना प्रयत्न

के यह अपमान, लांछना जो मुझे मिली, उसका आदि कहाँ है ? क्या सचमुच मैंने चोरी की थी फिर क्यों मुझे ऐसा दिन देखना पडा ?

रात को दो बजे के लगभग फिर मुझे थानेदार ने बुलाया और चोरी के सबध में पूछने लगा। मैं तो सचमुच कुछ जानता भी न था। क्या उत्तर देता ?

जब बहुत-कुछ पूछने पर भी मैंने कुछ न बताया तो उसने क्रोध में आकर कहा—'चोरी तुमने अवश्य की है।

'मैंने चोरी की होती तो रुपया-गहना तो मेरे ही पास होता ?'

'तुम्हारा कोई साथी ले भागा होगा।'

'साथी का मुझे ज्ञान भी नहीं है। साथी मिलते तो मैं ही क्यो रहता ?'

इतना कहकर मैं रात्रि की उस स्तब्धता में अपनी परिस्थिति की विकटता पर रोने लगा।

थानेदार ने देखा, मेरे पास केवल १५) रुपये हैं। वह उसने ले लिए।

और मुझे फिर कठघरे में बन्द करवा दिया। मैंने देखा कि उन तीन व्यक्तियो की मार के मारे बुरी दशा थी। रात भर उनको मार पड़ती रही। मैं और तो नहीं उनके चिल्लाने-कराहने की आवाज सुनता था। उस रात को मेरे साथ एक और आदमी भी बद कर दिया गया था। उसने सुनाया कि पास ही एक गाँव का रहनेवाला हूँ। मेरी एक विधवा भौजाई है। उसे गर्भ रह गया। जब मैंने सुना तो लोक-लाज के भय से रामघाट पर लाकर उसका गर्भ गिराया। भ्रूण हत्या के कारण वह मर गई और मैं पकड़ लिया गया हूँ। किसी तरह भी चैन नहीं है। गर्भ नहीं गिरता तो समाज से, जाति से च्युत होता। लोगों के सामने मुँह दिखाने योग्य न रहता और अब जब ऐसा किया तो सरकार ने पकड़ लिया। भौजाई की लाश भी थाने में है।'

मैंने पूछा—'क्या किसी ने कह दिया ?'

वह बोला—'दो सौ रुपया पडे को दिया था। पर मालूम होता है किसी पड़ोसी ने शिकायत कर दी है।'

'उसे फौरन ले जाकर जला देते ?'

'तैयारी तो सभी कर ली थी। बस, उठा ले जानेवाले ही थे कि चौकीदार ने रोक दिया।'

'अब क्या होगा ?'

'इस थानेदार को भी कुछ खिलाना पड़ेगा। तब कहीं छुटकारा होगा।'

'कितना ?'

'जितना भी हो।'

'थानेदार क्या कहता है ?'

'रुपया चाहता है, सो दूँगा।'

इतना कहकर उसने सिगरेट जलाकर पी और धुँआ छोड़ने लगा। उसी समय एक सिपाही आकर उसे ले गया। मुझे उस रात बिलकुल नींद न आई। मैं जानने को उत्सुक था कि उसका क्या बनेगा ? यह निश्चित था कि भौजाई का जो गर्भ रह गया वह इन महाशय की ही कारस्तानी है। जैसे पाप को छिपाने का अड्डा भी तीर्थ-स्थान ही है। उसके चेहरे पर कोई दुविधा का चिह्न नहीं था। बड़े मजे से वह आकर लेटा था। जैसे घर में हो। सिपाही को बुलाकर सिगरेट भी उसी ने मेरे सामने मँगाई थी। रुपया ऐसे फेंका था जैसे नौकर को दिया जाता हो। फिर बाकी का पैसा भी नहीं लिया। थोड़ी देर बाद जब वह लौटा तो वैसे ही सिगरेट उसके मुँह में थी। आते ही वह लेट गया। मैंने पूछा—'क्या हुआ ?'

'डेढ हजार में फैसला हुआ। सवेरे चला जाऊँगा। लाश रात भर में फूँक दी जायगी।'

मैंने उससे कहा—'राम घाट में ब्रजमोहन नाम का एक रेलवे का बीमार बाबू टहरा हुआ है। क्या आप उससे मेरा ज़िक्र कर देंगे। मेरा नाम अजय है।'

उसने उसी लापरवाही से उत्तर दिया—'पता-वता तो है नहीं, खैर प्रयत्न करके देखूँगा।' जब वह जाने लगा तो मैंने कहा—'रहने दीजिए, किसी से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है।'

वह बोला—'थानेदार तुम्हे कल तक छोड़ देगा। उसके पास तुम्हे फाँसने का कोई प्रमाण भी नहीं है। इसके अतिरिक्त वह कह रहा था कि तुम बड़े घर के लड़के हो, कुछ ऐंठ सके तो ठीक है।'

'मेरे पास पन्द्रह रुपये थे, वह भी उसने ले लिए हैं।'

उसने कोई उत्तर न दिया और लापरवाही से सिगरेट का धुँआ उड़ाता सवेरे उठकर चला गया।

मैंने मन में कहा—'एक आदमी भयंकर अपराध करता है। स्त्रीत्व को कलंकित करता है, गर्भ गिराता है और रुपया चटाकर छूट जाता है और एक मैं निरपराध हूँ दरिद्र, जो दो दिन से हवालात में बन्द हूँ। कोई बात तक नहीं पूछता। जिस सुधी की सहायता के लिए मैं ठहर गया, उसे इसका ज्ञान भी नहीं है। यदि उसे मालूम भी हो जाता तो कौन कह सकता है कि वह मेरी कुछ भी सहायता कर पाती? उसने मुझे अकेला, असहाय जानकर भी कोई सहानुभूति नहीं दिखाई और अपनी प्रतिष्ठा का विचार करके बिना कुछ उत्तर दिए ही चली गई। न जाने मैं क्यों उसके पीछे पागल हो रहा हूँ। अब तो सम्भव है, वह चली भी गई होगी और न भी गई हो तो भी उसको मेरी सहायता की कोई भी अवश्यकता नहीं है। परन्तु यह विचार स्थायी न रहा।

हाँ, एक बात मैं कहना भूल गया। जिस समय थानेदार मुझे पकड़कर ले जा रहा था, उस समय पहले दिन के उन आदमियों में से, जो सुधी और मेरे ऊपर कटाक्ष कर रहे थे—एक व्यक्ति वहाँ उपस्थित था। उसने मुझे थानेदार को ले जाते देखकर कहा था कि अच्छा तो यह इस काम में भी चतुर है?

दूसरा बोला—'कौन-सा आदमी?'

वह फिर बोला—'तुम नहीं जानते।'

इसके साथ ही थानेदार आगे निकल गया। मैं उनके पीछे-पीछे थाने में लाकर बन्द कर दिया गया।

जब इस तरह पड़े-पड़े तीसरा दिन हुआ तो दोपहर के समय थानेदार ने मुझे पास बुलाकर कुछ कागजों पर हस्ताक्षर करते हुए कहा—

'देखो, तुम पर सरकार को पूरा सन्देह है और इस तरह तुम्हे तीन साल की सज़ा होगी।'

मैंने उत्तर दिया—'सन्देह का प्रमाण भी तो हो?'

थानेदार—'तुम्हारे पिता को हमने पत्र लिखा है, जवाब आने पर देखा जायगा।'

मैंने कहा—थानेदार साहब, आप जो चाहे करें, मैं निरपराध हूँ। मुझे पकड़ने से आपको कोई लाभ नहीं हो सकता।'

उसने घूरकर मुझसे कहा—'चुप रह।'

मैंने कहा—'आपके निरपराध लड़के को यदि इस तरह कोई पकड़ ले, तो आपको दुख होगा कि नहीं।'

वह बोला—'मेरा लड़का अलीगढ कॉलेज में पढता है। इसी साल गया है। तुमने कहाँ तक अंग्रेजी पढ़ी है?'

मैंने जवाब दिया—'मैट्रिक तक।'

उसने आश्चर्य के साथ कहा—'अच्छा? तो तुम सच कहते हो कि तुम्हारा इस चोरी में कुछ भी हाथ नहीं?'

मैंने दृढ़ता से कहा—'नहीं।'

एक सिपाही जो पास ही खड़ा था, बोला—'लड़का कुलीन देख पड़ता है।'

इसी समय थानेदार की लड़की जो दस-ग्यारह वर्ष की होगी, वहाँ आकर खड़ी हो गई और पिता के कंधे से सटकर मेरी तरफ देखकर बोली—'दूर से भैया सा है।' थानेदार ने लड़की को डाट दिया और वह अपना सा मुँह लेकर चली गई। जब थानेदार सब काम कर चुका तो बोला—'जाओ, तुमको छोड़ा जाता है और ये लो रुपये।'

उसने १५) रुपये मुझे देते हुए विदा किया। मैं भी हाथ जोडकर वापिस चला आया। मैं जैसे ही थाने से बाहर बीस कदम आगे गया होऊँगा कि सामने एक बैलगाड़ी पर बैठी हड़बड़ाती सुधी दिखाई पड़ी। एक बूढ़ा आदमी उसके साथ था। मुझे आते देख उसने गाड़ी रुकवा दी और उतरकर रोती हुई मेरे पास आकर बोली—'तुम कहाँ गए थे अजय! तुमने मुझे पागल कर डाला? मैंने सुना तुम पकड़े गए थे।'

मैंने कहा—'हाँ, अभी छूटा हूँ।'

उसने मुझे गाड़ी में बिठाकर गाडी वापस लौटाने को कहा और वह मेरे पास ही सटकर बैठ गई। मेरी सब कहानी सुनकर वह कहने लगी—

'मैंने आज सवेरे सुना तभी से मैं बेचैन हो रही हूँ। नाम तो नहीं बताया। हुलिया तुम्हारा ही था। मैंने समझा, हो न हो तुम्हीं होगे। तुम्हीं मेरी प्रतीक्षा में इधर-उधर ठहरे होगे और पकड़े गए होगे। चलो-चलो, तुम मेरे साथ चलो। मैं तुम्हे अब न जाने दूँगी।'

मैंने कहा—'यह अच्छा ही हुआ कि तुम थाने नहीं आईं। मैंने सच-झूठ बोलकर छुटकारा पाया है।'

मैंने देखा—जैसे उसे मुझे देखकर बड़ी शान्ति मिल रही है।

गाँव के पास पहुँचते हुए मैंने पूछा—'तुम्हारे पति क्या कहेंगे ?'

'मुझे उनकी कुछ भी परवा नहीं है।' वह कहने लगी।

जब हम लोगों की गाड़ी घर के पास पहुँची तो वह मुझे उतारकर भीतर ले गई।

मैंने जाते ही ब्रजमोहन को नमस्कार किया। वह एक खाट पर औंधे पड़े थे। साँस तेजी से चल रही थी। मुझे देखकर बोले—'आ गए ?'

मैंने कहा—'हाँ, कैसा स्वास्थ्य है ?'

इसके बाद वह कुछ न बोले और वैसे ही पड़े रहे। सुधी से मालूम हुआ, उनकी हृदय की बीमारी बढ़ गई है, कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता है कि बस, अब चला चली की बारी है। पास के एक वैद्य का इलाज हो रहा है।

शाम को वैद्य जब देखने आया तो मैंने एकान्त में ले जाकर उनका समाचार पूछा।

वह बोला—'रोग कृच्छ्रसाध्य है। जिस दिन भी हृदय की धकडन बढ गई, उसी दिन समाप्ति है। रोग एक नहीं अनेक हैं।'

इसके साथ ही सुधी आकर मेरे पास खड़ी हो गई। मैंने कहा—'वैद्यजी कहते हैं, रोग है ठीक हो जायगा, घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है।'

सुधी ने कहा—'पिछले चार-पाँच दिन से तो रोग और भी बढ़ गया है। अब तो न रात को नींद आती है न दिन को। पहले साँस का दौरा कभी-कभी होता था, अब प्रायः प्रतिदिन उठता है। साँस के कारण धडकन भी बढ़ गई है।'

वैद्य ने कहा—'मेरे पास जितनी अच्छी से अच्छी इस रोग की औषधि है, दे रहा हूँ।'

मैंने कहा—'यदि इससे अच्छी और कोई औषधि लाने की आवश्यकता हो तो वह मुझे कहिए, मैं नगर से ले आऊँ ?'

उसने उत्तर दिया—'मैं एक और औषधि बना रहा हूँ, कल तक तैयार हो जायगी। वह भी दूँगा।'

वैद्य के जाने के बाद मैं चुपचाप कमरे के बाहर एक चारपाई पर बैठ

गया। सुधी को देखकर मालूम होता था, जैसे वह कई दिनों से सोई नहीं है। उस रात को मैं बीमार के पास बैठा और सुधी को सुला दिया। मैं यथाशक्ति सुधी को आराम पहुँचाने का यत्न करता। इधर रोगी की भी सेवा करता। दो-तीन दिन में ही मैंने देखा कि व्रजमोहन का दृष्टिकोण मेरे प्रति कुछ सरल और स्नेह भरा हो गया है। एक रात को जब सुधी सो रही थी और मैं बैठा व्रजमोहन की छाती पर मालिश कर रहा था तो वह एकदम उठकर बैठ गये और बोले—

'मुझे क्षमा करो भाई, मैंने तुम्हे बडा कष्ट दिया है। मैं जो कुछ समझता था, उसके लिए मुझे बडा पश्चात्ताप है।' इतना कहकर वह मेरे पैर छूने लगे। मैंने उनका हाथ हटाते हुए कहा—'यह तुम्हारा नहीं मेरी अवस्था का दोष है कि तुमको भ्रम हुआ। मैं चाहता हूँ तुम शीघ्र स्वस्थ होकर अपने काम पर जाने योग्य हो जाओ और सुख से रहो।'

वह बोले—'मैंने कई बार चाहा कि तुम मेरे पास रहो। देखो, बीमार के पास यदि एक ही आदमी हर समय रहे तो वह भी बीमार हो जाता है। पर मेरा पापी मन किसी तरह भी नहीं मानता था आज मेरा मन साफ़ है।'

मैंने उन्हें सुला दिया और मालिश करने लगा।

इस प्रकार रात को प्रायः मैं जागता और दिन में सुधी उनकी सेवा करती। दिन मे ग्यारह बजे के समय मैं भोजन करके सो जाता और चार-पाँच बजे के लगभग उठता। फिर दवादारू लाने में बीत जाता। अब सुधी अकेले जाकर गंगा स्नान कर आती। सध्या के समय कभी मैं दवादारू देकर बाहर घूमने निकल जाता और रात को लौटता। थोडे दिनों बाद मालूम हुआ कि उस मारवाड़िन के गहने चुरानेवाला पकडा गया और उनमें वह साधु भी है, जिसके पास मैं ठहरा था। किन्तु गहने सोने के नहीं पीतल और ताँबे के हैं। असली गहने वह विधवा किसी और को दे आई है। वह आदमी भी पकडा गया, जिसे विधवा ने गहने दिये थे। वह आदमी उसी के गाँव का है, जो पूर्णमासी को गंगा-स्नान करके चला गया है। विधवा ने स्वीकार किया कि सोने के गहने उसने स्वय अपने प्रेमी को भेंट किए थे। एकाध बार थानेदार जो मिला तो मुझे देखकर आश्चर्य में भरकर पूछने

लगा। मैंने व्रजमोहन की बीमारी की कहानी सुनाई। इस पर उसने खेद प्रकट करते हुए रोगी के स्वास्थ्य की कामना की और चला गया।

इधर सुधी के मेरे सबध पहले की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ हो गए थे। वह रोगी की अपेक्षा मेरी चिन्ता अधिक रखती। मुझे क्या अच्छा लगता है वह खाना बनता। कभी-कभी व्रजमोहन को ठीक-ठीक पथ्य भी न मिलता। कभी देर हो जाती तो पति को डाट देती। उसे क्या वस्तु गरम चाहिए क्या ठडी इसकी भी कम चिन्ता करती। रात को मुझे दूध अवश्य पीना पड़ता। उन्हीं दिनों की बात है, अनियमितता के कारण या क्या मेरे सिर में बडे जोर से दर्द हो गया। व्रजमोहन को सोया जानकर मैं पास के कमरे में सिर पकड़कर लेट रहा। सिर से रूमाल बँधा था। सुधी चुपचाप मेरे कमरे में आई और मेरा सिर दबाने लगी। दबाते-दबाते नींद आ जाने से वह मेरे हृदय पर अपना सिर रख सो गई। उसके लहरते बाल मेरे मुँह पर उड रहे थे। मैं चुपचाप पडा रहा। उसके बालों की गुलफटें सुलझाने लगा। थोडी देर बाद मैंने उसका सिर उठाकर सुला दिया। मैं उसकी रूपराशि, उभरे हुए सौन्दर्य, निष्पाप सुख का रस-पान करने लगा। उस समय उसके मुख पर ग्लानि की छाया थी। पश्चात्ताप के आँसू सूख गए थे। मैं उसको देखकर सोच रहा था। क्या ही अच्छा होता मैं उसके यौवन प्रतिदान को हृदय के उच्छ्वासों मे भर कर चिर-शाश्वत बना सकता। ऐसा मालूम होता था उसके उन्नत स्तनों का उभार मूक सकेतों द्वारा मुझसे कुछ रहा हो। जीवन में विस्मय कुछ नहीं है, आशा है जो विस्फारित नेत्रों से किसी को देख रही है। वह मैं हूँ या व्रजमोहन। एक निःशक्ति है दूसरा अनधिकारी। नहीं मैं शत-शत उमगों से आजीवन इसको प्राणदान दूँगा। यह मेरी है। यह मेरी है। इस समय सुधी ने आँखें खोल दीं और मुझे देखकर मुसकरा दी। मैं मुँह नीचा करके चुबन लेने को ही था कि वह हाथ से मुझे परे करके पति के पास उठकर चली गई। मैं पडा शून्य की ओर देखता रहा। वह रात न जाने क्या सोचते बीता। व्रजमोहन न जाने क्यों इन दिनों चिडचिडा होता जा रहा था। कभी-कभी मैं सुधी के प्रातःकाल स्नान को जाने पर पथ्य तैयार करता। पर ऐसा अवसर बहुत कम आता था। इससे पूर्व व्रजमोहन ने स्वय सुधी से आग्रहपूर्वक कह रखा था कि जब तक हम यहाँ हैं, सुधी को प्रातः स्नान अवश्य करना

चाहिए। जब दो-एक दिन वह काम की अधिकता के कारण नहाने न जा सकी थी तब उस दिन ब्रजमोहन ने उसे डाटा था और पथ्य को घण्टों पड़ा रहने दिया। अब वह अपने काम में ज़रा भी लापरवाही देखता तो भुनभुना उठता। वह अपने सामने सुधी को बैठा भी नहीं देख सकता था। कुछ न कुछ बताता रहता। और कुछ नहीं तो यही कि इस कमरे में कूड़ा पड़ा है इसे साफ करो। एक कागज का टुकड़ा पड़ा देखकर बाहर फेंकने को कहता। कभी चटाई सीधी कर दो, मुड़ क्यो रही है। दरी मे सिलवट ठीक कर दो। तकिये के साफ गिलाफ को भी बदलवाता। एक दिन राधाकृष्ण की मूर्ति सुधी खरीद लाई तो उसे ही एक जगह से दूसरी जगह बदलवाकर बार-बार हटाया और फिर लगवाया। एक दिन दोपहर के दो बजे सुधी काम करके लेटी थी तो तसवीर को एक और स्थान पर लगवाने के विचार से उसे कील लेने बाहर भेजा। मैं पास ही सो रहा था। मैंने कहा—'इस समय जाने की आवश्यकता नहीं है। मैं सायंकाल जाकर ले आऊँगा। पर वह न माना। रात को मेरे जागकर सेवा करते रहने पर भी वह सुधी को ही उठाता। बात यहीं समाप्त नहीं हुई। अब जब तब गालियाँ भी देने लगा।'

मैंने एक दिन उसको जरा स्वस्थ होते देख समझाया कि तुम्हारा व्यवहार सुधी के प्रति अशिष्ट होता जा रहा है तो क्रोध में आकर मुझे ही दो-तीन गालियाँ दे डालीं। फिर दो घण्टे के बाद क्षमा माँगने लगा। हम दोनों में कोई-न-कोई हर समय उसके पास रहता। जब सुधी उसके पास होती तो वह मेरी बुराई करता और मेरे उसके पास बैठने पर सुधी की निन्दा करता। कभी-कभी दिन भर बकता, कभी बिलकुल गुम-सुम हो जाता। पूछने पर कोई उत्तर न देता।

एक दिन बहुत ही कष्ट बढ़ गया तब मैंने सुधी से कहा—'रोग बढ़ता जा रहा है।'

सुधी ने उपेक्षा दिखाते हुए उत्तर दिया—'बस, थोड़े दिन के मेहमान हैं। नहीं तो मैं एक दिन भी ऐसे दुष्ट के पास न रहती।'

मैंने उत्सुक होकर पूछा—'कहाँ चली जाती सुधी ?'

उसने बनावटी क्रोध से उत्तर दिया—'तुम्हारी धूर्तता अभी नहीं गई।'

वस्तुतः मैं सुधी को दिन भर काम करके मशीन की तरह पिसते देखकर

बहुत दुःखी हो गया था। पर लाचारी का कोई भी उपाय न था। स्त्री कितनी सहिष्णु होती है, इसका ज्ञान मुझे उसी समय हुआ। वह दिन भर काम करती, रात को घण्टों उसकी सेवा करती। जब मैंने देखा कि सुधी को मेरे जागने और उसकी देख भाल करने पर भी जागना पड़ता है, तब मैं सोने लगता। एक रात को अचानक कराहों की आवाज सुनकर जो आँख खुली तो देखा कि सुधी के हाथ से खून बह रहा है। मैंने एकदम उठकर उसके हाथ को धोकर गीली पट्टी बाँध दी। वह धूर्त उस समय मुझे ही गाली देने लगा। घाव काफी गहरा था। ब्रजमोहन ने मामूली सी बात पर पास में पडा चाकू मार दिया। सुधी न तो चिल्लाई न रोई ही, एक बार 'हाय' कहकर गिर पड़ी। मैं उस घर में उस व्यक्ति के समान था, जिसका कोई महत्व न हो। सुधी जितनी मेरी देखभाल करती, ब्रजमोहन उतनी ही मेरी अवज्ञा करता। अवज्ञा और अपमान तो वह सुधी का का भी करता था पर मुझसे उसे इन पिछले दिनों से चिढ हो गई थी। एक दिन मैंने सुधी और ब्रजमोहन के सामने कहा—

'भाई ब्रजमोहन, मुझे इतने दिन हो गए हैं, अब आज्ञा दो।'

तब वह एकदम बोला—'हाँ, बहुत दिन हो गए हैं। तुम भी कहाँ तक रह सकते हो? जाओ।'

सुधी को जैसे वज्र लगा, बोली—'नहीं, मुझे असहाय छोड कर तुम चले जाओगे अजय! इन्हें तो कुछ सूझता नहीं है। कल को कुछ हो गया तो मैं क्या करूँगी!'

ब्रजमोहन बोला—'हाँ मैं मर गया तो फिर यह क्या करेगी? तुम रहो अजय! जाना ठीक नही है। तुम दोनों एक साथ के खेले, साथ पढे, रहे हो यह जोडी भी ठीक रहेगी।'

उसके इस वाक्य को सुनकर सुधी एकदम उठकर चली गई। मैंने आवेश के साथ कहा—'मैं समझता था कि तुम कुछ समझदार हो, किन्तु आज मालूम हुआ, तुम्हारी बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई है। तुम्हें ऐसा कहते लज्जा भी नहीं आती। मेरा कौन सा ऐसा आचरण देखा, जिससे तुम्हे ऐसा कहने का साहस हुआ।'

ब्रजमोहन थोड़ी देर चुप रहकर बोला—'कुछ भी समझ मे नहीं आता। एक आग सी भीतर जलती रहती है। वही भडक उठती है भाई! चलो जाने दो क्षमा करो।'

मैंने कहा—'तो मैं कल चला जाऊँगा। तुम जानो तुम्हारा काम।'

इतना कहकर मैं भी उठकर बाहर चला गया। रात को देर तक गगा के किनारे बैठा रहा। मैं सोचने लगा कि कौनसी आग इस व्यक्ति के भीतर भड़क रही है। विश्लेषण करके मैंने पाया कि व्रजमोहन का कहना अनुचित नहीं है। कौन पति अपनी स्त्री के पास इस तरह किसी दूसरे व्यक्ति का रहना पसन्द कर सकता है, इसके अतिरिक्त व्रजमोहन बीमारी के कारण असमर्थ है। देखता है कि रोग के कारण यह उसके यौवन का उपभोग नहीं कर सकता। अनुपभोग से भी झुँझलाहट होती है। इस प्रकार का असामर्थ्य कभी-कभी उसे असह्य हो उठता है। इसके साथ मैं किस सबंध से इसके साथ हूँ। यदि मैं व्रजमोहन का सम्बन्धी होता तो उसे किसी प्रकार की आपत्ति न होती। उसके रोग, सुधी के यौवन, मेरे स्वस्थ रहने ने उसे ग्लानि विभोर कर दिया है। यह स्वाभाविक है। यही बात रह-रहकर उसे टोंचती है। वह चाहता है कि मैं इस बीमारी में भी स्त्री को उसी अधिकार से रखूँ, जिस अधिकार से कोई स्वस्थ्य रख सकता है। किन्तु बीमारी के कारण वह अशक्त है। मेरे उपयोग को वह केवल संकट की दशा में ही स्वीकार करता है। जब वह पहलेवाला वेग उसे कचोटती है, तब उसकी प्रकृति विकृत होकर उग्र रूप धारण कर लेती है। इधर सुधी मुझे सर्वथा अपना विश्वसनीय समझती है। निश्चय ही यह पति से संतुष्ट नहीं है। रह-रहकर मैं यही सोचने लगा, फिर सोचा, नहीं, यदि यह पति की इतनी सेवा करती है दिन-रात एक किए उसके पीछे घुली जा रही है, वह अवास्तविक कैसे हो सकता है यह दिखावा तो कदापि नहीं हो सकता। उसकी चेष्टा को देखते हुए कोई भी नहीं कह सकता कि उसे पति से प्रेम नहीं है। इधर वह न जाने क्या सोचा करती है? मेरे बोलने पर उत्तर दे देती है और दिन-रात पति की चारपाई के पास मूक रहकर जड़ की तरह उसकी सेवा करती रहती है। हाथ में चाकू लग जाने पर उसके मुख से एक शब्द भी पति के प्रति नहीं निकला और पहले की तरह उस तरह सेवा करती रही। बल्कि अब तो कभी-कभी ऐसा देख पडता है कि वह रात को सोती भी नहीं है। मैं पिछले दिनों से दूध अपने आप लाने लगा था किन्तु सुधी ने अब वह काम भी अपने हाथ में ले लिया है। ठीक है अब मुझे जाना भी चाहिए परन्तु जाने की कल्पना करते ही जैसे कोई प्राण खींचने लगता। जब मैं बहुत देर बाद उठकर घर पहुँचा तो देखा सुधी व्रजमोह

की छाती में मालिश कर रही है। उसने कहा—'भीतर रसोई में थाली परसी रखी है, खा लो।'

मैंने उत्तर दिया—'मुझे भूख नहीं है।'

इस पर सुधी ने न तो कोई आग्रह ही किया न अनुरोध। और दिन वह मुझे स्वय परस कर ला देती और अवकाश मिलने पर सामने बैठकर भोजन कराती थी। जब प्रातःकाल उठकर मैं बिस्तर बाँधकर जाने को तैयार हुआ तो सुधी ने कोई आपत्ति न की और धीरे से कहा—'अपनी प्रसन्नता का पत्र देते रहना।' इन वाक्यों के साथ ही वह रसोई में चली गई। व्रजमोहन ने जब सुना कि मैं जा रहा हूँ त एकदम चिल्लाकर रो पड़ा।

उसका रोना सुनकर सुधी दौड़ी आई और बोली—'क्या हुआ इन्हें ?'

मैं स्वय आश्चर्य में था कि क्या कहूँ ? मैंने धीरे-धीरे कहा—'न जाने क्यों जब मैंने जाने का नाम लिया तो यह रो पडे।'

वह पति से बोली—'जाने क्यों नही देते ?'

व्रजमोहन बोला—'जाने दूँ ? मैं इस अवस्था में पडा हूँ।'

सुधी ने कहा—'मैं जो हूँ।'

व्रजमोहन थोड़ी देर चुप रहकर कहने लगा—'जाना बुरा नहीं है। मैं यदि अजय की अवस्था में होता तो अवश्य चला जाता। अच्छा जाओ ! न जाने मैं क्यों रो पडा ? सुधी इन्हे जाने दो।'

सुधी बडा गभीर मुँह बनाकर बोली—'जाओ अजय !' इतना कहकर उसने थोडा-सा खाना जो इसी बीच में बना रखा था, बाँधकर मेरे सामने रख दिया। वहाँ से स्टेशन कोई चार मील के लगभग था। गाडी मँगाकर मैं उसमें बैठा और चल दिया। चलते हुए मैंने सुधी की तरफ देखा तो मुँह फेर उसने आँसू पोंछ लिए। मैं पराजित की तरह चल दिया। रेलगाडी एक बजे के क़रीब जाती थी, वह आठ का समय था। मैं चुपचाप गाडी में बैठा जा रहा था। रेलगाडी में जाते-जाते मैं सोचने लगा, मेरा जीवन भी इसी तरह ढचर-ढचर करके चल रहा है। इन बैलों के क्या उमँगें हैं। केवल खाना और स्वामी का काम करना। दिन-रात एक करके स्वामी का काम करना। इन्होंने स्वामी नामधारी जीव को काम करने का कोई वचन नही दिया, ये स्वतत्र रहकर इधर-उधर विचरण करके अपना पेट भर सकते थे, फिर भी

मनुष्य ने केवल भोजन देने की प्रतिज्ञा करके इन्हे बाँध लिया है और ये युग-युग से पड़ी हुई पहियों की लकीर पर चले जा रहे हैं। मार खाकर कभी दौडते हैं, फिर धीमी चाल से चलने लगते हैं। आज की नारी और विशेष करके सुधी की भी तो यही दशा है। उसे भी भोजन मात्र में ब्रजमोहन ने अपनी इच्छी की दासी बना रखा है और युग-युग से चली आई पति-सेवा की लकीर पर वह चली जा रही है। डाट, फटकार खाकर कभी दौडने लगती है, फिर अपनी चाल से चलती रहती है।

मार्ग में एक गाँव के बाहर कुआँ मिला। वहाँ उतरकर मैंने पानी पिया और फिर गाड़ी में आ बैठा। गाडीवान ने बैलों को पानी पिलाया और वहीं जगत पर बैठकर तमाखू पीने लगा। उसी समय मैंने देखा कि सामने से एक रुग्ण स्त्री छोटे-छोटे चार बच्चों के साथ सिर पर बोझ रखे आ रही है। बच्चे प्रायः नंगे और दुर्बल थे। सबकी आँखों में मैल जमा हुआ था, रोगिणी का लहँगा बीच-बीच में फटा हुआ वह भी बेहद मैला। ऊपर की चादर जीर्ण हो चुकी थी। वह आकर मेरी गाड़ी के सामने कुएँ के पास बोझ रखकर बैठ गई। चलने से उसका दम फूल रहा था। बच्चे उधर चिल्ला रहे थे रोटी, अम्मा रोटी! उसने स्वस्थ होकर दो रोटियाँ निकालीं और आधी-आधी करके उनमें बाँट दीं। मैंने उस स्त्री से पूछा—'कहाँ जायगी?'

'स्टेशन जाऊँगी बाबूजी!' इतना कहकर बड़ी दयनीयता से उसने मुझे देखा। मैंने कहा—'स्टेशन अभी एक कोस है। ये बच्चे कैसे चलेंगे?'

इसका उसने कोई उत्तर नहीं दिया और एक लम्बी साँस भरकर रह गई। वहाँ दो-तीन आदमी और भी थे। एक पानी वाला, एक वैसे ही बैठा हुक्का पी रहा था। एक लड़का था, जिसकी गायें पास ही कहीं चर रही थीं।

पानीवाले ने कहा—'इसका मालिक दो महीने हुए मरा है। ज़मीदार ने गाँव से निकाल दिया है।'

दूसरा बोला—'तभी तो कहा है, बडे से नहीं उलझना चाहिए।'

ग्वाला बोला—'जमीन भी छीन ली। कल तो मकान भी इसका गिरा दिया। जाय न तो क्या करे बिचारी?'

गाड़ीवान ने चिलम का जला हुआ तमाखू उलटते हुए कहा—'अन्न-जल की बात है। जब तक अन्न-जल रहा तब तक रही, उठ गया तो चल दी।'

मैंने देखा कि उन दोनों रोटियों के चार टुकड़ों में बच्चों का बिलकुल पेट नहीं भरा है। मैंने चट से सुधी की दी हुई भोजन की पोटली उनको देते हुए कहा—'लो खा लो।'

बच्चों ने लड़ते-झगड़ते हुए पोटली खोली और कई दिनों के भूखों की तरह खाना प्रारम्भ कर दिया। उसमें से अचानक बीस रुपये के दो नोट भी गिरे। उन कागज के टुकड़ों को देखकर बच्चे चिल्लाने लगे।

स्त्री ने उनके हाथों से छीनकर वे रुपये मुझे लौटाते हुए कहा—'ये रुपये हैं बाबू।'

मैंने लापरवाही से उत्तर देते हुए कहा—'तू ही ले ले।'

वह इतना भी नहीं जानती थी कि कितने रुपये के नोट हैं। मैंने कहा—'बीस रुपये हैं, सँभाल कर रख ले।'

बीस रुपये का नाम सुनकर रोगिणी उछल पड़ी। पानीवाला, ग्वाला, गाड़ीवान और वह आदमी एकदम बोल पड़े—'तू क्या करेगी बीस रुपये!' सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे।

मैंने कहा—'नहीं रहने दो, यह इसी के भाग का है। चलो!'

मैंने देखा कि रोगिणी का चेहरा एकदम बदल गया है। उसमें साहस आ गया है। जब मैं चलने लगा तो वह भी उठ पड़ी। मैंने उसकी पोटली गाड़ी में रखवा दी। किन्तु थोड़ी दूर जाने के बाद मैं उतर पड़ा और उन बच्चों को एक तरफ मैंने गाड़ी में बैठा दिया। रोगिणी को बैठा दिया। जब स्टेशन के पास पहुँचे तो किराया देकर मैं प्लेटफार्म पर आ बैठा। रोगिणी भी जरा दूर हटकर बच्चों के साथ बैठ गई। वह चाहती थी, मैं उससे कुछ बात करूँ, परन्तु मैं उठकर टहलने लगा। पहले गाड़ी उसी की आई। जब वह गाड़ी में जाने लगी तो दौड़कर मेरे पैर छूने आई, कुछ कहना भी चाहती थी। मैंने दूर से मना कर दिया। वह कृतज्ञता से मेरी ओर देखती हुई गाड़ी में जा बैठी। जब तक गाड़ी चल न दी, तब तक वह मेरी ओर ही देखती रही।

मेरी गाड़ी आने में अभी एक घंटे की देर थी। मैं शून्य दृष्टि से इधर-उधर घूम रहा था। इसी समय मैंने देखा, दो आदमी ब्रजमोहन को पकड़े चले आ रहे हैं। एक आदमी के सिर पर असबाब है और पीछे-पीछे सुधी

आ रही है। सुधी ने आते ही बिस्तर बिछाया और उसे लिटा दिया। आप भी सामान रखकर पास बैठ गई। दूर से मैंने देखा कि वह जैसे मुझे ही ढूँढ रहा हो। मैं उत्सुकतावश जैसे ही पास पहुँचा, वैसे ही व्रजमोहन ने कहा—'मैंने आते ही कुलियों से मालूम किया कि तुम्हारी गाड़ी अभी नहीं गई है। भैया, अब मैं थोड़े दिन का मेहमान हूँ। बस, थोड़े दिन का!' इतना कहकर वह चुप हो गया।

सुधी कुछ भी न बोली। और उसने चुपचाप बटुए में से रुपये निकाल रुपये देते हुए मुझसे कहा—'अपना टिकट ले आओ! हमारे पास तो 'पास' है।'

मैंने जवाब दिया—'टिकट के पैसों की क्या आवश्यकता है? मैं स्वय ले लूँगा और मैं बिना रुपये लिए ही इण्टर क्लास का एक टिकट खरीद लाया। गाड़ी आ रही थी। हम लोग आराम से बैठकर चल दिए। गाड़ी में भी सुधी ने कोई बातचीत नहीं की। केवल कभी-कभी व्रजमोहन कुछ पूछता तो मैं उत्तर दे देता था। सुधी का यह व्यवहार एक पहेली था। वह रास्ते में केवल एक बार ही बोली।

मैं रास्ते भर खिड़की से बाहर मुँह निकालकर यही सोचता रहा कि सुधी का यह कैसा व्यवहार है? क्या मैं उसे भारी हो उठा हूँ अथवा व्रजमोहन ने कुछ कह दिया है? इसमें कोई सदेह नहीं है कि मैं सुधी के कारण ही यहाँ था किन्तु उस समय मुझे ऐसा लगा कि व्रजमोहन के साथ आकर मैंने गलती की है। जब सुधी मुझसे बोलना भी नहीं चाहती तब मैं क्यों इसके पीछे फिरता हूँ? व्रजमोहन से तो मेरा कोई स्पष्ट सम्बन्ध है नहीं। केवल सुधी का विचार करके ही मैं यहाँ ठहरा था। एक बार जी में आया, मैं अपने स्टेशन पर ही उतर जाऊँ, वह उसके स्टेशन से पहले आता था, किन्तु सुधी की तरफ देखकर कहने का साहस न हुआ। वह चुपचाप बैठी थी, उदास और अन्तर्मुखी होकर न जाने वह क्या सोच रही थी? इतने पर भी, मैंने समझा कि मुझमें सुधी की उपेक्षा करने की सामर्थ्य नही है और वह भी जैसे मुझे अपना समझती है, इसीलिए एक स्टेशन पर उसने मुझसे कहा—'अजय, एक लोटा पानी ले आओ!'

और मैं मूक की तरह उठकर पानी लेने चला गया। फिर उसने मुझसे पूछा—

'खाना खा लिया ?'

'नहीं ।'

'खा लो ।'

'वह मैंने एक रोगिणी स्त्री को दे दिया ।'

उसने अपने भोजन में से निकालकर मेरे सामने परोस दिया। और बोली—

'खाओ ।'

'मुझे भूख नहीं है ।'

मेरे इतना कहने पर मुझे शासन की दृष्टि से देखते हुए—'खा लो। बहुत देर हो गई है। भूख क्यों नहीं है ?'

मैंने कहा—'तुम भी खाओ ?'

'मैं रेल में नहीं खा सकती, तुम खाओ !' इतना कहकर वह मेरी ओर देखने लगी।

अन्त में मुझे खाना पड़ा ।

४

संस्कृत में एक कहानी आती है कि एक ऊँट की गरदन लटकती देखकर एक गीदड़ ने सोचा कि यह गरदन अवश्य गिरेगी और फिर मुझे पेट भरकर खाने के लिए कई मास की सामग्री मिल जायगी। अन्त में लिखा है इसी प्रतीक्षा में वह गीदड़ बारह साल यानी आजीवन उस ऊँट के पीछे फिरता रहा। यही और इससे मिलती-जुलती दशा हुई उस स्टेशन मास्टर के लड़के मनोहर की। ब्रजमोहन को गंगास्नान कराने जब वह ले गया था तब उसने सोचा था कि शायद ब्रजमोहन गंगा के किनारे मर जाय परन्तु दैवयोग से ऐसा नहीं हुआ। वहाँ उसने सुधी से एकान्त होकर प्रस्ताव किया कि वह उस पर मुग्ध है। इस पर सुधी ने उसे बहुत बुरा-भला कहा। ब्रजमोहन ने भी रुग्णावस्था में पड़े-पड़े

उसे फटकारा। इधर मकान पर आकर फिर उसने सुधी को तग करना प्रारम्भ कर दिया। स्टेशन मास्टर का लड़का होने के कारण व्रजमोहन उसको घर आने पर रोकने से डरता था। क्वाटर उसको स्टेशन मास्टर की कृपा से ही मिला था। बाकी बाबू लोग शहर में मकान लेकर रहते थे। उस दिन मैं सबेरे व्रजमोहन को इक्के पर बैठाकर डाक्टर के पास ले गया। दवा लेकर जब लौटा तो देखा, शराब के नशे में चूर मनोहर गुसलखाने के किवाड तोडता हुआ सुधी को बुला रहा था और वह गुसलखाने में बन्द थी। भीतर से उसने चटखनी लगा ली थी। बिस्तर सदूक सब इधर-उधर बिखरे पडे थे। मालूम होता था कि सुधी को न पाकर मनोहर ने उसे दण्ड देने या तग करने के लिए यह सब किया था। व्रजमोहन तो थकान के मारे बेहोश-सा हो गया था। मैंने ले जाकर उसे खाट पर लिटा दिया। दवा की शीशियाँ पास ही मेज पर रखकर सुधी को पुकारा। मुझे देखकर मनोहर वहाँ से खिसक गया। सुधी ने बाहर आकर रोते-रोते बताया कि मनोहर हम लोगों के जाने के थोड़ी देर बाद आ गया और यहाँ मुझे अकेली देखकर पकडने दौडा। मैं इधर-उधर भागकर अपने को बचाती रही। एक बार बाहर भाग गई। जब वह बाहर आया तो मैंने भीतर घुसकर किवाड़ लगा लिये। वह अपनी छत पर से दीवार लाँघकर फिर इधर आ गया। मैंने गुसलखाने में घुसकर किवाड़ लगा लिए। बस तभी से बन्द हूँ। व्रजमोहन ने चैतन्य होकर जब यह समाचार सुना तो बडबड़ाने लगा। मैंने कहा कि यदि तुम्हे बुरा न लगे या हानि न समझो तो मैं इसकी मरम्मत कर सकता हूँ। सच-मुच मुझे उस समय बडा क्रोध आ रहा था।

सुधी बोली—'इस तरह से तो हम शहर में मकान लेकर रहना पसन्द करेंगे। यह दुष्ट सदा मुझे सताता है और ये सदा तरह देते रहते हैं।'

व्रजमोहन बोला—'स्टेशन मास्टर का लडका है। वे स्वय इससे तग हैं। कई बार समझाया, पर वह नही मानता।'

मै चुपचाप बाहर निकल गया और मैंने देखा कि मनोहर पास ही कमरे के बाहर बरामदे में खाट पर पड़ा बक रहा है।

मैंने पास जाकर कहा—'क्यों मनोहर बाबू, तुमको दूसरे के घर जाकर उसकी स्त्री को तग करते शर्म नहीं आती?'

मनोहर उसी लापरवाही के साथ बोला—'तुम कौन हो, जो उसकी तरफ से वकालत करने आए हो।'

इतने मे उसके पिता बाहर आ गए। मैंने उनसे कहा—'देखिये दूसरो के घर में जाकर उनकी बहू-बेटियो को तग करना कोई भलमनसाहत नहीं है। आपको रोकना चाहिए। उसका पति बीमार है नही तो मजा चखा देता।'

स्टेशन मास्टर ने कहा—'तुम कौन होते हो, उसकी तरफ से बोलने वाले।'

मैंने तेज होकर कहा—'मैं कोई भी सही, किन्तु आपके लड़के का यह काम बहुत बुरा है। इसको रोकिये नहीं तो अच्छा न होगा।'

स्टेशन मास्टर लडके को डाटते हुए और मुझसे कहने लगा—'ब्रजमोहन की स्त्री तो पहले ही खराब है, उसी ने हमारे लडके को खराब किया है।'

मैंने जवाब दिया—'आपको गृहस्थ होकर ऐसा न कहना चाहिए। आपके घर भी तो बहू-बेटियाँ होंगी। उनके सम्बन्ध में कोई ऐसा कहने लगे तो आप क्या करेंगे? ब्रजमोहन बीमार है, निर्बल और आपके नीचे काम करता है, इसीलिए ऐसा कह रहे हैं और फिर किसी की स्त्री को दोष देना तो और भी बुरा है।'

स्टेशन मास्टर ने खेद प्रकट करते हुए ब्रजमोहन का हाल पूछा और कहने लगा कि लड़का बेक़ाबू हो गया है। कई बार महीने-पन्द्रह दिन के लिए भाग भी गया है। क्या करूँ! आप ही कोई उपाय बताइये। इतने में उनकी स्त्री, ब्रजमोहन और सुधी को गालियाँ देती हुई निकल आई और बोली—'वही कौन सीधी है? फिर लड़के से बोली—'बीसो बार समझाया, वहाँ न जाया कर, परन्तु मरा माने ही नहीं है।' फिर मुझसे बोली—'जा, हिमायत लेकर आया है। कुलियों से पिटवाऊँगी।' इस पर स्टेशन मास्टर ने उसे डाटा, किन्तु वह बोलती ही रही। ब्रजमोहन और सुधी भी क्वार्टर में यह समाचार सुनते रहे। जब मैं लौट कर आया तो सुधी कहने लगी—'आज ही शहर में मकान ले लो। मैं यहाँ नहीं रह सकती।'

ब्रजमोहन बोला—'इतना सस्ता मकान तो शहर में मिलने से रहा। इसके अतिरिक्त मनोहर तो वहाँ भी पहुँच सकता है।'

मैंने धीरे से पर दृढता से कहा—'ब्रजमोहन बाबू, यह तुम्हारी नपुसकता है, जो यह तुम्हारे देखते तुम्हारी स्त्री का अपमान कर गया है और कोई होता तो खून हो जाता।'

. व्रजमोहन कुछ न कहकर रोने लगा। उसके हृदय की गति बढ़ गई और वह एकदम मूर्छित हो गया। मैं भी चकरा गया। व्रजमोहन न जाने क्यों क्वार्टर नहीं छोड़ना चाहता था। उधर सुधी हठ पकड़ गई। उसने कहा—'मैं इस मकान में खाना नहीं खा सकती।'

मैं कभी व्रजमोहन को मनाता, कभी सुधी को। जब सायंकाल के पाँच बजे तक सुधी ने भोजन न किया तो मैंने व्रजमोहन को धीरे-धीरे, समझाते हुए कहा कि यदि सुधी बीमार हो गई तो तुम्हारी सेवा कौन करेगा? इस तरह तुम घर में कष्ट बढ़ाने का कारण बनोगे और सुधी जो मकान छोड़ने के लिए कह रही है, वह तुम्हारी प्रतिष्ठा के लिए ही तो। यदि कल को मनोहर ने सुधी को अपमानित कर दिया तो तुम्हारी क्या प्रतिष्ठा रह जायगी! व्रजमोहन फिर कुछ न बोला और 'अच्छा कल देखा जायगा।' कहकर चुप हो रहा।

मैं जब समझाते हुए हारकर शाम को दवा लेकर लौटा तो देखा मनोहर व्रजमोहन के पास बैठा है। सुधी दूसरे कमरे की चटखनी बन्द किए भीतर है। मुझे देखते ही उसने कहा—'बाबू व्रजमोहन को अब यह दवा देने की आवश्यकता नहीं है। आज रेलवे के डाक्टर से मैंने कहा है, वे कल इनको देखने आवेंगे।' यह कहते हुए शीशियाँ जो मैं लाया था, अपने हाथ में ले लीं। व्रजमोहन कुछ भी न बोला। थोड़ा देर बाद जब मनोहर चला गया तो व्रजमोहन बोला—'सुधी तो वैसे ही घबराती है। मनोहर तो बहुत अच्छा आदमी है।'

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न था। मैं बाहर आँगन में खाट बिछाकर लेट गया और सोचने लगा। क्या कारण है जो व्रजमोहन अपनी स्त्री की परवा न करके भी क्वार्टर में रहना चाहता है और मनोहर जैसे नीच से बार-बार मिलता है। अवश्य कोई ऐसी बात है, जो व्रजमोहन के वश के बाहर की हो गई हो। नहीं तो कोई भी पति अपनी स्त्री को अपमानित नहीं देख सकता।

मैं उठकर एकदम बाहर चला गया। सामने मनोहर बच्चों के झूले पर बैठा झूल रहा था। मुझे देखकर उसने मुझे पास बुलाया और कहने लगा—'तुम समझते हो, सुधी को मैं यों ही छोड़ दूँगा? मैंने दो सौ रुपये व्रजमोहन को दिये हैं केवल इसी के लिए। आज नहीं तो कल वह मेरी होगी।'

मैंने बात को ठीक-ठीक जानने के ढग से कहा—'किन्तु व्रजमोहन तो कहता है कि उसने कोई रुपया तुमसे नहीं लिया?'

वह एकदम चिल्ला उठा—'लिया कैसे नहीं है। मेरे मुँह पर कहे तो जानूँ। पचास रुपये बीमार पडने से पहले दिये। पचास गगा-स्नान को जाते समय दिये। सौ रुपये अभी तुम्हारे सामने देकर आया हूँ।'

मैंने कहा—'मनोहर बाबू, ये रुपये तो तुमने उधार दिये होंगे?' वह अच्छा होकर तुम्हे लौटा देगा। सुधी को बीच में क्यों सानते हो।'

वह बोला—'बात यह है अजय बाबू कि मैं कोई मालदार आदमी तो हूँ नहीं जो क़र्ज बाँटता फिरूँ। 'मैंने तो व्रजमोहन से साफ कह दिया था कि सुधी को मैं जी-जान से चाहता हूँ। इसीलिए रुपये दे रहा हूँ।'

'फिर उसने क्या कहा?'

'उसने कहा.. ...'

मैंने कहा—'जरा धीरे बोलो मनोहर!'

उसने धीरे से कहा—'व्रजमोहन कहता है, मैं तो अच्छा होने से रहा, जितने दिन जीता हूँ, खर्च से तग क्यों होऊँ, इसके अतिरिक्त व्रजमोहन की कोई बहुत तनखा भी तो नहीं है।'

'चालीस रुपये मिलते हैं। इतने रुपयो में उसका निर्वाह ही कठिनता से चलता है।'

'फिर मेरे रुपये वह कैसे लौटा सकता है?'

'तो क्या सुधी को वह तुम्हें सौंप देने को कहता है?' मैंने पूछा।

वह कहने लगा—'मैं सुधी को लेकर क्या करूँगा? मुझे कुछ दिन मौज उडानी है। लेकिन तुम यह सब क्यों पूछ रहे हो?' मालूम होता था कि वह इस समय भी शराब पिये था, उसके मुँह से धीमी-धीमी दुर्गन्ध उठ रही थी।

मैंने कहा—'किसी की स्त्री को इस तरह छेडना क्या ठीक है? सुधी तुम्हारे इस आचरण से कितनी दुखी है। सुबह से उसने खाना नहीं खाया। यह व्रजमोहन की कायरता है कि उसने तुमसे अपनी स्त्री को बेचकर रुपये लिए हैं। तुम समझदार हो। बडे आदमी हो।'

वह बोला—'अजय बाबू, मैं सुधी को किसी तरह भी नहीं छोड़ सकता। मेरा तो काम ही यही है।'

मैंने कहा—'तो क्या और भी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जिनसे तुम्हारा सबध है?'

उसने बताया—'कई! हम तो मौज उड़ाने के लिए पैदा हुए हैं! वही करेंगे। जीवन में और है ही क्या?'

मैंने कहा—'किन्तु सुधी तो बड़ी टेढी लड़की है। उससे कभी तुम्हे कोई हानि न हो जाय। बात यह है, मुझे तुमसे स्नेह हो गया है, इसीलिए कहता हूँ। उसने न जाने कहाँ से एक छुरा रख लिया है। वह कहती है इस बार वह आया तो उसके पेट में भोंक दूँगी।'

इस पर वह कुछ घबरा गया। मैं उसके चेहरे का उतार-चढाव देख रहा था। मुझे मालूम हुआ, सचमुच उसे कुछ डर हो गया। थोडी देर बाद वह फिर बोला—'यह सब झूठ है। वह मेरी है मैं उसे देख लूँगा।'

मैंने कहा—'तुम जानो मैंने तो कह दिया है। वह कहती है, जब मेरा पति मेरी रक्षा नही करना चाहता तो मैं एकाध को मार कर मरूँगी।'

इसका प्रभाव उस पर हुआ, फिर वह बोला—'तो व्रजमोहन से मेरे रुपये दिला दो।'

मैंने कहा—'मैं क्या जानूँ भाई, किन्तु व्रजमोहन तुम्हे रुपये दे देगा, वह ठीक तो हो जाय।'

वह न जाने क्या सोचता हुआ भीतर उठकर चला गया। मैं जब घर में आया तो देखा कि सुधी के चेहरे से खून बह रहा है। दवा पीने की शीशी व्रजमोहन ने उसके मुँह पर फेककर मारी है। सुधी चुप है व्रजमोहन गालियाँ बक रहा है। उसके माथे में शीशी के टुकडे चुभ गए हैं।

मैंने आते ही व्रजमोहन से कहा—'यह क्या मूर्खता की तुमने, देखो कितनी चोट आई है?'

वह कह रहा था—'यह स्त्री नही राक्षसी है, इसी ने मुझे बीमार किया है। यह चाहती है मैं मर जाऊँ। किन्तु मरने से पहले मैं इसका नाश करके जाऊँगा।'

मैंने सुधी से खून धो डालने और स्पिरिट लगा लेने को कहा, फिर भी वह वैसे ही बैठी रही। तब मैंने बलात् ले जाकर उसका मुँह धोया। शीशी के टुकडे उसके माथे से निकाले। टिंचर लगाने के बाद पट्टी बाँध दी। उस दर्द के मारे वह बेहोश-सी हो गई। व्रजमोहन यह देखता रहा। उसने एक शब्द भी सहानुभूति का नही कहा। उस दिन सुधी ने न तो भोजन बनाया न हम में से किसी ने खाया। जब सुधी भीतर के कमरे में जाकर लेट गई, तब मैं व्रजमोहन की खाट पर आ बैठा। वह उस समय भी जाग रहा था। मैंने दवा

की शीशी में से गोलियाँ निकालते हुए कहा—'वह पीने की दवा तो तुमने फेंक दी। अब गोली तो खा लो। फिर पानी से गोलियाँ निगलवाकर मैं बैठा उसके सिर पर हाथ फेरने लगा।'

मैंने व्रजमोहन को शान्त देखकर कहा—'तुम लोग यदि शान्ति से नहीं रह सकते तो मैं जाता हूँ। मैं तो केवल तुम्हारी बीमारी के कारण यहाँ ठहरा हुआ हूँ।'

व्रजमोहन कुछ न बोला और थोड़ी देर बाद सिसकियाँ भरकर रोने लगा। जब वह रो चुका तो मैंने कहा—'बात क्या हुई व्रजमोहन बाबू?'

व्रजमोहन रोते-रोते कहने लगा—'मैं बहुत दुखी हूँ अजय, मैं मर क्यों नहीं जाता। नहीं, अब मैं नहीं जीऊँगा। मैंने बडे पाप किए हैं।'

मैंने कहा—'बात क्या हुई?'

उसने मुझे अपने विश्वास में लेकर कहा—'क्या बताऊँ। मेरे ही पापों से सुधी दुखी है।'

फिर थोडी देर चुप रहकर कहने लगा—'तुमसे क्या बताऊँ। पर देखता हूँ बिना कहे भी काम नहीं चलता। अजय, मुझे कोई उपाय नहीं सूझता। मुझे बचाओ।'

इतना कहकर वह जोर से रोने लगा। रोने की आवाज सुनकर सुधी भी बाहर आ गई और पूछने लगी 'क्या हुआ?'

मैंने कहा—'कुछ नही। तुम्हारे दर्द का क्या हाल है?'

वह बोली—'ठीक है।'

किन्तु उसके चेहरे से ज्ञात हो रहा था, वह दर्द से बेचैन है, और सोई तो बिलकुल नही है। मालूम होता है रोते-रोते आँखें सूज भी गई हैं। व्रजमोहन सुधी को देखकर बोला—'सुधी, मुझे क्षमा कर दो। मैंने ही पाप किये हैं। मुझे क्षमा कर दो सुधी?'

सुधी खाट के नीचे बैठकर व्रजमोहन के सिर पर हाथ फेरने लगी, और टपटप करके आँसू उसकी आँखों से झरने लगे।

मैं बैठा-बैठा सोच रहा था कितनी सकटावस्था में ये दोनों पड़े हुए हैं। एक तरफ व्रजमोहन है जो अपनी मूर्खता के कारण अपने आप फँस गया है भला, इसको मनोहर से रुपये लेने की क्या आवश्यकता थी।

व्यक्ति स रुपया लेकर निर्वाह कर सकता था। दूसरी तरफ सुधी है जिसका सतीत्व वृजमोहन ने दरिद्रता से बचने के लिए थोड़े से रुपयों की तराजू पर रख दिया है।— मानों जीवन में पति की रक्षा के लिए उसे अपने को बेचने के लिए बाध्य किया जा रहा है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि ब्रजमोहन सुधी को मनोहर के हाथों रुपये के लिए भेंट चढ़ाना चाहता है, किन्तु, आखिर मनोहर जैसे आदमियों से रुपया लेने का और अर्थ भी क्या हो सकता है ! फिर भी इसमें सारा दोष मुझे ब्रजमोहन का ही दीख पड़ा। अनुभवहीनता के कारण या जान-बूझकर ब्रजमोहन ने यह विकट परिस्थिति उत्पन्न कर ली है और इसका फल भोगना पड़ रहा है सुधी को। इधर सुधी से बातचीत करने का कोई अवसर ही नहीं आता था। हर समय वृजमोहन सामने रहता। बरामदे में के दोनों ओर दो छोटे कमरे थे। एक तरफ रसोई। सुई गिरने की आवाज भी उसे आ जाती थी। इसके अतिरिक्त सुधी मुझसे बहुत कम बोलती थी। न जाने उसे क्या हो गया था। आवश्यकता पड़ने पर कभी संकेत से, कभी बहुत थोड़ा बोलकर काम चला लेती थी। वृजमोहन भी यह सब देखता था। मैं उन दोनों को छोड़कर रसोई के पासवाले कमरे में, जहाँ मेरे कपड़े थे, जाकर खाट पर लेट गया। नींद तो आई नहीं करवटें बदलता रहा। मैं मानता हूँ सुधी मुझसे नहीं बोलती किन्तु सुधी मेरा रहना पसन्द नहीं करती यह मैं कैसे कहूँ ? मैं जानता हूँ यदि मैं न होता तो सुधी की क्या दशा होती ? बलात् उसे मनोहर के सामने आत्म-समर्पण करना पड़ता ? पति की बीमारी और आर्थिक कष्ट के कारण वह बहुत दुर्बल, हीन सौन्दर्य भी हो गई थी। दिन भर कुछ-न-कुछ सोचती रहती। मेरे पास न तो रुपया था कि मैं सुधी की इस समय सहायता करता, न साधन ही जिससे उसका कुछ कष्ट दूर कर सकता। इसी तरह उधेड़बुन में मुझे न जाने कब नींद आ गई। सवेरे देखा कि सुधी वृजमोहन की खाट के पास चटाई बिछाकर सो रही है। वृजमोहन भी करवट बदले सो रहा है। रात के भाव से सुधी का चेहरा भर गया है। फिर भी एक सौन्दर्य, जो निर्बलता में भी साथ रहता है, सतेज होकर उसके चेहरे से दीप्त हो रहा है। भोलापन, सुकुमारता, गंभीरता उसके सोते हुए मुख पर खेल रही है। वह करवट बदले पड़ी थी, इसलिए एक हाथ उसका चटाई पर फैला हुआ था। उसकी उँगलियों में कितनी कोमलता थी, इसका मैं कई

बार अनुभव कर चुका हूँ, अनामिका में जिसमें वह एक अँगूठी पहना करती थी, केवल पहनने का चिह्न शेष रह गया है। उस दिन धोती के भीतर पेटीकोट न पहनने से उसकी जाँघें अपनी सम्पूर्ण शुभ्रता को लेकर धोती के बाहर दीख रही थीं। हाथों और पैरों की बनावट कितनी वर्तुलाकार और सतुलित थी। उसकी लम्बी वेणी, जो कमर से नीचे तक थी, बहुत घनी और काली होकर चटाई पर फैली थी। उसके किनारे के बाल हवा से हिल रहे थे। मैं टकटकी बाँधे बहुत देर तक सुधी को देखता रहा। इसी बीच में उसने करवट बदली और आँखें खोल दीं। मुझे सामने खड़े पाकर कुछ सकोच और कुछ लज्जा से मुसकराकर उठ बैठी।

मैंने कहा—'देखता हूँ तुम्हारे चेहरे का घाव बहुत गहरा है।'

उसने कहा—'होगा। इतना कहकर वह कमरे में चली गई।'

'इसके साथ ही वृजमोहन ने आँखें खोल दीं।'

आध घंटे बाद जब मैं वृजमोहन की दवा लेने के लिए तैयार हुआ तो वह बोला—

'अजय, सुधी को भी डाक्टर के पास लेते जाओ। इसके चेहरे की दवा ले आना।'

मैंने कहा—'अच्छा।'

इस पर सुधी ने उत्तर दिया—'मैं नहीं जाऊँगी। रेलवे का डाक्टर भी तो आ रहा है।'

वृजमोहन ने आग्रह करते हुए कहा—'नहीं जाना होगा सुधी। अजय, ले जाओ।'

मैंने सुधी को लक्ष्य करते हुए कहा—'ठीक तरह ध्यान न देने से मुँह सदा के लिये बिगड जायगा। न जाने फिर ठीक होने में कितने दिन लगें।'

सुधी बोली—'इससे अच्छी मेरे लिए और कोई नही बात हो सकती अजय, कि मेरा मुख सदा के लिए बिगड़ जाय। तुम जाओ मैं नहीं जाऊँगी। जब व्रजमोहन ने बहुत आग्रह किया तो क्रोध में भरकर बोली—'पहले मुझे बिना कारण मारा अब कहते हो डाक्टर के यहाँ जाकर दवा ले आ। बताओ मेराक्या अपराध था। यही न, कि मनोहर का दिया हुआ रुपया नहीं ले रही थी।'

मुझे लक्ष्य करके वह बोली—'तुम्हीं बताओ भला उससे रुपये लेना कोई ठीक बात है ? इससे अच्छा तो यह है कि मैं बाजार में जाकर बैठ जाऊँ।' इतना कहने के साथ ही फूट-फूटकर रोने लगी।

अब मुझे कुछ भी अस्पष्ट नहीं रहा। मनोहर का कहना ठीक था। मैंने अज्ञानता दिखाते हुए कहा—'अच्छा, बात यहाँ तक पहुँच गई है ? मुझे नहीं मालूम था। धिक्कार है ऐसे जीवन को।'

यह अंतिम वाक्य मैंने व्रजमोहन को लक्ष्य करके गोल-मोल रूप से कहा था। अपनी बात सब प्रकट देखकर पहले तो वह चुप रहा फिर बोला—

'क्या करूँ किसी तरह खर्च भी चलाऊँ और कोई तो उधार देता नहीं। राधेलाल बाबू से बीस रुपये लिए थे वह भी अभी न दे पाया। खर्च दो रुपये रोज का है। आठ-दस आने तो दवा में ही खर्च हो जाते हैं।'

सुधी बोली—'मैंने कितनी बार कहा मेरा हार बेच दो। और काम चलाओ।'

व्रजमोहन बोला—'हार यदि सोने का होता तो क्या बात थी ? अधिक से अधिक वह दस-बारह का होगा।'

यह सुनकर तो जैसे सुधी के पैरों से जमीन सरक गई। तो क्या यह हार नक़ली है ?

व्रजमोहन बोला—'हाँ, यह भी मेरे दुर्भाग्य की एक चोट है। इसकी भी एक लम्बी कहानी है।'

सुधी ने कहा—'पर यह हार तो बाबू जी ने दिया। झूठा कैसे हो सकता है !'

व्रजमोहन ने कहा—'तुम्हे मालूम है, शादी के बाद यह हार नहीं गया था, बाक़ी सब आभूषण तुम ले गई थीं।'

सुधी कुछ न बोली। व्रजमोहन कह रहा था। मैंने विवाह का ऋण उसी हार को बेचकर चुकाया था और अपमान के डर से एक नक़ली हार बनवाया। उस पर सोने का पानी था। वही तुम्हारे गले में है। सुधी ने कुछ न कहा और मेरे साथ चल दी। रास्ते में मैंने इक्का कर लिया और उसी में बैठाकर सुधी को डाक्टर के पास ले गया। मार्ग में मैंने सुधी से कहा—

'तुमसे मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।'

'जानती हूँ।'

'क्या ?'

'यही कि मैं तुमसे बोलती क्यों नहीं हूँ ?'

हाँ तो इसका क्या उत्तर तुम्हारे पास है ? इक्के पर पर्दा पडा था। मैं बाहर की तरफ बैठा था। इससे उसे बोलने में कोई भी सकोच न था। उसने कहा—'वे चाहते हैं कि मैं तुमसे न बोलूँ।'

'क्यों ? मैंने पर्दे के भीतर झाँककर प्रश्न किया।'

'इसलिए कि वे हम दोनों पर विश्वास नहीं करते और इसीलिए वे चाहते हैं कि जब मैं ऐसी हूँ तो क्यो न मनोहर के रुपये से लाभ उठाया जाय।'

'इसका अर्थ यह हुआ कि वह चाहता है तुम मनोहर से प्रेम करो और उससे रुपया लो।'

'हाँ ! कह तो नही सकती पर सोचती हूँ, यही सोचकर उन्होंने मनोहर से रुपया लिया है।'

'हाँ, ठीक है मनोहर भी ऐसा ही कह रहा था।'

क्या मनोहर ने तुमसे कुछ कहा था ?

मैंने कहा—'मुझे उसने सब बता दिया। वह चाहता है थोडे दिन तुमसे आनंद उठाकर तुम्हें छोड दे।'

थोड़ी देर हम दोनों चुप रहे। फिर मैंने कहा—'मैंने कल मनोहर से कहा है कि सुधी के पास एक छुरा है वह तुम्हारी जान लेने को उतारू है। वह कहती है कि इस बार मनोहर आया तो उसके पेट में छुरा भोंक दूँगी।'

'फिर क्या कहा उसने ?'

'वह कुछ डर गया है, शायद जल्दी न आवेगा।'

'तो रुपया माँगेगा। रुपया हम कहाँ दे सकते हैं ? एक हार था वह भी नक़ली निकला।' इसके साथ ही उसकी आँखों से आँसू की बूँदें गिरीं। मैंने कहा—'मैंने एक उपाय सोचा है !'

वह बोली—'क्या ?'

'तुम्हारे पिता को तार दे दिया जाय और उनसे चार सौ रुपया मँगा लिया जाय।'

'यदि वे आ गए तो ?'

'आ जाने दो कोई हर्ज नही।'

'नहीं, मैं सौतेली माँ के पास नहीं जाऊँगी।'

मैंने [illegible] यदि कल को ब्रजमोहन को कुछ हो गया तो। आजकल उसकी दशा अच्छी नहीं है।'

सुधी कुछ न बोली।

मैंने कहा—'फिर क्या होगा?'

मेरे बारबार पूछने पर वह बोली—'चुप रहो।'

हम लोग डाक्टर के दवाखाने के सामने पहुँच गए। मैंने सुधी को स्त्रियों के बैठने की जगह बैठा दिया, और मैं पुरुष बीमारों की टोली में जा बैठा।

जब डाक्टर ने सुधी को देखा तो पूछा—'चोट कैसे लग गई?'

मैंने कहा—'शीशी लग गई डाक्टर साहब! ऊपर से गिर पड़ी।'

डाक्टर ने विश्वास न किया, दूरबीन से अच्छी तरह चेहरे के घावों को देखा और दवा लगाकर यहीं बाँधते हुए कहा—'घाव रोज़ धोने पड़ेंगे।'

यदि और कोई होशियार आदमी धो सके तो दवा ले जाइये नहीं तो मेरा कम्पाउण्डर धो देगा।

दवा लेकर चलते हुए जब इक्का किया तो मैंने इक्केवाले से तारघर चलने को कहा। इस पर सुधी ने पूछा—'क्या बाबूजी को तार देना ठीक होगा?'

मैंने उत्तर दिया कोई हानि नहीं है। दो सौ रुपया माँगता हूँ। चिट्ठी लिख कर दो सौ रुपया और मँगाऊँगा।

सुधी ने हँसते हुए कहा—'हाँ तुम्हारा भी तो अधिकार है।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि शाम के चार बजे तक रुपये तार से हमें मिल गए। वे सुधी के नाम थे। मैंने ब्रजमोहन को समझाकर दो सौ रुपये मनोहर को देते हुए कहा—'ये लो रुपये। पर अब तुमने ब्रजमोहन के घर में पैर रखा और सुधी ने कुछ कर दिया तो तुम जानो। वह तुम्हारे ऊपर बाघिन की तरह क्रुद्ध है।'

रुपये लेते हुए मनोहर ने पूछा—'ब्रजमोहन के पास रुपये कहाँ से आए?'

मैंने कहा—'सुधी के पिता पुलिस इन्स्पेक्टर हैं, उन्होंने भेजे हैं। वे आ भी रहे हैं।'

'आ रहे हैं?' वह घबरा गया।

मैंने कहा—'हाँ, आ रहे हैं!' बड़े खूनी आदमी हैं।

वह गिड़गिडा कर कहने लगा—'यदि सुधी [illegible] कह दिया तो। एक बार मैं थाने मे बुरी तरह पिट चुका हूँ। वह मार क्या भूलने की चीज है। उसने हाथ जोडकर मुझसे कहा—'ये रुपये तुम ले जाओ। मैं वृजमोहन से अब कभी न माँगूँगा और देखो, मेरी लाज तुम्हारे हाथ है।'

मैंने कहा—'ता फिर इसका एक उपाय है ?'

'क्या ?'

'एक पत्र लिख दो कि सुधी बडी भली स्त्री है। मैंने उसे छेडने की चेष्टा करके भूल की। अब मैं उसे कभी न छेडूँगा अपितु उस तरफ देखूँगा भी नहीं।'

वह बोला—'यह नही हो सकता। जाओ मैं सुधी के बाप को देख लूँगा।'

'तुम जानो। वे रेलवे के इन्स्पेक्टर हैं। कहीं ऐसा न हो तुम्हारे पिता पर ही कोई आफत आ जाय।'

रेलवे इन्स्पेक्टर का नाम सुनकर तो मनोहर के होश उड़ गए। जब मैं उठने लगा तो उसने आग्रह के साथ मुझे बैठाते हुए कहा—'ये रुपये लेते जाओ अजय बाबू, और इन्हीं के बदले में अपनी रक्षा चाहता हूँ।'

मैंने कहा—'यह तो सुधी जाने। किन्तु मैं अपनी ओर से प्रयत्न करूँगा। मैंने रुपये ले लिए और उसे ऊँच-नीच समझाते हुए वहाँ से कुछ दिनों के लिए भाग जाने को कहा। जब घर आकर मैंने सब कहानी सुधी और वृजमोहन को सुनाई तो दोनों भर पेट खूब हँसे। मुझे सुधी को प्रसन्न देखकर कितना आनंद आया यह बताने की आवश्यकता नही है। बहुत दिनों बाद आज सुधी के चेहरे पर चमक दिखाई दी थी। रात को मैंने और सुधी ने बैठकर उसके पिता को एक पत्र लिखा। जिसमें विस्तार से वृजमोहन की बीमारी तथा आर्थिक कष्ट के सम्बन्ध मे लिखा। इन पिछले आठ दिनों में कोई भी घटना नहीं हुई। मनोहर दूसरे दिन से फिर दिखाई नहीं दिया। पूछने पर मालूम हुआ कि कल रात से ही वह कहीं चला गया है। स्टेशन मास्टर दुखी था। उसकी माँ सुधी को गालियाँ देने लगी। किन्तु सुधी ने कोई उत्तर नहीं दिया। इस पर वह कुछ देर बोलकर अपने आप चुप हो गई।'

इधर मैं नानी के पास जाना चाहता था पर वृजमोहन किसी तरह भी मुझे जाने नही देना चाहता था। मैं जब जाने का नाम लेता तभी वह रोने

लगता। एक दिन, प्रातःकाल की गाड़ी से सुधी के पिता और उसकी माँ आ गए। उनके साथ एक लड़का भी था जो एक-डेढ़ साल का होगा।

मैंने उसी साँझ को वृजमोहन से कहा कि मुझे थोडे दिनों के लिए जाने दो। फिर मैं आ जाऊँगा।

नलिन बाबू अब पहले जैसे हँसोड नहीं रहे थे। थोडे ही दिनों में उनके मुख भर झुर्रियाँ और बाल श्वेत हो गए थे। मुझे देखकर वे एकदम चिपट गए और बहुत देर तक रोते रहे। मुझे भी रोना आ गया। घंटों वे मेरे पिताजी और माँ का वर्णन करके विह्वल हो जाते। इधर उनकी स्त्री विलक्षण प्रकृति थीं। उनको रोते देखकर भी वे अपने बच्चे के लिए सुधी को खालिस दूध का खाने का प्रबन्ध का आदेश दे रही थीं। उनकी आवाज इतनी तीक्ष्ण और कडकती हुई थी कि बाहर से सुनकर कोई भी समझ सकता कि वे लड रहीं हैं। सुधी की सौतेली माँ नलिन बाबू की पत्नी की वयस कोई अट्ठाईस के लगभग होगी। रंग गोरा, बाल घुँघराले, माथे की नसें कुछ उभरी हुई, नाक सुन्दर पर जरा मोटी। ओंठ पतले। आँखें फटी हुई बड़ी कुछ तेज। शरीर सुडौल। माथे में बिन्दी। नाक में बारीक मोती की लौंग। हाथों में सोने की चूडियाँ। घर में पैर रखते ही उन्होंने सबसे पहले गाय के दूध, थोड़े से मक्खन के लिए सुधी को ताकीद की और बोलीं—

'देख सुधी, ब्रह्मा ने अपना कपार फोड़कर जिस मनुष्य की सृष्टि की उससे तेरे पिताजी बने हैं। इसलिए उनसे 'बहुत न बोलना। एक बार बोलना प्रारम्भ करके फिर बन्द होने का नाम ही नहीं लेते।' मेरे कमरे में उनका असबाब रखा गया तो मेरे कपड़े नीचे फेंककर अपना बिस्तर बिछा लिया और एकदम दूध लाने का आदेश सुधी को हुआ। मैं चाचाजी को रोते छोडकर एकदम दूध लेने गया। जब दूध में देर हो गई तो सृष्टि को उलट-पुलट देने वाला भाषण प्रारम्भ करते हुए कहा—'ऊहूँ, इस तरह काम नहीं चल सकता सुधी। एकदम नही। मेरा सुभाव उठते ही दूध पीने का है। दूध न पीऊँ तो दूध नहीं उतरता। लड़का मरने के लिए पैदा नहीं हुआ है इसे तो जीना है। बाप का नाम न चमकावे न सही। माँ को तो अपना कर्तव्य पूरा करना ही पडेगा और कौन बहुत है ले-देकर एक रह गया है उसी का पालन ठीक न हुआ तो विधाता को मुख दिखाते समय अवश्य मुझे लज्जित होना पडेगा।

सो ऐसा मैं न होने दूँगी भाई। नही, ऐसा नहीं हो सकता, आदि आदि।'

उधर दूध पीने के बाद चाचीजी ने स्नानागार में पदार्पण किया तो वहाँ भी एक भाषण किया—'तुम लडकियों को रहना नहीं आता। साबुन इतना मामूली लगाकर क्या देह झुलसानी है। फोडे हो जायँगे फोडे। यह मैं नहीं चाहती कि घर बीमारी लेकर लौटूँ। पीयर सोप, संदल सोप इनमें से कोई साबुन हो तो ला सुधी!' जब सुधी ने बताया कि उनमें से कोई साबुन घर में नहीं है तब उन्होंने उबटन के लिए आर्डर दिया। उबटन तैयार हुआ। अब लगावे कौन? सुधी ने लगाया, उस पर उसे बहुत ऊँच नीच लगाने का ढग समझाया गया। स्नान के बाद धोती सुधी ने धोई। मैं इधर सामान लेने बाजार चला गया। सुधी रसोई मे जा बैठी। जब लौटा तो देखा कि नल के नीचे बैठे नलिन बाबू उस बच्चे के कपडे धो रहे हैं और उधर खाट पर बैठी उसकी पत्नी चिल्ला रही थी, दो कपडे और रह गए हैं ये और लेते जाओ। मुझे आया जानकर बोलीं—'अजय, ये कपडे उन्हें दे आओ। बात यह है मुझे तो एकदम जुखाम घेर लेता है। इसलिए मैं तो धो नहीं सकती। न हो देख ऐसा कर, यह सदूक खोलकर मेरे तकिये का गिलाफ तो निकाल दे। मैं तो इस जीने से तंग हूँ। कहाँ तक करूँ।'

मैंने आज्ञा के अनुसार सब काम कर दिया। वे लडके को लेकर बिस्तर पर लेट गईं। मैंने सुधी के पिता से कहा—'रहने दीजिए सुधी धो लेगी।' तो बोले—'तुम नहीं जानते, मैंने ब्याह नहीं किया मजदूरी करने का ठेका ले लिया है। वह पाप तो भोगना ही होगा बेटा!'

मैंने कहा—'फिर आपने विवाह ही क्यो किया?'

तो बोले—'कवि लोग भले ही पतंगे से दीपक के स्नेह का उदाहरण दें किन्तु मैं तो समझता हूँ वे अवश्य दूसरी शादी से तग आकर ही दीपक पर मरते होंगे। यदि मेरे लिए कोई ऐसा दीपक मिल जाय, जिसके सहारे प्राण विसर्जन कर सकूँ तो अगले जनम में अवश्य शेषनाग बनने की परमात्मा से प्रार्थना करूँ जिससे दीपक का शत मुख से गुण गान करके मुक्त हो जाऊँ।

मैंने हँसकर कहा—'आपकी कल्पना अभी तक सजीव है।'

तो बोले—'हाँ वही है, पर उसके सामने नहीं। मुझे आश्चर्य है मनुष्य सिंह से क्या उतना ही डरता है जितना मैं अपनी स्त्री से। स्त्री इतनी क्रूर

हो सकती है यह मैंने अब जाना।'

सुधी जब भोजन बनाने लगी तो सबसे पहले चाचीजी लड़के को गोद में उठाये आसन पर आ बैठीं और बोलीं—'सुधी, पहले तू मुझे दे दे। यह मैं नहीं खाती बच्चा खाता है। सो उसे तो सबसे पहले गरम गरम भोजन मिलना ही चाहिए।' ऐ जी सुनो तो, इतनी आवाज लगाकर उन्होंने पति को बुलाया और कहा—'मेरा मक्खन तो दे जाओ और एक गिलास पानी भी।'

पति ने मक्खन और एक गिलास पानी लाकर सामने रख दिया। चाची ने भोजन प्रारम्भ किया। भोजन के सम्बन्ध में रुचि प्रकट करती हुई चाची ने कहा—

'रोटी पतली बना सुधी, लड़के के पेट में दर्द होने लगा और देख, दाल में बहुत मसाला नहीं डालना चाहिए। गरमी बढ़ जाती है। आजकल लड़कियों को खाना बनाना तो आता ही नहीं। न दाल में नमक है, न चावलों की पिच ही ठीक-ठीक निकाली है। ले, ऐसे चावल मैं तो खा नहीं सकती। जरा-सा हलुआ और देना। कुछ भी तो अच्छा नही है। क्या खाय आदमी और क्या न खाय। भई, मैं तो इस तरह रह नहीं सकती, और कुछ न हो तो खाना तो रुचि का बने। समुद्र में मछलियों की तरह बिरली दाल भला किसी से खाई जा सकती है। मैं तो पहले ही जानती थी कि यहाँ आकर कष्ट ही भोगना है। जमाई के बीमार होने पर कोई खाना तो छोड़ देने से रहा। जब तक यह साँस है तब तक पेट तो भरना ही होगा। इसके बिना तो मृत्यु भी आकर भूखी चली जायगी।'

जब तक चाची खाती रहीं तब तक अनवरत धारा से उनका भाषण चलता रहा। नलिन बाबू बाहर बैठे सब सुन रहे थे। मैं सोच रहा था कैसी विचित्र स्त्री है! बीच में खाने में बाधा देने पर उस बालक को नलिन बाबू ने ले लिया। सुधी को तो मानों साँप सूँघ गया था। चाची भोजन करके खाट पर जा लेटीं। फिर और लोगों का भोजन हुआ। उस दिन दोपहर के दो बजे तक ब्रजमोहन के पथ्य की व्यवस्था न हो सकी। वह चुपचाप पड़ा चाची के अभूतपूर्व भाषण और उनकी गति-विधि पर सोचता रहा। इसके बाद सुधी ने ब्रजमोहन के लिए दलिया बनाया और उसे दिया। नलिन बाबू दो दिन तक रहे। तीसरे दिन छुट्टी होते हुए भी वे सुधी को एक तरफ ले जाकर बोले—

'बेटी, मैं बड़ा दुखी हूँ, तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता। मुझे मालूम है मेरे आ जाने से तुम्हारा काम बहुत बढ गया है, और रोगी का ध्यान भी तुम ठीक-ठीक नहीं रख पातीं।'

सुधी ने आग्रह करते हुए कहा—'नहीं बाबूजी, आप दो-चार दिन और ठहरिए। मुझे कोई कष्ट नही है।'

नलिन बाबू ने कहा—'सो तो ठीक है बेटी, पर मैं अपने साथ जो एक बँदरियाँ ले आया हूँ उसे न तो तुम्हारे साथ कोई सहानुभूति है, न वह सुख से रहने देना चाहती है। ऐसी अवस्था में यही ठीक है कि मैं चला जाऊँ। और तो और उसने न ब्रजमोहन से कोई बात की और न उसे देखा ही। फिर मैं उसे लेकर व्यर्थ ही क्यों तुम्हारे कष्ट को बढाऊँ। मैं आज रात की गाडी से जाना चाहता हूँ।'

मैंने देखा नलिन बाबू भीतर से बहुत दुखी हैं। उनके जीवन का सारा रस सूख गया है। शाम को डाक्टर के यहाँ जाते हुए मैं उनको ले गया और फिर खुलकर सुधी तथा ब्रजमोहन के सबध में बताया।

यह सुनकर वे बहुत दुखी हुए। फिर मुझसे बोले—'मैं नहीं जानता था ब्रजमोहन ऐसा मूर्ख निकलेगा।'

डाक्टर से उन्होंने विस्तारपूर्वक सब बातें कीं। डाक्टर ने बताया, रोग पुराना है। सर्वथा तो जा नहीं सकता, कुछ दिनों के लिए दब सकता है। मैं सोचता हूँ इजक्शन लगाऊँ परन्तु उसका खर्चा...इतना कहकर डाक्टर चुप हो गया। नलिन बाबू बोले—'कितना खर्च होगा डाक्टर साहब ?'

डाक्टर ने कहा—'पाँच रुपया हर बार और इस तरह बारह लगेंगे।'

नलिन बाबू ने डाक्टर को इजक्शन लगाने को कह दिया, और दवा लेकर चले आए। रास्ते में मुझसे बोले—'इस स्त्री के कारण मैं सुधी-ब्रजमोहन को रख भी नहीं सकता।'

मैंने कहा—'चाची का स्वभाव बडा उग्र है। घर में क्या अवस्था होती होगी ?'

नलिन बाबू चुप रहे।

घर आकर जब उन्होंने अपनी स्त्री से कुछ रुपये माँगे तो उसने स्पष्ट अस्वीकार करते हुए कहा—'यह नहीं हो सकता। एक तो हम इतना खर्चा करके आवें उस पर रुपया बाँटें।' जब उन्होंने अधिक आग्रह किया तो

रोकर चाबी का गुच्छा फेंक दिया। नलिन बाबू ने उसकी कोई परवा न करके सौ का नोट निकाल कर मुझे देते हुए कहा—'लो डाक्टर को दे दो और इजक्शन लगवाओ।'

इस पर चाची ने जो उग्र और विकराल रूप धारण किया वह वर्णनातीत है। एकदम उन्होंने बच्चे को पीटना और नलिन बाबू को गालियाँ देना प्रारम्भ किया। वह सब बातें मैं याद होते हुए भी लिखना नहीं चाहता। इतना ही कह सकता हूँ कि यदि सुधी के पास कुछ भी होता तो वह पिता के रुपयों को कभी स्वीकार न करती। मैं स्वयं चाहता था कि नलिन बाबू से रुपये न लिए जॉय

मैंने नलिन बाबू के इस नुसखे को खूब पसन्द किया कि वे स्त्री के क्रोध में आ जाने पर कभी बोलते न थे। किन्तु अपनी तरफ से उसे तग या क्रुद्ध भी नहीं करते थे। सभव है घर पर वे उसकी खुशामद भी करते हों, परतु कदाचित् यहाँ थे इसलिए ऐसा न कर सके। उनकी पत्नी ने पति के स्तोत्र पाठ में सुधी, ब्रजमोहन सभी की प्रशस्तियाँ कह डालीं। यहाँ तक मैं जब समझाने गया तो मुझे भी दो-चार बातें सुना दीं।

सुधी ने इन तीन दिनों में न तो अपनी सौतेली माँ से बातचीत की और न उसके पास बैठी। इससे वह और भी क्रुद्ध हुई। यह बात मुझसे उसने रेल में बैठते हुए कही। वह स्वय सुधी को कुछ देना चाहती थी किन्तु सुधी का व्यवहार रूखा होने के कारण वह अप्रसन्न होकर जा रही थी।

नलिन बाबू ने कुछ न कहा। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया, केवल इतना कहा—'सुधी की देखभाल तुम्हारे सिर है बेटा! मुझे पत्र लिखते रहना।'

जब मैं लौटकर आया तो घर में सुनसान हो गया था। इधर मैं नानी के पास जाने को छटपटा रहा था। अन्त में दूसरे दिन जब मैंने जाने का प्रस्ताव सुधी के सामने रखा तो वह बोली—'एक सप्ताह और ठहर जाओ अजय, इंजक्शन लगवा कर जाना।'

मैं रहने लगा। नलिन बाबू के जाने के आठवें दिन जब मैं डाक्टर के पास पहुँचा तो डाक्टर ने एक रजिस्टर्ड लिफाफा मुझे दिया। भेजने वाले थे नलिन बाबू। डाक्टर की मार्फत आया था। मार्ग में खोलकर पढ़ने पर

मालूम हुआ दो हजार का चैक सुधी के नाम है। उसके साथ पत्रे में लिखा था यह रुपया सुधी के नाम जमा कर देना। मैंने उसी समय रसोई घर में बैठी सुधी को वह ले जाकर दिया। वह दूर से देखकर बोली—'क्या है यह ?'

मैंने कहा—'बाबूजी ने तुम्हे दो हजार रुपये भेजे हैं।'

'तो मैं क्या करूँ उन्हें दिखाओ।'

'नहीं, यह नही हो सकता।'

तुम कल माथा दिखाने के बहाने मेरे साथ चलो। मैं बैंक में तुम्हारे नाम रुपया जमा करा दूँगा।

वह चुप हो रही। मैंने उसी दिन शाम को एक नौकर रख लिया। जब सुधी ने आपत्ति की तो मैंने आज्ञा की तरह कहा—'जरा अपना रूप तो देखो, इसी तरह रहा तो तुम बीमार हो जाओगी। वह खर्च मैं दूँगा।' ब्रजमोहन आश्चर्य में भर गया और बोला—'अजय भैया, मैं तुम्हारा सदा कृतज्ञ रहूँगा।'

सुधी ने हँसकर मेरी पीठ में एक हलका थप्पड़ मारा और चुप हो रही।

दूसरे दिन मैंने सुधी को लेकर उसके नाम से चैक जमा करा दिया। इसके साथ ही एक पत्र नलिन बाबू को लिखकर व्यवस्था की सूचना दे दी।

उसी दिन मैंने डाक्टर के कम्पाउण्डर को एक रुपया देते हुए कहा कि मेरे नाम के जो पत्र आवें सुधी को दिए जाँय। ये उसके पिता के पत्र हैं।

जब मैं विदा होने लगा तो सुधी ने यात्रा के लिये भोजन देते हुए कहा—

'तुम्हारा जैसा अल्हड़ आदमी नहीं देखा।'

मैंने हँसकर कहा—'क्यों क्या हुआ ?'

सुधी ने जवाब दिया—'राम घाट में जो पूड़ी बनाकर दी थी, उसमें बीस रुपये के दो नोट भी थे।'

मैंने कहा—'मुझे मालूम है।'

उसने आश्चर्य से कहा—'तब भी तुमने उस स्त्री को दे दिये।'

मैंने कहा—'तुम्हारे रुपये किसी बीमार के काम आवें इससे अच्छा और क्या हो सकता है ?'

'तो तुम्हें स्वीकार नहीं हुए क्यों ?'

इतने में बृजमोहन बोल उठा जरा जल्दी आना भैया!

मैंने कहा—'अच्छा। सुधी का ध्यान रखना।'

वृजमोहन बोला—'जाओ, गाडी सीटी देनेवाली है।'

मैं चला आया। सुधी द्वार तक मुझे पहुँचाने आई थी। कृतज्ञता या प्रेम न जाने किससे उसकी आँखें भर आई थीं। मैं चुपचाप आकर गाड़ी में बैठ गया।

५

हम लोग दिन-रात की रेलगाड़ी में बैठे चले जा रहे हैं। जैसे तीसरे, ड्योढ़े, दूसरे, पहले दर्जे के यात्री भिन्न-भिन्न क्लासों मे बैठे हुए भी एक साथ ही किसी स्टेशन पर पहुँचते हैं किन्तु उनकी यात्रा में वैशिष्टय सुविधा होती है, सुख-दुख भिन्न होते हैं, चिन्ता एवं प्रमाद अलग-अलग होते हैं। इतना होते हुए भी जीवन का व्यामोह एक ही होता है। कवियों ने रात और दिन की जीवन के दुख और सुख से उपमा दी है। इसलिये दुख के बाद सुख, या सुख के बाद दुख का निश्चय नही हो सकता। वह आते हैं और क्रम से आते हैं। फिर भी मनुष्य के प्रयत्नों ने रात में बिजली जलाकर, सब प्रकार के अन्य साधनों से जैसे रात को दिन बना लिया है। इसी तरह दुख को कम करने के साधन उसने निकाल लिए हैं। प्राकृतिक दुखों के उपचार प्रकृति से प्राप्त करके मनुष्य नामक प्राणी ने जीवन की उपयोगिता को अधिक पा जाने के लिए जो चेष्टा की है वह अपने प्रयत्न में अधूरी होती हुई भी किसी अंश तक सफल अवश्य है ऐसा मानना पडेगा। एक बात और कहकर मैं आगे चलूँगा। वह यह कि इन सबसे ऊपर भी मनुष्य का एक रूप है सौन्दर्य ग्रहण, सौन्दर्य ही आराधना, शिव की उपासना वहाँ तो विरले ही पहुँच पाते हैं और जो पहुँचते हैं वे दरिद्र होते हुए भी धनी, अभावों से पीड़ित होते हुए भी सर्वसम्पन्न, कुरूप होते हुए भी सुन्दर होते हैं। उनके सामने न कोई कष्ट होता है न उस अपनी मस्ती का तिरस्कार, जिसमें वे कवि के रूप में, चित्रकार की तूलिका के चमत्कार में, मानस मूर्तियों के सृजन में लिप्त रहते हैं।

वह आत्मानद न तो रुपयों से पूरा हो सकता है न ससार के किसी भी प्राकृतिक वैभव से।

इन ऊपर के वाक्यों का मूर्त रूप गाडी में बैठकर जाते हुए मैंने एक व्यक्ति में पाया। जो वाह्याकार से बिलकुल साधारण देख पड़ता था। जैसे वह सब मुझे देखने को मिला वही कहता हूँ। सुधी से बिदा होकर चलते-चलते गाड़ी ने सीटी दे दी थी। मैं दौडकर स्टेशन पर पहुँचा तो स्टेशन मास्टर मिल गए उनसे दो-एक बातें की होंगी कि गाडी चल दी। सामने इएटर क्लास के डिब्बे में जा बैठा। यद्यपि टिकट तीसरे दर्जे का था। घुसते ही एक व्यक्ति को लेटे पाया। बिखरे हुए बाल, सुन्दर शरीर, आँखें कानों को छूती हुई, फटा मैला कुरता पहने हुए वह पडा था। उसके सामने दो सज्जन बैठे थे। सजधज वाले, बारीक चिकन के कुरते पहने। अवश्य कोई रईस मालूम होते थे। मैं भी उनके पास बैठ गया। एक ने टिफन कैरियर में से निकालकर कुछ मिठाई और फल उस फटेहाल व्यक्ति को भेंट किए और वह खाने लगा। दूसरे ने थर्मस में से ठडा पानी निकालकर चाँदी के गिलास में दिया। खा पीकर वह विशाल व्यक्ति अपनी सीट पर पालथी मारे बैठकर सिगरेट निकाल पीने लगा। उसके सिगरेट पीने और धुआँ छोडने के ढग से मालूम होता था जैसे वह सम्पूर्ण ससार को इस सिगरेट के धुएँ के समान उड़ा देना चाहता है। अपने व्यक्तित्व और विद्वत्ता के सामने वह किसी को कुछ भी समझने के लिए तैयार नहीं है। इन फटे कपडों और साधारण वेशभूषा में भी जैसे वह अपने को किसी बादशाह या धनी से छोटा नहीं समझता। आधीजली सिगरेट के दो चार कश लेकर उसने सिगरेट फेंक दी और दूसरी सिगरेट सुलगाई। दो चार कश फिर लेकर उसने सिगरेट खिडकी से बाहर फेंक दी और लेट गया। उन दोनों व्यक्तियों ने, जो उसके साथ थे, अपना एक सुन्दर सा तकिया होलडाल से निकालकर उसके सिरहाने लगा दिया। वह लेट रहा। इतने में उनमें से एक बोला—'शराब तो मिल जायगी न वहाँ?'

दूसरा बोला—'एक नौकर को लेने नगर भेजा है। ले तो आना चाहिए। तो क्या शराब होना आवश्यक है?'

पहले ने कहा—'इसके बिना तो ये रह नहीं सकते। बिना पिए कविता भी पढ सकना सभव नहीं है। वह तो बहुत आवश्यक है।

मेरी उत्सुकता बढती जा रही थी। मैं मन में कहने लगा आखिर ऐसा कौन व्यक्ति है यह 'जो शराब के बिना रह नहीं सकता। फटे हाल है फिर भी ये लोग इसकी खुशामद और इसको प्रसन्न रखने का सब तरह से प्रयत्न कर रहे हैं ? और कविता ..क्या यह कवि हैं ?

मैंने उत्सुक होकर उनमें से, एक से जो उस समय मेरी तरफ मुँह किए बैठ गए थे, पूछा—'ये कौन हैं ?'

इस समय वह विशाल व्यक्ति आँखे खोलकर मेरी ओर देखने लगा और साथी के उत्तर देने के पूर्व कहने लगा—'जीवन में जिसका बन सकना कठिन है वही मैं हूँ।' समझे ?

मैंने बिना कुछ समझे उत्तर दिया—'जी'

उसने मुसकराते हुए पूछा—'क्या समझे ?'

मैं सिटपिटा गया बोला—'समझ तो कुछ भी नहीं सका। कुछ स्पष्ट कहे तो मैं समझूँ।'

इस पर दूसरे एक सज्जन ने कहा—'तुम नहीं जानते आप हिन्दी के सर्वोच्च कवि प्रमथेश हैं। हमारे कालेज की हिन्दी सभा में सभापतित्व करने जा रहे हैं। इसी समय वे महाशय फिर उठ बैठे और सकेत से मुझे पास बैठने के लिए कहा।

मैं उठकर उनकी सीट पर जा बैठा। उन्होंने मुझसे पूछा—'क्या करते हो ?'

'कुछ नहीं, कर तो कुछ भी नहीं रहा हूँ।'

'कहाँ रहते हो ?'

मैंने कहा—'घर का भी कोई विश्वास नहीं क्या बताऊँ। कभी घर था किन्तु माँ बाप के बाद अब वह भी नही रहा। नानी के यहाँ मेरे भाई बहन हैं वही जा रहा हूँ।

इस पर कवि महाशय जोर से अट्टहास कर उठे, बोले—'यह कवि का लक्षण है और अपनी कोई कविता की पक्ति सुनाने लगे। कविता सुनकर वे दोनों सज्जन वाह वाह करने लगे। मैं सुनकर मौन रह गया। इस पर उन्होंने फिर एक कविता बड़े सुन्दर स्वर से पढ़ना प्रारम्भ किया। दोनों व्यक्ति और भी पास खिसक आए। प्रमथेश की कविता सुनकर मुझे ऐसा लगा कि जैसे

यह एक नई दुनिया है। मुझे बचपन के स्वर के साथ गगा लहरी, रघुवंश के श्लोकों की याद हो आई और एकबारगी उस समय का सारा चित्र मेरी आँखों में घूम गया। मुझे ऐसा मालूम होने लगा जैसे मैं चाहे और कुछ कर सकूँ या नहीं कविता तो लिख ही सकता हूँ। यद्यपि वह एक बडा कठिन काम था। इधर प्रमथेश बराबर एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी कविताएँ सुनाए जा रहे थे। जब हममें से कोई जरा भी इधर-उधर देखता तो फौरन वे 'सुनो' कहकर अपनी ओर हमारा ध्यान खींचने में लगते। इधर मेरा स्टेशन पास ही आ रहा था। मैंने कहा—'क्या आपकी कोई कविता-पुस्तक मुझे पढने को मिल सकती है?'

उन्होंने उत्तर दिया—'क्यों नहीं, किसी भी हिन्दी के दूकानदार से खरीदी जा सकती है।' मैं चुप रह गया। मेरी इच्छा हुई क्या ही अच्छा होता कि कुछ दिन इस महान् व्यक्ति के साथ रह पाता। उनके चेहरे पर बेफिक्री, लापरवाही, अभिमान देखकर मुझे बडा अच्छा लग रहा था। मस्ती के प्रभाव ने जाने क्यों मेरे हृदय में एक भावना जाग्रत् कर दी थी।

मेरे पूछने पर कि निश्चित रूप से कहाँ रहते हैं? वे बोले—'कुछ ठीक नहीं है। जहाँ इच्छा हुई। फिर भी कभी काशी, कभी हरिद्वार में वे रहते हैं। अलीगढ़ से अब हरिद्वार जाने का विचार है।'

साथी सज्जनों में से एक ने कहा—'इनको क्या है। लोग निहोरा करते हैं, अपना सौभाग्य समझते हैं कि ये हमारे यहाँ रहे, परन्तु मन के मौजी हैं। कवि स्वय एक ब्रह्मा हैं।'

अन्त में मैंने कागज-पैन्सिल जेब से निकालकर वह कविता लिखा देने को कहा जो उन्होंने सबसे अन्त में सुनाई थी तो उन्होंने अपने थैले से निकाल कर एक कविता मुझे देते हुए कहा—'यह लो, यह तुम्हे देता हूँ।'

मैंने धन्यवाद देकर वह किताब ले ली। उसका मूल्य था २॥) रुपया। जब मैं रुपये देने लगा तो बोले—'खरीदनी हो तो दुकानदार से लो। यह भेंट है।'

मैंने फिर एक बार धन्यवाद देकर पुस्तक बिस्तरे में रख ली। इस समय तक मेरे स्टेशन पर गाडी धीरे-धीरे पहुँच रही थी। मैं उस महान् व्यक्ति को प्रणाम करके उतरने लगा तो वे बोले—'यदि आ सको तो हरिद्वार में मुझसे मिलना।'

मैं 'बहुत अच्छा' कहकर उतर पडा।

काफी कठिन होते हुए भी मैंने बैलगाड़ी में बैठे-बैठे वह पुस्तक पढ़ डाली। उसकी कुछ कविताएँ तो मुझे कण्ठस्थ सी हो गईं और मैं वैसे ही बैठे-बैठे उन्ही के स्वर में गुनगुनाने लगा। दूसरे दिन आर्य-समाज के मदिर में आए एक पत्र में मैंने प्रमथेश कवि का एक चित्र देखा। उसके नीचे एक कविता थी। सम्पादक ने कविता के ऊपर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा—'हिन्दी के महान् कवि श्रीप्रमथेश की रचना प्रकाशित करते हुए हमें महान् हर्ष है।' और भी कुछ लिखा था जो मुझे याद नहीं रहा। जब पडितजी (आर्य-समाज के) से मैंने रेल में प्रमथेश से भेट होने का जिक्र किया तो उन्होंने कहा—'क्या ही अच्छा होता कि हम लोग भी उनकी कविता सुन पाते। सचमुच वे बहुत बडे कवि हैं।'

मैंने कहा—'वे शराब पीते हैं।' तो उन्होंने विश्वास ही नहीं किया। बोले—'झूठ है।'

मैंने बीच में टोककर कहा—'आखिर इस मेंबुराई भी क्या है।' तो नाक-भौं सिकोड़कर कहने लगे—'आचार के विरुद्ध यह काम है। जीवन समाज का संस्थापक कवि ऐसा नहीं कर सकता। कवि की वाणी मनुष्य की वाणी नहीं है।'

इससे मुझे प्रमथेश पर और भी श्रद्धा हो गई। इच्छा होने लगी कि यदि पंख होते अभी उड़कर उनके पास पहुँच जाता। सचमुच जीवन में यह पहला अवसर था कि मैं बाहरी किसी व्यक्ति से इतना प्रभावित हुआ। ठीक तो नहीं कह सकता पर प्रमथेश कवि के स्वर से उनकी कविता मेरे मुख से सुनकर पडितजी बहुत प्रसन्न हुए और इसका फल यह हुआ मैं बराबर उनकी कविताओं को गुनगुनाने लगा।

इधर नानी के पास आते ही उन्होंने खोद-खोदकर सुधी और उसके पति के संबंध में पूछना शुरू किया। मैंने देखा कि मेरे पीछे कई किम्बदन्तियाँ फैल गई हैं। जो मिलता वही उस दम्पति के सम्बन्ध में पूछता। कमलिनी स्वय मुझसे यह सब जानना चाहती थी। परन्तु इन सब बातो के मूल में कारण वही था। उसने न जाने क्या बाते फैला दी थीं। यहाँ तक कि नानाजी जो मुझसे कभी बात तक न करते थे वे भी पूछने लगे। कदाचित् उनकी धारणा हो गई थी कि मैं बहुत बिगड़ गया हूँ। एक दिन अवसर पाकर मैंने स्वय सब बातें उन्हे समझा दीं। भारतवर्ष में किसी स्त्री के पास दूसरे पुरुष का रहना

कितना भयकर और आपत्तिग्रस्त है, यह मैंने कुछ तो गंगास्थान के मेले मे जाना और उसका कुछ रूप यहाँ देखने को मिला। जीवन में छिपकर जो कुछ किया जा सकता है वह स्पष्ट और निर्भीक रूप से खुलकर नही किया जा सकता। मानो पराई स्त्री पुरुष के लिए एक भय का कारण हो। उसका स्पर्श तक मनुष्य को अपवित्र कर देता है। किसी परस्त्री से बात करते ही जैसे हमारी सारी पवित्रता नष्ट हो जाती है। चरित्र बिगड जाता है। इस तरह पन्द्रह-बीस दिन तक मुझे तरह-तरह के मूर्खता भरे प्रश्नों का उत्तर देना पडा। कभी-कभी तो बडी झॅुझलाहट छूटती। एकाध बार एक सज्जन से मुझे कहना पड़ा कि वह स्त्री मेरी प्रेयसी है। ऐसा कहने पर भी उन्हे विश्वास न हुआ। फिर यथार्थ बात बताई। मैं नहीं कह सकता उन पूछने वालो में से कितने लोगो को मैं उत्तर द्वारा सतुष्ट कर सका ?

इधर एक बात हुई। कमलिनी के भाइयों ने मेरे आने के साथ ही उसका मेरे घर आना बद कर दिया। जहाँ पहले वह जब चाहे आ सकती थी। अब उसके आने के सब द्वार बद कर दिये गये थे। मै नहीं कह सकता उसका मेरे प्रति क्या भाव था। इधर नानी चाहती थीं कि मैं कोई काम करूँ। खाली आदमी सदा बिगड़ता है। इसलिए मुझे कुछ न-कुछ काम करना चाहिए। एक दिन दोपहर के समय नाना आए। आँगन में खाट पर मेरे पास बैठ गए। मैं उस समय कोई पुस्तक पढ रहा था। उन्होने मुझसे कहा—'ठाकुर शेरसिह को एक ऐसे आदमी की जरूरत है जो जिमींदारी के काम में उनकी पूरी सहायता कर सके। तीस रुपये माहवार, रोटी और कपडा देंगे।'

मैंने उत्तर दिया—'मैं जिमींदारी का काम क्या जानूँ ?'

तो वे बोले—'सीखने से सब कुछ आ जाता है। कौन-सा ऐसा काम है जो किया नही जा सकता। बडे भले आदमी हैं। अफसरों मे उनकी साख है। मेरे कहने से ही उन्होंने मान लिया है। कल बुलाया है।'

नानी जो रसोईघर में बैठी भोजन बना रही थीं, वहीं से बोल उठीं—'इससे अच्छी नौकरी और क्या हो सकती है ? जरूर कर ले बेटा ?'

मैंने कहा—'अच्छा' और फिर किताब पढने लगा। नाना थोडी देर बैठकर नहाने को उठकर सामने घर में चले गए। मैं किताब बन्द करके सोचने लगा। नानी ने रसोई के झरोखे से मुझे खाली देखकर कहा—

'दुनियाँ की नज़रों से बचने का यही उपाय है कि कुछ काम किया जाय। ठाकुर बड़े जिमींदार हैं दो तो हाथी हैं उनके यहाँ। सैकड़ों आदमी पल रहे हैं। कई गाँव हैं। महल-सा मकान। बैलों की जोड़ी का तो कुछ ठीक ही नही। घोड़े भी हैं और एक मैना तो इतनी चतुर है कि दूसरे किसी को आते देखकर राम-राम करती है। आओ बैठो, कुरसी ले लो। हुक्का पियो। अरे सरजू देख ये आए हैं। न जाने रॉड कहाँ से इतनी बाते सीख गई है। सिखाया होगा।' इसी तरह नानी बातो की झोंक में आकर कहती जा रही थीं। कभी-कभी चूल्हा फूँकने, रोटी तवे पर डालने के लिए रुक जाती फिर उसी क्रम से कहती रहतीं। अन्त में मैं उनकी बातों से ऊबकर सामने के कमरे मे चला गया। तब भी वे कहती ही रहीं।

कुछ आदमी जीवन में अवसरवादी होते हैं। वे समय के अनुसार लाभ उठाना जानते है। नानी भी उसी पक्ष की थी। न वे यह जानना चाहती थीं कि वह काम मेरी पद-मर्यादा के अनुकूल है या नही। इधर मैं सोच रहा था कि या तो नौकरी करो और नहीं तो रास्ता नापो। यही इन बातों का सकेत है। उन दिनों दशहरे के मैदान के पास बाग में कोई साधु आकर ठहरे थे। नगर के बड़े-बड़े लोग उनके दर्शनों को जाते थे। उस दिन मेरा चित्त भी बड़ा अस्वस्थ था। शाम होते ही मैं भी वहाँ चला गया। वह ठाकुर शेरसिह का बाग था। बाग़ मे एक तरफ मदिर उसके साथ एक बरामदा और एक कोठरी थी। बरामदे के आगे एक बड़ा-सा चबूतरा था। वहीं एक तरफ पर सिंह-चर्म बिछाये स्वामीजी बैठे थे। स्वामीजी का शरीर सुडौल। भरा हुआ मुख। फहराती दाढ़ी थी। सिर के बाल पीछे की तरफ फैले थे। गेरुए रग के वस्त्र उनके गौर शरीर पर खूब खिल रहे थे। बडी आँखें, गभीर प्रकृति देखकर उनके व्यक्तित्व का दर्शकों पर प्रभाव पडा था। उनके पास ही कदाचित् कोई पुस्तक थी जो कपडे में लिपटी हुई थी। सामने नीचे एक बड़ी दरी पर कुछ दर्शक—जिज्ञासु लोग बैठे थे। कुछ लोग आते थोडा देर बैठते और प्रणाम करके चले जाते थे। उस समय मैं अकेला था। चुपचाप दरी के किनारे पर जा बैठा। जितने लोग बैठे थे उनमे सभी चुप थे। केवल आर्य-समाज के मंत्री एक ठाकुर कभी कुछ पूछते और चुप हो जाते। इतने में गुरुकुल के स्नातक ने सस्कृत में स्वामीजी से कुछ पूछा। जिसका उत्तर

स्वामीजी ने हिन्दी में दिया। उन दिनों आर्यसमाज सनातन धर्म का झगड़ा खूब चल रहा था। शायद इसी विषय पर शास्त्रार्थ करने वे स्नातक और उनके साथी आए थे। स्वामीजी की बातों से मालूम होता था कि वे इस प्रकार के विवाद में पड़ने को तैयार नहीं थे। वे बार-बार स्नातक के प्रश्न से कतरा जाते और दूसरे ढग से उत्तर देते। अन्त में स्वामीजी ने कहा—'देखो भाई, साकार निराकार का विवाद बिलकुल निरर्थक है। जिस ढग से किसी को ईश्वर की उपासना करनी हो करे, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मैं साधारण मनुष्यों के लिए ईश्वर का साकार रूप और योगियों, महात्माओं के लिए ईश्वर के निराकार रूप का ध्यान उचित मानता हूँ। मैं कर्तव्यपालन, सच्चरित्रता, जनता की सेवा में विश्वास करता हूँ। उनकी शिक्षा-दीक्षा को श्रेष्ठ मानता हूँ। परमहस रामकृष्ण महाराज ने जो मार्ग हमारे सामने रखा है उसमें सब प्रकार के मनुष्यों को स्थान मिलता है। उनका कहना है 'मनुष्य मात्र की सेवा करो, उनके दुःख दूर करो। तुम्हारा कल्याण होगा।' आदि बहुत सी बातें स्वामीजी ने कहीं। खण्डन-मण्डन से दूर रहकर जो कुछ वे कहना चाहते थे कहते रहे। परन्तु स्नातक तथा उसके दल के लोग इन सब बातों को छोड़कर ईश्वर का अस्तित्व उसका निराकार होना ही सिद्ध करना चाहते थे। जब स्वामीजी ने उन लोगों के प्रश्नों के उत्तर में कुछ न कहा तो वे उठकर चले गए।

मैं और दो व्यक्ति रह गए। अन्त में मेरी ओर देखकर स्वामीजी ने पूछा—'क्या तुम निराकार ईश्वर के पक्षपाती हो?'

मैंने उत्तर दिया—'इन अखाड़ो के युद्ध में मुझे कोई सहानुभूति नहीं है। मुझे क्या करना चाहिए यही मैं जानना चाहता हूँ।'

स्वामीजी ने मुझे जिज्ञासु समझकर वास्तविक सहानुभूति दिखाते हुए कहा—'असली शान्ति तो हृदय में होती है। मनुष्य को चाहिए भरसक परोपकार करे, निन्दा-स्तुति से दूर रहे। तुम्हे क्या दुख है?'

मैंने अपना पूर्व इतिहास सुनाते हुए कहा—'मैं नहीं समझता मैं क्या करूँ?'

इस पर वे कुछ देर चुप रहकर बोले—'दो प्रकार की परिस्थितियाँ होती हैं एक वे हैं जो पूर्व सस्कारो और कामो से प्रकृति संपादन करती हैं वहाँ

मनुष्य का कोई वश नहीं है। उसके होने न होने में वह कुछ नहीं कर सकता। विवश होकर उसे उन्हे मानना पड़ता है। दूसरा यह कि उस परिस्थिति में वह क्या करे? वहाँ कर्ता के रूप में कर्तव्य-अकर्तव्य उसके हाथ की बात हो जाती है। यदि उस जगह ठीक मार्ग वह ग्रहण कर लेता है तो उसका काम परिस्थितियों की विवशता उसे आगे धकेलकर गिरा नहीं पाती।

इसी तरह प्रत्येक मनुष्य के सामने दो प्रकार के मार्ग होते हैं, एक आत्मीय दूसरा परमात्मीय। पहला प्रवृत्तिपरक और दूसरा निवृत्तिपरक है। प्रवृत्ति की तरगें उठकर मनुष्य को गहरे से गहरे में ले जाती हैं जिनसे वह छुटकारा नहीं पा सकता और अवस्था पाकर वह देखता है कि उसका अस्तित्व चारों ओर से घिर गया है। अवकाश उसे कहीं भी नहीं है। यह हमारी इच्छा है कि हम तट पर खड़े होकर चाहे तो नदी के किनारे पर स्नान करें और बाहर निकल कर जल के प्रवाह से बच जायें। दूसरा यह कि नदी के बीच मे चले जायें। उस अवस्था में नदी के तट पर स्वतत्र थे आगे जाने पर हमारी स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है और जितना ही आगे बढ़ते जाते हैं उतने ही हमें संघर्ष करना पड़ता है। उस समय नदी के प्रवाह की गहराई की प्रमुखता रहती है। हमारा सघर्ष भीषण से भीषणतर हो जाता है, और वह उस समय तक रहता है जब तक हम नदी के दूसरे तट पर पहुँच नहीं जाते। यह ससार का नियम है। मनुष्य ससार के आकर्षण से प्रभाविन होकर उसमें पैठता है। रस लेता हुआ चलता है परन्तु वही सुख, वही रस आगे जाकर उसका व्यक्तित्व वन जाता है। उसका रूप वनकर उसे आगे से आगे ले जाता है। फिर या तो वह इसमें डूब जाता है और या फिर बहुत प्रयत्न करके उभरता है।

मैंने हाथ जोडकर कहा—'तो क्या सघर्ष से हमको दूर रहना चाहिए?'

वे बोले—'नहीं। सघर्ष ही तो जीवन है। जो संघर्ष से घबरा जाते हैं वे डूब जाते हैं। परन्तु अपने को न भूलते हुए सघर्ष में पड़ना ही ठीक है। न तो संसार के सब मनुष्य ही ऐसे होते हैं जो सघर्ष को कर्तव्य समझकर ससार के जीवन में प्रविष्ट होते हैं। करोड़ो व्यक्ति केवल गड्डुलिका प्रवाह की तरह चलते चले जाते हैं। न उन्हे डूबने की चिन्ता है न उभरने की। उद्देश्य उनके सामने कोई नहीं होता।'

एक जिज्ञासु बोले उठे—'उद्देश्य क्या है?'

स्वामीजी ने पूछा—'तुम क्या मानते हो, क्या होना चाहिए ?'

मैंने उत्तर दिया—'दो ही उद्देश्य हो सकते हैं अपना उद्धार या मनुष्य मात्र का उद्धार।'

स्वामीजी ने हँसकर—'तुमने ठीक कहा किन्तु आत्मा का उद्धार मुख्य है। जो स्वय चल नहीं सकता वह दूसरे लँगडे या लूले को लेकर कैसे चल सकेगा ? न जाने कहाँ ले जाकर गिरा दे। खूब पढे-लिखे देशभक्त, समाज-सुधारक केवल विद्या के बल पर दूसरों का उपकार करना चाहते हैं वहाँ उनका अनुमान है। उद्धार का निश्चय तो होता ही नहीं। इसीलिए एक बुराई को दूर करते हुए दूसरी बुराई अपने आप हो जाती है।'

मैंने पूछा—'तो आत्मा का उद्धार क्या है ?'

वे बोले—'अपने भीतर निस्पृहता का भाव। चरित्र की दृढता। विश्वास। आत्मनियत्रण।'

'वह किस तरह होती है ?'

'तप से, इन्द्रिय-निग्रह से।'

'कैसा तप ?' मैंने पूछा।

उसके लिए शास्त्र मे योग के नियम बताए हैं। स्वामीजी बोले।

मैंने पूछा—'किन्तु यह तो व्यक्ति के लिए है समाज के लिए नहीं। न तो सब आदमी गृहस्थी छोड़कर योग साधन कर सकते हैं न सभव ही है।'

उन्होंने वर्णाश्रम मर्यादा का उल्लेख करते हुए बताया कि उन्हीं के पालन से मनुष्य मात्र का कल्याण हो सकता है। फिर बोले—'तुम्हे इस समय कोई बधन नहीं है। तुम चाहो तो मनुष्य जाति के परोपकार मे लग सकते हो और चाहते ही ससारी भी बन सकते हो। पर एक बार ससारी बनने के बाद अवसर हाथ से निकल जायगा। फिर तुम आसानी से उससे उभर नहीं सकते। तुम्हे उस चक्की मे पिसना ही पडेगा। केवल चक्की के मुँह के पास तटस्थ रहने पर ही बच सकते हो। उसमें भी तुम्हारा वश नहीं है।'

मैंने पूछा—'तो ससार के सुख क्या इतने हेय हैं जिनसे हमें दूर रहना चाहिए। फिर प्रेम, यौवन, सौन्दर्य, कला का तो मूल्य ही नहीं रहा।'

स्वामीजी पालथी बदलकर एकदम हँसकर कहने लगे—'मैं मानता हूँ ये भी हैं किन्तु इनके भी तो दो रूप हैं। एक वास्तविक और दूसरा भ्रान्त। जिस

नारी के रूप-सौन्दर्य को देखकर हम उस पर मुग्ध हो जाते हैं उसे प्रेम करते हैं क्या वह उसका वास्तविक सत्य सौन्दर्य है ? नहीं, वह तो हमारी वासना है जो उसकी ओर हमें आकृष्ट करती है और वासना बुझते ही वह सौन्दर्य हमें आकृष्ट नहीं कर पाता। हमें उससे घृणा हो जाती है। वास्तविक प्रेम वासना-रहित होता है। वस्तुतः वही स्थायी है। मनुष्य-जाति के कल्याण-भावना को लक्ष्य कर हम जो उसका उपकार करते हैं, उसकी भलाई सोचते हैं, उसे सुख पहुँचाते हैं उस प्रेम में सच्ची तृप्ति होती है।

जो नदी बरसात में अनन्त जल-राशि लेकर चलती है यदि उसका ठीक नियन्त्रण किया जाय, उसे नहरों के रूप में उन प्रदेशों तक पहुँचा दिया जाय, जहाँ बरसात नहीं होती तो उस जल का सबसे अधिक उपयोग कर अनन्त अन्न उत्पन्न किया जा सकता है और वैसा न करने पर वह जल बाढ़ के रूप में सहस्रों गाँवों, खेतों को नष्ट कर देता है। ठीक यही यौवन की अवस्था है। यौवन एक नदी के वेग की तरह है। ज्ञान द्वारा उसका नियन्त्रण होने पर वह सौन्दर्य को स्थायित्व, कला को विकसित, समाज को सुन्दर और वैभव को पूर्ण कर सकता है। नगरों के बड़े-बड़े गगनचुंबी मकान, रेल, तार, मोटर, हवाई जहाज आदि का निर्माण मनुष्य के बुढापे ने नहीं किया। वे कुशल युवा पुरुष ही थे जिन्होंने समुद्र को छान मारा, दूर दुर्गम प्रदेशों तक पहुँचकर पृथ्वी का पता लगाया और अपने साम्राज्य की वृद्धि की। मनुष्य-जाति के वाणिज्य-व्यवसाय को उन्नत किया। यौवन शराब पिए उस अंधे मनुष्य के समान है जो बिना देखे आगे दौड़ता चला जाता है और यह नहीं देखता है कि सामने कुआँ है या खाई। यदि उसको कुएँ-खाई में गिरते देख कोई समझदार व्यक्ति उसको दूसरी तरफ कर दे तो वह दूसरी तरफ दौड़ने लगेगा।'

मैंने पूछा—'फिर कला का क्या उपयोग है ?'

स्वामीजी बोले—'कला का उपयोग आत्म-तृप्ति है। जिस भवन का निर्माण कारीगर करता है यदि उसमें हमारी आवश्यकताओं के साथ मोहकता, रुचि-सौन्दर्य है तो भवन-निर्माण की कला सफल है। इसी तरह कविता या चित्र हमारी आत्म-शान्ति के साथ हमारी पिपासा को तृप्त करता है तो वे दोनों सफल हैं। कला की उपयोगिता मैं चरम विकास के साथ मनस्तोष में मानता

हूँ। केवल वासना को उभारना, या वाह्य रूप को जगाना कला का उद्देश्य नहीं है। कला का जीवन आत्मा से सम्बन्ध है। स्वामीजी ने और भी विस्तार से बहुत-सी बातें समझाईं। वे जिस सुन्दर ढग, गभीरता, सरलता से बातें कर रहे थे उससे मुझे मालूम हुआ कि इस व्यक्ति में अपने अनुभव का ही सब कुछ है। न तो वह सब किताबी है न माँगा हुआ दिखाने के लिए। जब प्रणाम करके मैं लौटा तो मुझे लग रहा था, मैंने जोवन की नई दिशा देखी। मैंने निश्चय किया मैं नौकरी न करूँगा। अधिक-से-अधिक मुझे यहाँ से जाना पड़ेगा तो चला जाऊँगा। वैसे भी नानी के पास रहने में मुझे कोई आकर्षण नहीं था। कभी-कभी इच्छा होती कि एक बार सारे भारत का भ्रमण करूँ। भ्रमण मुझे सदा से प्रिय है। परन्तु उसके लिए चाहिए रुपया। वह मेरे पास न था। एक बार जी में आया क्यों न इन स्वामीजी के साथ कुछ दिन रहा जाय। इधर मैं कवि प्रमथेश के पास हरिद्वार के पास भी जाना चाहता था। उनकी कविताओं ने मेरे हृदय में नई उथल-पुथल मचा दी थी। दिन-रात अवसर मिलते ही मैं उनकी कविता गुनगुनाता। मुझे उससे रस मिलता और मिलती मस्ती में भूल जाने की क्षमता, जो मेरे लिए एकदम नई वस्तु थी। इस बार वेदू के यत्न करने पर भी मैं उससे मित्रता का नाता बनाए न रख सका। कमलिनी के प्रति तो मुझे आकर्षण था ही नहीं। बल्कि एक तरह से उपेक्षा ही उससे हो गई थी। उसने छिप छिपकर एकाध बार मिलने का यत्न किया तो मैं टाल गया। उस दिन शाम को घर जाकर जब मैंने नौकरी न करने की सूचना नानी को दी, तो वे बहुत नाराज़ हुईं और क्रोध में आकर उन्होंने कह दिया—'तो फिर खाली बैठने से यहाँ काम न चलेगा। जब तक तू तेरे भाई बहनों को पाल दूँगी। बाद में तुम जानो तुम्हारा काम।' मैं चुप हो रहा। इधर रात को बेचैनी के कारण नींद बिलकुल नहीं आ रही थी। स्वामीजी के इतने उपदेश देने पर भी निश्चय कुछ भी नहीं कर पा रहा था। कभी सुधी की याद आ जाती पर वह मार्ग भी व्यवधान से भरा था। मन यदि कहीं जाकर अटकता तो केवल सुधी के पास। वही एक क्षीण रेखा दिखाई देती थी। जब से मैं आया था तब से उसका कोई समाचार भी नहीं मिला था। न जाने वह किस परिस्थिति में थी। उसके पति की क्या अवस्था होगी। फिर सोचता सुधी के साथ मेरा कोई सम्बन्ध भी तो नहीं है क्यों उसकी चिन्ता से व्याकुल होता हूँ।

उस समय चाँदनी रात थी। चंद्रमा का प्रकाश छिपा-सा अँधेरे को झाँक रहा था। वायु में न तो बहुत गर्मी थी न अधिक सर्दी। साधारण कपड़ों से काम चल रहा था। मैं गर्मी का बहाना करके गाय-बैल बँधनेवाले घर में खाट पर जा लेटा। नाना उस दिन किसी काम से बाहर गए थे। थोड़ी देर प्रकाश में लेटे रहने पर भी जब नींद न आई तो मैं उठ बैठा और द्वार पर आकर खड़ा हो गया। वहीं दूर खेतों में कुछ लोगों के मिलकर गाने का स्वर सुनाई दे रहा था। वह रात के ग्यारह का समय होगा। मैं उठकर उसी तरफ चल दिया। उस निशा में चारों ओर सन्नाटा फैला हुआ था। चाँदनी में प्रत्येक वस्तु धुली हुई सफेद ही सफेद दिखाई पड़ती थी। मैं जहाँ गाना हो रहा था वहाँ से दूर जा खड़ा हुआ। तीन आदमी मचान पर बैठे तानें उड़ा रहे थे। गाने में माधुर्य तो न था केवल आवाज की ऊँचाई और स्वर की सधाहट थी। मालूम होता था गानेवालों ने आरोह-अवरोह का अभ्यास अवश्य किया है। गीत था—

> नयनन से आव मिलाव अँखियाँ।
> रस की प्यासी इन अँखियन में दूरी न भर भर जाव।
> मिलाव अँखियाँ।

जब उनका गाना कुछ धीमा होने लगा तो मैंने मस्ती में आकर प्रमथेश की एक कविता स्वर के साथ शुरू की। लोग एकदम चुप हो गये। इधर मैंने एक के बाद दो तीन कविताएँ गा डालीं। थोड़ी देर बाद देखता हूँ वे तीनों आदमी पास ही खड़े सुन रहे हैं। उस वातावरण में काम के भाव मूर्त रूप धारण करके प्रत्यक्ष हो गए हैं। मैं पढ़ते-पढ़ते तन्मय हो गया। वे तीनों किसान कविता नहीं समझ रहे हैं, यह मैं अच्छी तरह जानता था। फिर भी मैं पढ़ता रहा। मुझे प्रमथेश की कविताएँ दुहराने में जितना आनंद आया उतना पहले कभी नहीं आया था। सचमुच मुझे उस समय ऐसा दीख पड़ा कि कविता में भी मनुष्य को मोहने की शक्ति है। इसके बाद चुपचाप उठकर सामने एक कुएँ की पैढ पर जा बैठा। उस निरभ्र निशीथ में चंद्रमा का प्रकाश चारों ओर फैल रहा था। कचरियों के पकने के कारण उनकी मीठी-मीठी भीनी-भीनी सुगंध आ रही थी। सब ओर हरा ही हरा दिखाई दे रहा था। यद्यपि उस प्रकाश में न तो सब कुछ हरा ही था न श्वेत ही। चाँदनी के प्रकाश में स्पष्टता नहीं थी। सब

कुछ अस्पष्ट पर प्रकाशमय था। मैं बैठा-बैठा सोचने लगा यह प्रकाश ऐसा है जिसमें साफ कुछ भी नही है, पर है सब कुछ। रग नहीं है आकार है। गुरुत्व-लघुत्व है। क्या इसी तरह हमारा जीवन भी नही है ? बाहर से दीखता है—मै हूँ, यह है, पेड है, पर वास्तव मे मैं क्या हूँ, यह क्या है ? पेड का भेद किसने डाला ? छोटे से बीज में इतना अन्तर कहाँ से आ गया ? किसने एक वृक्ष को नीम का, दूसरे को बबूल का, तीसरे को वड का बना डाला। मैं स्वय क्या हूँ जो बोल रहा हूँ। क्या सचमुच ऐसी कोई वस्तु है जिसने मुझमें दूसरे से भेद की भावनाएँ भरकर जड से अलग कर दिया है, अपने साथियों से अलग कर दिया है। उस निस्तब्ध निशीथ में कभी-कभी कोई किसान टीन का कनस्तर बजाकर चिडियो को उडा देता। फिर सो जाता। मुझे उस समय न तो डर था न कोई विचार ही स्थिर होकर आता था। कुएँ की मेड़ पर, जो पक्की बनी थी, मैं कुछ देर तक आँखे खोलकर लेटा रहा और चाँदनी को पीता रहा। पीता रहा। ऐसा मालूम हो रहा था। सोकर हम चाँदनी का कितना प्रकाश व्यर्थ जाने देते हैं। सब ओर जीवन है। जड़ों में भी जीवन है वे सब अपने नियम से बढ़ते हैं और छोटे से मनुष्य को, जिसका अस्तित्व बहुत छोटा है, लाभ पहुँचाते हैं। इस कुएँ में न जाने पृथ्वी के किस-किस स्तर से आकर पानी भर गया है। जो ऊपर आता है फिर बहकर पृथ्वी में ही कहीं समा जाता है। कुछ सूर्य की किरणों द्वारा भाफ बन ऊपर उडता और पृथ्वी पर ही बरस जाता है। हजारों साल से यही क्रम है। क्या हम भी इसी तरह पैदा नहीं होते ? हमारे जीवन का भी क्या उद्देश्य है ? एक आदमी पैदा होता है बडा होकर दूसरे को पैदा करके आप मर जाता है। फिर वही तीसरे को पैदा करके स्वयं मर जाता है। कदाचित् ससार को बनाए रखने के लिए ही हम पैदा हुए हैं। पैदाइश बनी रहे इसलिए मनुष्य में वासना उत्पन्न हुई है। वस्तुतः प्रेम के मूल में वासना का बीज है। यदि वासना न होती तो प्रेम का अस्तित्व भी न होता। वासना को माँज रगडकर साफ करके उसका नाम रख दिया है प्रेम। कला भी उसकी ऊपरी चीज है। जिसका वास्तविक अर्थ है वासना को जीवित रखना।

मालूम होता है प्रकृति चाहती है कि चाहे तुम उसको प्रेम कहो या कला परन्तु वासना को जीवित रखो। यदि वासना मर जाय तो ससार नष्ट हो जाय।

प्रकृति या परमेश्वर नहीं चाहते कि मूल वासना का नाश हो। किन्तु मनुष्य ने वासना को सजाने के लिए, उसका शृंगार करने के लिए प्रेम और कला को उत्पन्न किया है। इसमें रुचि सौन्दर्य है, बुद्धि का परिष्कार है। इसी चाँद को देखो यह एक स्थूल प्रकाशपिण्ड है, जो सूर्य से प्रकाश लेकर चमकता है, इसका प्रकाश शीतल है, इसमे न गर्मी है न सर्दी, न तेजी है न बहुत धुँधलापन! इसमे मादकता है। मनुष्य भी मध्यमावस्था को चाहता है। मध्यमावस्था का नाम ही यौवन है। यौवन शैशव और बुढापे की एक सधि है। पूर्णिमा प्रकाश का यौवन है, वसन्त ऋतुओं का यौवन है। बाढ नदियो का यौवन है। हरियाली फूलना-फलना वृक्षों-लताओं का यौवन है। जो एक बार आता है। मालूम होता है यौवन ही इन सबकी चरम सार्थकता है। पर इसका परिणाम क्या?......सृष्टि की उत्पत्ति ही तो! तब सृष्टि ही सब कुछ है। युद्ध भी सृष्टि को सार्थक बनाए रखने का कारण है। जब बहुत तरह के विचारो में सघर्ष होने लगता है, जब प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक समाज, प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति के स्वार्थ दूसरे मनुष्य, समाज, देश, जाति से टकराते हैं तो दो लोहे के टुकड़ों से जैसे आग निकलती है, इसी तरह उनमें युद्ध की आग भड़कती है। उससे असतुलन नष्ट होकर सतुलन क़ायम होता है। महामारी भी संतुलन कायम रखने के लिए है? और यह अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प? क्या यह सतुलन रखने के लिए नहीं है? यह भी तो भौतिक रोग हैं जिनकी परिणति मनुष्य का विकास है। व्यर्थ का नाश है। इसी तरह न जाने क्या-क्या पड़ा सोचता रहा। इतने में एक कंकड़ आकर मेरे पैर में लगा। मैं एकदम पैर सिकोडकर बैठ गया, पर दीखा कहीं भी कुछ नहीं। इसके बाद दूसरा वह जरा जोर का था। मैं एकदम सिहर उठा। मैं सोचने लगा कहीं किसी यात्री ने कुएँ की मेंड़ पर भूत ऐसा ही कुछ न समझा हो। उसी समय उस प्रकाश की व्यर्थता भी मुझे याद आने लगी। ऐसा है यह प्रकाश कि स्पष्ट कुछ भी नहीं है। जब तीसरा पत्थर मेरे हाथ में लगा तो मैं 'आह' कर हाथ पकड़कर बैठ गया। इसके साथ ही तीन-चार आदमी वहाँ आ गए। उस समय हाथ में अधिक चोट आ जाने के कारण मुझे चक्कर-सा आ गया। उन्होंने मुझे सँभाला या क्या किया मुझे नहीं मालूम। मैंने केवल इतना ही सुना—'मैंने पहले ही कहा था न कि कोई यात्री है?' ले लो जो कुछ है। इधर

मैं बेहोश-सा हो गया। कुछ सर्दी भी लगने लगी थी। परन्तु उस अवस्था में रहना तो मेरे लिए बहुत कठिन था। गाँव से एक मील दूर चला आया था। इधर हाथ में पीड़ा थी। कुछ देर तक इसी सकपके की हालत मे पड़ा रहा। रह-रहकर दर्द से चीख उठता। उस समय कोई दो बजे का समय होगा। मैंने सोचा यदि इस समय घर न पहुँचा तो फिर किसी तरह भी जाना सभव न होगा। न जाने लोग क्या समझें। मैं पीडा से कराहता उसी अवस्था में चल दिया। उस नग्नावस्था मे चलते हुए मैं सोच रहा था क्या मनुष्य कभी नगा न रहा होगा। अँधेरा तो था ही। मैं गिरता पड़ता बैठता किसी तरह अपनी चौपाल के पास आकर खाट बिछाकर लेट गया। चादर मैंने लपेट ली। फिर भी खून हाथ से बह रहा था। इधर दर्द के मारे बुरा हाल था। अन्त में चादर फाडकर गायों के पानी पिलानेवाले घड़े से कपडा भिगोया और हाथ पर बाँधा। जब वह कपडा भी खून से भीग गया तो घडे के पानी से हाथ धोया और फिर उसी कपडे को बाँधा। मैं नहीं जानता इसके बाद मुझे मूर्छा आ गई या सो गया। सवेरे मैंने देखा कि नानी और दो-तीन आदमी मेरे पास बैठे हैं। वे सब आश्चर्य में थे कि चोट लग कैसे गई? वे सब विस्मय से अभिभूत थे। मैं स्वय कुछ नहीं समझ पा रहा था कि पूछने पर क्या बताऊँगा। और मेरे बताने पर उनको विश्वास भी होगा या नहीं। जब उन्होंने देखा कि मैं पूरे होश में हूँ तब नानी ने मुझसे पूछा—'यह कैसे लगी लल्ला?

मैंने आँखें बन्द कर लीं और चुप हो गया। थोडी देर में काफी भीड जमा हो गई। जब नानी किसी काम से उठकर चली गईं तो एक कहने लगा—'हो न हो रात को उठकर यह कहीं गया अवश्य है? घर में सोते चोट कैसे लग सकती है?'

दूसरा बोला—'ये शहर के लडके हैं इनकी माया कौन जाने? संभव है चोरी करने ही गया हो।'

तीसरा बोला—'बदमाशी भी तो हो सकती है?'

एक कह रहा था—'गिरने से चोट लगी है।'

दूसरे ने झट बात काटकर कहा—'मार की चोट दिखाई देती है। होश नहीं है। मैं चुपचाप पडा आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ सुन रहा था। उस कसबे में मेरी चोट की बात बिजली की तरह फैल गई। बहुत-से आदमी देखने

आए और सब अपनी अपनी कल्पना-बुद्धि के अनुसार कुलाबे मिलाते, देखते और चले जाते। लोग कह रहे थे—'कपड़े भी उतार लिये। कोई बड़ी बात अवश्य हुई है।' नानी चुपचाप बैठी आँसू बहातीं। कोई पूछता तो न जाने क्या बात है, कहकर चुप हो जातीं। थोड़ी देर बाद उन्होंने उठाकर मुझे दूध पिलाया। जब मैंने आँखें खोलीं तो सभी लोग आश्चर्य से मेरी ओर देख रहे थे और चाहते थे कि पूछें। मैं स्वय इतना निःशक्त हो गया था कि बोलने को जी नहीं चाहता था। आवाज मेरी क्षीण हो गई थी। बैठते चक्कर आ जाता। उन दिनों आस-पास गाँवों और कसबे मे चोरी की वारदातें हो रही थी, शायद इसीलिए या क्या दोपहर के समय थाने का एक कान्स्टेबिल मुझे देखने आया और मेरा बयान लेने का आग्रह करने लगा। मैंने उस समय फिर आँखें बन्द कर ली। उस समय कसबे में इस घटना से कितना 'सेन्सेशन' फैला था यह इसी बात से मालूम होता था कि जो आदमी आता वह कहता—'घर-घर इस बात की चर्चा है। वही सुनकर मैं भी देखने चला आया।' नानी बहुत दुखी थीं कि न जाने क्या बात है? इस लडके ने घर की आबरू मिट्टी मे मिला दी। जब कान्स्टेबिल आया तब तो मुहल्ला ही टूट पड़ा। भीड़ इतनी अधिक हो गई कि, मुझे वहाँ साँस लेना कठिन हो गया। इस पर मैंने काँखकर करवट ली, और आँखें खोल दीं। मैंने लोगों को हट जाने का इशारा किया तो कुछ आदमी हट गए। कान्स्टेबिल मुझे जागता जानकर कागज पैन्सिल सँभालकर बैठ गया।

मैं नहीं कह सकता, लोगों को मुझसे सहानुभूति थी या वे असलियत का पता लगाना चाहते थे। एकाध को छोडकर सभी तमाशबीन थे। सभी अपने-अपने अनुमान के अनुसार धारणाओं को पुष्ट कर रहे थे। मुझे लोगों में बढ़ती उत्सुकता को जान और अपने सबध में सब प्रकार के अपवादों, घिनौने विचारों को लोगों में फैलते देखकर भी उनके निराकरण की कोई इच्छा नहीं हो रही थी। मैं सोचता, एक बार सब लोग जितना भी मुझे बुरा, नीच समझते हैं समझ ले। मुझे इसकी बिलकुल परवा नहीं है। इतने मे हस्पताल के डाक्टर के साथ थानेदार तथा क़सबे के एक-दो प्रतिष्ठित व्यक्ति आ गए। डाक्टर ने आते ही मुझे देखा, घाव को देखकर बोले—'घाव गहरा नहीं है। ठीक हो जायगा।'

थानेदार ने कहा—'मैं बयान लेना चाहता हूँ। मुझे शक है।'

डाक्टर ने कहा—'अवश्य।'

इस समय भीड अधिक हो गई थी कि साँस लेना दूभर हो रहा था। मैंने फिर जोर से काँखकर पानी माँगा। नानी ने, जो खाट के सिरहाने बैठी थी, मुझे पानी पिलाया।

थानेदार ने सब लोगो को हटा दिया और मुझसे पूछने लगा—

'तुम्हे यह चोट कैसे लगी ?'

मैंने जरा स्वस्थ होकर आदि से अंत तक सब कहानी सुना दी। कान्स्टेबिल लिख रहा था। मैं रुक-रुककर बोल रहा था। जब मैं कह रहा था तो एक आदमी बोल उठा, गीत तो रात को हमने भी सुना था। मेरे उधर देखने पर लगा कि कदाचित् यही आदमी था जो मचान पर अपने साथियों के साथ गा रहा था। उसने मेरी बात को दुहराया। उसके बाद चुप हो गया।

नानी कह रही थीं—'यह चोर नहीं है। बडे बाप का लड़का है। हम लोग प्रतिष्ठावाले हैं।'

वेदू जो उस समय कहीं से आ गया था, बोला—'रात-रात भर घूमने का इसका स्वभाव है।'

मैंने देखा—'थानेदार मुझे हिरासत में लेना चाहता है। वह कह रहा था तफतीश के बाद में छोड़ूँगा।'

जो प्रतिष्ठित व्यक्ति साथ थे, कह रहे थे, नही साहब, ऐसा न कीजिए। वे......बाहर हैं। बड़े इज्जतदार आदमी हैं।

आखिर उनमें एक की जमानत लेकर थानेदार चला गया। मैं नहीं कह सकता, मेरे बयान देने पर लोगों को सन्तोष हुआ या नहीं पर मेरी प्रकृति के संबंध में विचित्र धारणाएँ लोगो ने अवश्य बना लीं। कुछ कह रहे थे वह तो भूतों का कुआँ है, अंधा कुआँ। उसके पास रात को जाना बडा भयकर है। पाँच बजे शाम के लगभग वे स्वामीजी भी आए। उनके साथ कुछ भक्त भी थे। स्वामीजी के आने पर लोगों ने खाट खाली कर दी और वे उसी पर बैठ गए। उन्होंने एकदम उठकर मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'कैसा जी है ?'

मैंने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—'ठीक हूँ। आपने क्यों कष्ट किया ?'

स्वामीजी कहने लगे—'बड़ा शुद्धचरित्र लड़का है। मैं तो एक दिन में जान गया। इसका लोगों पर बडा प्रभाव पड़ा।'

मैंने देखा मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह किसी को क्षमा करना नहीं जानता। जो लोग सबेरे मुझे देखने आये उन्होंने मुझे एकबारगी ही आवारा, चोर, बदमाश समझ लिया। यद्यपि मेरा कोई चरित्र उन्होंने इससे पूर्व नही देखा था। न मुझे कही इस तरह जाते पकड़ा ही था फिर भी वे मुझे क्षमा न कर सके। दोपहर को जब थानेदार आये तो मेरे मुख से सब घटना सुनकर भी एकाएकी उन्होंने विश्वास नहीं किया, परन्तु इतना निश्चित था, उनकी उस धारणा को ठेस अवश्य पहुँची। सायकाल स्वामीजी के मुख से मेरे सम्बन्ध मे विचार सुनकर वे मुझे एकदम पवित्र समझने लगे। और तो और मेरी आवारागर्दी को भी महात्मापन के साथ जोड़ दिया। रात को कमलिनी के भाई मुझे देखने आये। उनके जाने के बाद कमलिनी और उसकी भावियाँ भी आईं। रात को मुझे घर में ले जाया गया। कमलिनी और उसकी भावियाँ रात के ग्यारह बजे तक मेरे पास बैठी रहीं। इधर नानी दिन भर मेरी देखभाल में बैठी रही। मेरी छोटी बहन ने ही मोटा-झोटा खाना बना लिया था, वही बच्चों ने खाया। नानी दिन भर की भूखी थीं। उन्होंने पानी भी नहीं पिया था, इसलिए कमलिनी ने दूध की कोई चीज बनाकर उन्हे खिलाई। इस तरह रात के बारह बजे तक कमलिनी घर में रही। रात को उसके भाई दो बार आए और उसे काम करते देखकर चले गए। जाते हुए वे कह गए—'कोई हर्ज नहीं है रात को कमलिनी यहाँ रह जायगी।'

किन्तु नानी आग्रह कर रही थीं 'बर्तन-चौका दिन मे हो जायगा। तू जा।'

इतने पर जब कमलिनी जाने को तैयार न हुई तो उसके भाई उसे घर छोड़ कर चले ही गए। नानी थकी होने के कारण आँगन में दरी पर सो गईं। मैं बरामदे में लेटा था। जब कमलिनी दूध लेकर आई तब मेरी आँख खुली। इधर कमलिनी को पास से मैंने बहुत दिनों से नहीं देखा था। इसलिए दिये के प्रकाश में उसे एक उचटती नज़र से देखकर मुझे कुतूहल हुआ किन्तु वह सब दबाए हुए मैंने उसकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। मैं जानना चाहता था देखूँ कमलिनी मुझसे किस तरह का बर्ताव करती है। उसने धीरे-धीरे मुँह पर हाथ फेरते हुए, मुझे जगाना चाहा। मेरे आँख खोलते ही उसने

धीरे से मेरा सिर उठाकर दूध का गिलास मुँह से लगा दिया। मैं दूध पीकर फिर लेट रहा। वह मेरी खाट के पास बैठी हाथ तथा कमर पर हाथ फेरती रही। बहुत देर बाद उसने धीरे से कहा—'कैसी तबियत है ?'

ठीक है। तुमने इतना कष्ट क्यों उठाया कमलिनी ? तुम्हें नहीं मालूम मैं बदमाश, चोर न-जाने क्या-क्या हो गया हूँ। ऐसे व्यक्ति के पास क्या तुम्हें आना चाहिये। इतना कहकर मैं उसके मुँह की ओर देखने लगा।

उसने मुँह फेर लिया और कोई उत्तर न दिया। मैंने देखा उसकी आँखें डबडबा आई हैं। गला रुँध गया है।

मैंने उसका हाथ पकड़ते हुए कहा—'बोलो।'

उसने—'यह सब झूठ है' कहकर फिर मुँह फेर लिया।

इसके बाद उसने मेरे हाथ की पट्टी ठीक की। मैं करवट बदलकर लेट गया। मुझे नहीं मालूम मैं कब सो गया ? किन्तु आँखें खुलने पर देखा कि कमलिनी मेरे सिर पर हाथ फेर रही है। फिर मेरे बार-बार कहने पर वह जाकर सो गई। मुझे इस तरह ठीक होने में पन्द्रह दिन लग गए। एक बात अच्छी हुई वह यह कि ठाकुर शेरसिंह के यहाँ नौकरी करने के लिए फिर मुझसे किसी ने नहीं कहा।

कमलिनी के जब-जब मैं बीमार पड़ा हूँ मेरी सेवा की है। वह दिन-रात एक करके घर बार भूलकर मुझे अच्छा करने की ओर सचेष्ट रही है। इस सम्पूर्ण सेवा के बदले उसने मुझसे कुछ नहीं माँगा। गंगास्नान के समय एक बार एकान्त में उसने मुझसे कुछ बातें की थी। किन्तु मैं नहीं कह सकता, उसमें कोई भी वासना की गन्ध थी। मैंने आज तक कभी उसकी किसी बात से ऐसा भाव नहीं पाया जिससे मैं भिन्न प्रकार की कल्पना कर सकूँ। पर इतना निश्चित है कि वह मुझे चाहती है। इसी बीमारी के बीच उसने मुझे बताया कि किसी तरह वह मुझसे मिलने के लिए अवसर की ताक में रही है और एक बार वैसा प्रसंग आ पड़ने पर जब मैंने उससे बात तक न की तब उसे कितना दुख हुआ। मैंने हँसकर उत्तर दिया—'कदाचित् इसीलिए मेरे चोट लगी कि तुम मुझसे बातें करने का अवसर पा सको।' इस पर वह लज्जित हो गई और धीरे से एक चपत मेरे मुँह पर मारा। मैं कभी-कभी कमलिनी के सम्बन्ध में सोचता कि इस नारी ने जीवन में क्या पाया है ? मनुष्य तो बाहर रहकर

ऊँची-ऊँची पुस्तकें पढ़कर अपना मन लगा सकता है किन्तु जिस स्त्री को न शिक्षा मिली हो न कोई ऊँचे विचार ही उसके सामने हों, उसे प्राकृतिक स्नेह के अतिरिक्त कौन सी वस्तु संतोष प्रदान कर सकती है। पति का सुख उसे नहीं है। भाई का सुख उसे पति के सुख की तृप्ति नहीं दे सकता। फिर सोचता, तो मैं भी उसे किस प्रकार सुखी कर सकता हूँ? यही प्रश्न बार-बार मुझे कचोटता। मैं मानता हूँ नारी में दमन करने की जितनी शक्ति है उतनी शक्ति शायद बाँध वाली नदी में भी नहीं है। वह भी अधिक जल पाकर वेग से बाँध तोड़कर दौड़ पड़ती है। पर इतना स्पष्ट है जिस नारी ने अपनी सीमाएँ नहीं तोड दी हैं वही बँधकर रह सकती है। सीमाएँ छिन्न-भिन्न हो जाने पर उसे रोक सकना कठिन ही नहीं दुर्निवार भी है। कमलिनी उसी प्रकार की नारी है। जिसमें साहस का बल नहीं है। एक बार उसने कहा भी था कि 'तुम मुझे ले चलो मैं किसी की परवा नहीं करती।' क्या यह वाक्य उसने सोच-समझकर कहे थे। कदाचित वेग की अधिकता में ये वाक्य कहे होंगे और सुस्थिर होकर सोचने पर अवश्य उसे लज्जा, ग्लानि, क्षोभ का शिकार बन पड़ा होगा। जैसे अपने ही भीतर सुख दुख बीते रहने पर मनुष्य में एक प्रकार की चमक, एक प्रकार की दीप्ति रहती है वैसे ही इस नारी के रूप में थी। वह अपना शृंगार नहीं करती थी। एक वेणी किए वह रहती थी तब भी उसके मुख पर एक विशेष प्रकार की दीप्ति जाग रही थी। देखने पर मालूम होता कि न जाने इसकी आँखों में कितने करुणा के स्रोत आकर एकत्र हो गये हैं। विवशता, असमर्थता के भीतर भी उसका हृदय स्नेह की शिक्षा की पुकार मचा रहा था। उस दिन जब मैं कुछ-कुछ चलने-फिरने लगा और बाहर से जरा घूमकर लौटा तो मेरी तरफ पीठ किए वह गेहूँ बीन रही थी। नानी सामने के घर में थीं और कदाचित कोई भी वहाँ नहीं था। बडी में कसा हुआ उसकी पीठ का भाग और गर्दन स्पष्ट दिखाई दे रही थी। सिर से धोती उतरी हुई थी। इसलिए धोती में छिपी हुई उसकी कमर की लघुता बहुत स्पष्ट हो गई थी। मैंने चुपचाप जाकर उसकी आँखें मूँद लीं। वह बहुत देर तक जैसे मुग्ध हो गई हो, मेरे हाथ दबाए बैठी रही। अन्त में स्नेह-विभोर स्वर से उसने मेरे हाथ दबाए हुए पुकारा 'अजय!' मुझे ऐसा लगा जैसे वह आँखों से दोनों हाथ नही हटाना चाहती। इसके बाद उसने जो कुछ कहा, उसका भाव मैं बहुत

समय तक नही समझ पाया। वह कहने लगी—'क्या ही अच्छा होता इन हाथों की छाया में मेरे आगे सदा अन्धकार रहता।' इन वाक्यों के साथ उसके चेहरे पर एक वैभव विनिन्दिनी मुसकान खेल गई। किन्तु उस मुसकान में कितना दर्द, कितनी पीड़ा, कितनी विशाल व्यथा का सागर भरा था इसकी कल्पना करते ही मैं सिहर उठा। मुझे अपने सामने इतना खिन्न देखकर वह बोली—'क्यों क्या नाराज़ हो गये ?'

मैंने हाथ जोडकर कहा—'नहीं कमलिनी मौसी, इस जीवन में मैंने तुम्हारे प्रति बड़े अपराध किए हैं। उनसे कभी मुक्त हो सकूँगा या नहीं, यही मैं सोचता हूँ।' वह चुप हो गई और बोली—'तुम आदमियों को बातें बनाना बहुत आती हैं।' इसके साथ ही उसने इधर-उधर की बातें छेड़ दीं। इसी बीच में एक और घटना हो गई। कल शाम को मेरी बहन आलमारी साफ कर रही थी। उसमें दो चिट्ठियाँ निकल आईं। वे सुधी की थीं। अचानक मेरी निगाह पडने से पूर्व वह बोली, भैया तुम्हारी ये दो चिट्ठियाँ हैं। चोट लगने से नानी ने तुम्हे नहीं दी थीं। फिर शायद भूल गईं। मैंने दौड़कर वे चिट्ठियाँ ले लीं। पहली चिट्ठी उस दिन से पन्द्रह दिन पूर्व की थी। उसमें लिखा था उनकी तबियत बहुत खराब है। मैं बहुत परेशान हूँ। जल्दी आओ। दूसरे पत्र में लिखा था—ब्रजमोहन परसों शाम को स्वर्गवासी हो गए। वह पत्र सुधी का नहीं, किसी और के हाथ का लिखा हुआ था। जब नानी से मैंने कहा तो वे बोलीं—'अभी घाव बिलकुल ठीक नहीं है। एकाध दिन ठहरकर जाना।' मैंने सोचा नानी को भी क्यों नाराज किया जाय, एक दिन बाद ही सही। इधर नानी को सब हाल समझा देने पर उन्होंने स्वयं सुधी को सहायता देने पर सतोष प्रकट किया था।

जब कमलिनी के सामने मैंने वह बात रखी कि मैं सुधी के पति की मृत्यु हो जाने के कारण उसके पास जा रहा हूँ तब वह एकदम जड़ हो गई। मुझे ऐसा मालूम होने लगा जैसे वह गिर जायगी। फिर भी वह सँभल कर बैठी रही। मेरे बार-बार बातें करने पर भी वह नहीं बोली। इतने में नानी आ गईं। मैंने उसे सुनाते हुए नानी से कहा, सुधी के पास एक सप्ताह तक रहकर मैं शीघ्र ही लौटूँगा। किन्तु वह बिना उत्तर दिए उठकर चली गई। नानी ने पूछा, क्या बात है ? कमलिनी क्यों नाराज हो गई। मैंने उत्तर दिया—'न जाने क्यों ! अभी तक तो ठीक थी।'

वे बोली—'तेरे जाने के कारण नाराज हो गई है। भैया, मैं तुमसे क्या कहूँ यह तुझे कितना चाहती है? गंगास्नान से आने के बाद रोज आकर तुझे बुलाने के लिए कहती और भी न जाने सुधी के बारे में क्या क्या कहती रहती है। जब से तू आया है तब से दिन भर घर से न निकलने पर भी रात को आकर तेरी बाबत पूछती रही है। नानी इतनी बातें जानती हैं, यह मुझे उस समय ही मालूम हुआ। परन्तु उसके 'चाहने' को नानी किस रूप में लेती हैं यह जानने की उत्कट अभिलाषा होते हुए भी उनसे अधिक कुछ पूछना उचित न समझा और मैं चुप हो रहा। दूसरे दिन सुधी के घर को चल पड़ा।

६

यथासमय सुधी के घर लौटते ही मैंने देखा कि घर मे कुछ आदमी इधर से उधर दौड़ रहे हैं। उस दिन तेरही थी। एक तरफ श्राद्ध का काम हो रहा था। दूसरी तरफ भोजन बन रहा था। दो स्त्रियाँ रसोई में बैठी पूरी, हलवा, मालपूआ, तरह-तरह के शाक तैयार कर रही थी। एक आदमी बाहर बैठा आलू छील रहा था। एक वृद्धा आज्ञा से सब काम करा रही थी। मैंने जैसे ही घर में पैर रखा वैसे ही वह वृद्धा निकलकर बाहर आ गई और बोली—'क्या चाहते हो?'

मैंने बिस्तर बाहर पड़ी खाट पर रखते हुए कहा—'मेरा नाम अजय है?'

'अजय-अजय, कौन?'

इतने में वह लडका जिसको मैं नौकर रखवाकर गया था, आकर हाथ जोडकर बोला—'बीबीजी के भाई हैं अम्मा।' अम्मा 'अच्छा' कहकर भीतर चली गई।

इतने मे सुधी ने कमरे में से देखा तो 'आ गए अजय', कहकर काम में लग गई। साथ ही उसने मुझे भीतर बुलाया और जो कुछ शय्यादान के लिए दिया जाता था, वह सब दिखाया। इसके बाद वह बोली—'गद्दा तो

बनवा लिया है दरी नहीं मिली। इसलिए तुम बाजार से जाकर दरी ला दो।' मैं बिना कुछ कहे दरी लेने बाजार चला गया। लौटकर आते ही सब क्रिया-कर्म की देख-रेख में लग गया। लगभग तीन बजे तक शय्यादान, ब्राह्मण-भोजन के बाद मैं नहाकर निकला ही था कि स्टेशन मास्टर स्वयं आ गए। कुछ देर खेद प्रकट करने के बाद उन्होंने कहा कि—'क्वार्टर खाली कर दो। मैं यत्न करूँगा कि जल्दी ही ब्रजमोहन के प्रोवीडेण्ड का रुपया मिल जाय। फिर भी इस काम में एक-डेढ़ मास लग जायगा।' इतना कहकर वे जैसे ही चलने लगे 'वैसे ही वृद्धा ने आकर उनसे पूछा—'कितना रुपया होगा भैया?'

वे बोले—'माँजी, यह तो ठीक-ठीक नहीं कह सकता। जितना होगा कौडी-कौडी मिल जायगा।'

इतना कहकर वे चले गये। वृद्धा यह कहती हुई अन्दर कमरे में चली गई कि सुधी अब आगरे जाकर रहेगी। यहाँ उसका क्या रखा है? कल हम सब लोग आगरे चले जायेंगे। सुधी बरामदे में चुप थी। मैं बाहर खाट पर बैठा था। उसने कुछ आवश्यक बातों के अलावा मुझसे कोई बात ही नहीं की थी। अन्त में मैंने ही अपने आप चोट लगने के कारण देर से पहुँ-चने की सारी कथा उसे सुनाई। इस पर उसने बिना उत्सुकता प्रकट किये—'चोट का अब क्या हाल है?' आदि बातें पूछ ली और चुप हो गई।

उधर वृद्धा ने अपने आप सब सामान बँधवाना प्रारम्भ कर दिया था। मैंने फिर सुधी से पूछा—'तुम्हारे पिताजी नहीं आये?'

सुधी ने उसी तरह अनमने भाव से कहा—'बाबूजी ने सौ रुपये भेजे थे। आ नहीं सके। मौसी अम्मा आ गई हैं।'

'तुम क्या आगरे जा रही हो?'

'क्या करूँ, कहीं तो जाना ही होगा।'

मैंने कहा—'ठीक है, वहाँ यदि तुम सुख से रह सको तो इससे अच्छी क्या बात है? आखिर अब तो किसी तरह दिन काटना ही है।' यह बात मैंने काफी जोर से कहा जिसे सुनकर अम्मा मौसी बाहर आ गई और बोलीं—'अजय, देख मेरे भी अब कोई नहीं है। यह मेरे पास ही रहेगी। इधर मैं भी बूढ़ी हो चली हूँ। हाथ-पैर नहीं चलते। जो रुपया मिलेगा उसी से हम लोग गुज़ारा करेंगी।'

कारण एकबारगी ही मौन हो उठी है। इससे पूर्व जब ब्रजमोहन बीमार थे तब भी वह चुप रहा करती थी। उसके चेहरे से कोई भी स्पष्ट भाव लक्षित नहीं होता था। मैं नहीं कह सकता वह ब्रजमोहन के अभाव से पीड़ित हो गई है क्या? ब्रजमोहन से उसे कोई भी सुख नहीं मिला है, न मानसिक, न शारीरिक फिर वह क्या रूप लेकर उसको याद करती होगी। हो सकता है नारी जनोचित स्त्री के हृदय में पति के प्रति जो पातिव्रत्य के, समर्पण के चिर सस्कार बद्धमूल हो चुके हैं उन्हे ही दुहरा रही हो। उसने जो मनोयोग से पति का क्रिया-कर्म किया है, वह भी तो उसका पति के प्रति कर्तव्य है। मैं विश्वास करने लगा कि वह निश्चय ही न तो बीमारी में दिन-रात शारीरिक, आर्थिक कष्ट सहती रहने के कारण पति की मृत्यु से बहुत अभिभूत ही हुई है न ब्रजमोहन की मृत्यु ने उसे विचलित ही किया हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ब्रजमोहन की मृत्यु के बाद मुझसे मिलने पर भी उसकी आँखों में एक बूँद आँसू भी नहीं निकला। नहीं तो साधारण स्त्रियों की तरह उसे मुझे या ऐसे ही किसी व्यक्ति को, जो ब्रजमोहन से सम्बन्धित रहा हो, देखते ही हाय मारकर रोना चाहिये था। वह सब भी नहीं हुआ। यह तो मैं कह ही नहीं सकता कि उसका वियोग इतना प्रबल हो गया है जिसने उसकी वाणी को बाँध लिया है। वैसा होने की दशा में तो उसका खाना-पीना सभी कुछ बद हो जाता। इसी उधेड़बुन में मैं खाट पर पड़ा था कि चटाई पर नीचे मुँह किये सुधी बोली—'खाना तो खा लो। सवेरे से तुमने पानी भी नहीं पिया है।' चलो लाओ दे दूँ।

मैंने कहा—'ठहरो, मैं इस समय नहीं खाना चाहता। मैं इस समय यह सोच रहा हूँ कि तुम आखिर आगरे में किस तरह रह सकोगी।'

उसने एकदम रूखा उत्तर दिया—'यह काम तुम्हारा नहीं, मेरा है।'

मैं एकदम उठकर भौचक्का-सा उसके मुँह की ओर देखने लगा। मौसी अम्मा उसी समय बाहर आ गई और बोली—'लल्ला तुम इन सब बातों की चिंता मत करो। मैं सब कर लूँगी।'

मैंने कहा—'बहुत अच्छा। मुझसे भूल हुई।'

इतना कहकर मैं बाहर निकल आया और नीम के पास ही एक कुएँ की मेड़ पर बैठ गया। वहाँ कुछ लड़के गिल्लीडंडा खेल रहे थे। मैं वही देखने

लगा। इसी बीच में एक बार सुधी का नौकर मुझे पुकार गया था। मैं धीरे-धीरे उठा और मकान में जाकर बाहर खाट पर बैठ गया। मैं निश्चय कर चुका था, कल सुबह की गाडी से मुझे निश्चय ही चले जाना चाहिये। इसके साथ ही मैंने दृढ होकर अपने निश्चय की सूचना सुधी को देते हुए कहा—'सुधी, मुझसे भूल हुई जो मैंने तुम्हारे काम में हस्तक्षेप किया। उसने फिर रुखाई से उत्तर दिया। नहीं, ऐसी तो कोई बात नही है।'

मैंने निश्चय किया है मौसी अम्मा जैसा चाहती हैं वैसा ही मुझे करना चाहिए। मैंने जवाब दिया—'वह तो ठीक ही है मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु मैं समझ नही पा रहा हूँ कि तुम इतने रूखेपन से मुझसे क्यो पेश आ रही हो। कदाचित् यह मेरी बड़ी भारी भूल है कि मैं यहाँ आया ही क्यों?'

उस समय मौसी अम्मा मदिर मे दीया रखने गई थी। नौकर भी साथ ही था। सुधी मेरी खाट के पास आकर खडी हो गई और बोली—'इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। मेरी प्रकृति ही दुख सहते-सहते ऐसी हो गई है। मेरा हृदय पत्थर हो गया है। आँसू सूख गये हैं। रोना नहीं आता। उनकी मृत्यु के समय मेरी आँख से एक भी बूँद आँसू नहीं गिरे। लोग आश्चर्य में थे। किन्तु मै क्या करूँ? मेरा वश नही है। तुम मुझे चाहो अपराधिनी समझो या क्षमा कर दो। स्नेह नाम की कोई भी वस्तु मेरे हृदय में नहीं रह गई है, जिससे मेरे जीवन में रस हो। बस, यही बहुत है कि मैं पागल नहीं हो गई। अपने सुख-दुख का साथी मैं तुमको समझती थी, सो तुम भी मुँह मोड़ गये।'

मैंने कहा—'चोट के कारण मुझे ठीक समय पर तुम्हारे पत्र नहीं मिले और जिस समय पत्र मिले उसके दूसरे दिन ही चल पड़ा हूँ। रही जाने के समय की बात, मुझे ऐसा विश्वास है कि उन दिनो मुझे कुछ दिनों के लिये अवश्य जाना चाहिये था।'

सुधी बोली—'मैं लगभग एक सप्ताह तक उस मुर्दे को गोद में लिये बैठी रही हूँ। प्राण ही छूटने नही आते थे। वह छोकरा भी रात को घर चला जाता था। मैं अकेली, अँधेरी रातों में उनकी मृत्यु से लड़ती रही हूँ। मृत्यु के दो दिन पूर्व स्टेशन मास्टर ने एक बुढिया को रात के लिये मेरे यहाँ रहने को कह दिया था। वह आती और सो जाती। उस जीवन मे मैंने एक बात सीखी

वह यह कि भय से दृढता आती है। मुझे अब न डर लगता है न कुछ। अम्मा मौसी उनकी मृत्यु के दो दिन बाद आईं। उस दिन जिस रात को उनकी मृत्यु हुई मैं अकेली थी। बुढिया उनकी मृत्यु के दो घंटे बाद आई। पर मेरे मुँह से न चीख ही निकली, न मैं रोई ही। स्तब्ध, जड की तरह उनकी मृत्यु-शय्या के पास बैठी रही और रात भर बैठी रही। उनका चेहरा इतना विकृत और भयंकर हो गया था कि कोई और देखता तो डरकर भाग जाता, किन्तु उनसे न कोई डर था, न मैं डरी ही। डरती क्या कोमलता तो मुझमें रह ही नहीं गई। हृदय तो था ही नहीं।'

इन अन्तिम वाक्यों को सुनकर मुझे बड़ा दुख हुआ। मैंने सुधी का हाथ पकडते हुए कहा—'मुझे खेद है कि मैं तुम्हारी कोई सेवा नहीं कर सका। तुमने जिन कष्टों का सामना किया है उन्हे देखकर तो पत्थर भी पिघल जायगा। मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ सुधी। मुझे क्षमा कर दो। मैं बरबस उसके पैरों पर गिर पड़ा।'

उसने मुझे उठाया और न जाने कहाँ से नदी की अजस्र धार की तरह उसकी आँखों से झर-झर करके आँसू गिरने लगे और वह जोर-जोर से रोने लगी। बुढिया भी आ गई थी, वह भी समझा रही थी, मैं भी सन्तोष दे रहा था। इधर मौसी अम्मा ने जब उसको रोते देखा तो व्रजमोहन के संबंध में कहने लगीं कि वह उन्हें भी अनाथ करके छोड गया। जब रोते-रोते सुधी की हिचकी बँध गई तब मैं उसके पास जाकर उसे सान्त्वना देने लगा। पर जितनी ही मैं समझाता वह उतना ही रोती जाती थी। लगभग दो-ढाई घण्टे तक वह रोती रही। मैंने कई बार उसका मुँह धुलाया, आँसू पोंछे पर वह तो जैसे रुकना ही नहीं जानती थी।

मैंने समझा दुख रोकर ही कम होता है। इसलिये मैंने उसे रोकना उचित न समझा। रोते-रोते सुधी की आँखें सूज गईं। गला बैठ गया। तब जाकर कहीं वह शांत हुई। मैं पास ही बैठा था। मौसी अम्मा वहीं पास एक चटाई पर सो गई थीं। नौकरानी बाहर सो रही थी। मैंने उठकर सुधी का मुँह धुलाया। फिर भी उसे हिचकियाँ आ रही थीं। जब खाने के लिये उससे बहुत आग्रह किया तभी बडी कठिनाई से उसने दो पूडियाँ खाईं और थाली छोडकर उठ बैठी। वहीं मौसी अम्मा के पास वह जा सोई। मैं बरामदे में खाट पर लेट गया।

दूसरे दिन बारह बजे गाड़ी जाती थी। जब नौ बजे के लगभग सब सामान बाँध कर मौसी अम्मा चलने को उद्यत हुई तो उन्होंने देखा सुधी ने कोई तैयारी नही की है। उनके पूछने पर उसने कहा—'वह अभी नहीं जा सकती। रुपया लेकर आगरे लौटेगी। मैं उस समय बाहर गया हुआ था। इसलिये उन दोनो में क्या-क्या बाते हुई यह मुझे नही मालूम किन्तु विधवा के कर्त्तव्य को लेकर अम्मा मौसी ने जो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के गहन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उसमें मेरा भी कई बार उल्लेख हुआ और मैं उनकी तीक्ष्ण दृष्टि के विषमय प्रहारों से नही बच सका। पीछे नौकर से यह सब पूछने पर मालूम हुआ कि उन्होंने क्रोध में भन्नाकर स्टेशन मास्टर से भी जाकर सुधी की शिकायत की और वह सुधी को समझाने आया भी। परन्तु सुधी ने उत्तर दिया—'क्या यह सब जानने का अवसर नही मिला।' जिस समय मैं लौटा तो बाहर ही छोकरे ने मुझे सब बता दिया। मेरे अन्दर जाते ही सुधी ने कहा—'शहर जाकर जल्दी से एक मकान ठीक कर आओ। हम लोग आज ही वहाँ चलेंगे।'

मैंने कहा—'तुम तो आगरे जा रही थीं न?'

सुधी ने बीच ही में प्रत्याख्यान करते हुए कहाँ—'नहीं, मैं अभी नहीं जाना चाहती। तुम्हे जाना हो तुम भी जाओ। पर मुझे एक मकान ठीक कर दो।'

मैं हतबुद्धि की तरह उलटे पैरों लौट गया और दो घटे में एक मकान डाक्टर के मकान के पास ही किराये पर लेकर वापस आ गया।

मौसी अम्मा उस समय तक स्टेशन पर पहुँच चुकी थीं। उनके जाने पर मैं उन्हे गाड़ी में बिठाने चला गया। वहाँ उन्होंने बताया कि 'बेटा, पहले मैं समझती थी कि तेरे कारण अब यह मेरे साथ नहीं जाना चाहती। ऐसी न होती तो पति ही क्यो मरता। मेरे कहने का बुरा न मानना।' इतना कहकर उन्होंने बिना आँसू के ही अपना मुख पोंछ डाला।

यथासमय गाडी आने पर मैंने उन्हें गाड़ी में बैठा दिया और वे चली गई। मैंने दो-तीन दिन रहकर देखा कि इस बुढिया के हृदय मे कुछ भी नहीं है। न कलुष है न किसी के प्रति स्नेह। अपने जीवन के प्रति भी वह काफी निरपेक्ष है। ब्रजमोहन का पालन करने, उसे पढ़ा लिखा देने पर भी उसने बदले

में कुछ नहीं चाहा। अब भी वह केवल सुधी से थोड़ी सी सेवा का विचार करके अपनी तरह उसके जीवन के दिन काटने का अव्यर्थ उपाय दिखाती हुई उसे आगरे ले जाना चाहती थी।

समाज में स्त्री के लिए जो व्यवस्था है उससे एक इंच भी वह इधर-उधर नहीं देखता कदाचित् इसी डर से स्नेह न होते हुए भी अम्मा मौसी ने सुधी के लिये उपाय ढूँढा था। परन्तु आजकल की पढ़ी-लिखी छोकरियाँ या तो प्राचीन परम्परा में विश्वास नहीं करतीं या प्रतिक्रिया का अवसर पाकर वे विद्रोही हो जाती हैं। आखिर सुधी के लिये उस मार्ग के अतिरिक्त और कौन-सा मार्ग है जिस पर चलकर वह सुखी रह सकती है। यही सोचता हुआ मैं क्वार्टर की ओर लौटा। आते ही मैंने देखा, दरवाज़े पर एक गाड़ी खड़ी है। भीतर छोकरे के साथ सुधी अपना सामान बाँध रही है।

मेरे घर पहुँचते ही सुधी ने पूछा—'गई मौसी अम्मा ?'

मैंने उत्तर दिया—'हाँ। तुम्हें बहुत बुरा-भला कह रही थीं।'

उसने कोई उत्तर न दिया और नौकर तथा गाडीवाले की सहायता से एक-एक करके सब सामान गाड़ी में रखवाया। इधर मैं भी सब चीजें ठीक करके रख रहा था। सब सामान रखे जाने के बाद मैंने देखा कि मेरा बिस्तर बाहर पटिया पर रखा है वही नही उठाया गया। पहले तो मैंने समझा कि कदाचित् इस बिस्तर के उठाने की पारी अन्त में आवेगी, परन्तु जब सब कुछ रखे जाने पर भी वह आँगन में पड़ा रह गया तब मैंने कुछ न कहा।

सब सामान रखे जाने के बाद सुधी बोली—'यह सब सामान ले जाकर मकान में बन्द करा दो और ताला लगा देना। मैं शाम को जाऊँगी। जाओ। बाहर गाडीवाला चिल्ला रहा है।'

मैंने प्रश्नसूचक स्वर में कहा—'पर मेरी गाडी तो अब सुबह ही जायगी। कोई बात नहीं, रात को स्टेशन पर सो जाऊँगा।'

उसने मेरी बात का कोई उत्तर न देकर कहा—'जाओ। देर हो रही है।'

मैं चुपचाप छोकरे के साथ गाड़ी पर जा बैठा। मुझे ऐसा लगा जैसे सुधी ने मेरे ऊपर सदा ही शासन किया है। अब भी वह वैसा ही कर रही है। न तो उसने मुझे यह बताना ही उचित समझा कि मैं उसके साथ रह रहा हूँ या नहीं। ब्रजमोहन के समय परिस्थिति की विकटता से जो आत्मदर्प उसका दब

गया था वह फिर जागरूक हो गया है। छोकरे ने बताया कि बीबीजी ने स्टेशन मास्टर को ऐसी डाट बताई कि वह अपना सा मुँह लेकर चुपचाप चला गया। मौसी अम्मा को भी उसने एक बार जो फटकारा तो वे सिटपिटाती हुई स्टेशन की ओर बकुचा लेकर चली गई। परन्तु जाने क्यों ब्रजमोहन के समय की परिस्थिति में सुधी का स्त्रीत्व इतना उभर आया था कि जरा-सी विवशता पाते ही वह रो देती थी। फिर भी इस स्त्री में आत्माभिमान कितना जागरूक रहा है उस पर मैं उससे कई बार बिगड बैठने पर भी उसका तिरस्कार नहीं कर सका हूँ।

यथासमय गाड़ीवाले की सहायता से सब सामान रखवा मैंने अच्छी तरह से मकान बन्द कर ताला लगा दिया। यह तीन बजे का दोपहर होगा। सबेरे से कुछ खाया न था इसलिए बाजार से थोड़ा दूध पीने के बाद मैं फिर क्वार्टर मे पहुँचा। सुधी उस समय रात में रहनेवाली नौकरानी को पैसे दे रही थी। मैंने मकान की चाबी देते हुए कहा—'आज्ञानुसार सब काम कर आया हूँ।'

सुधी ने कोई उत्तर न दे उसे बिदा किया।

मै अपने बिस्तर पर जो सुधी ने बिछा लिये थे, बैठ गया। इसके बाद सुधी ने रसोई में से लाकर पत्तों में भोजन परोस दिया, पानी भर लाई और मेरे सामने बैठकर बोली—'खाओ। तुम सवेरे से भूखे थे पर क्या करती यह काम करना आवश्यक था, खाओ।' सुधी ने इससे पूर्व भी कई बार अपने सामने बैठाकर मुझे खाना खिलाया है। उसमें प्रेम, मुस्कान भी भोजन के साथ मिलती थी किन्तु इस बार रूखी आज्ञा के अतिरिक्त मैंने कुछ भी नहीं पाया। भोजन करते हुए न मैंने ही उससे कुछ कहा न वह ही बोली।

भोजन के बाद मैं उसी दरी के एक भाग पर लेट गया। दूसरे किनारे पर सुधी स्वय भोजन करने लगी।

मैंने लेटे-लेटे ही पूछा—'तो फिर मेरे लिये क्या निश्चय है? यदि मेरी आवश्यकता हो तो मैं रहूँ?'

'कहाँ जाओगे?' उसने पूछा।

'नानी के पास।'

'वहाँ क्या करते हो?'

'करता तो कुछ नहीं हूँ। एक बार इच्छा हुई, कमलिनी के बारे में कह दूँ

फिर चुप रह गया। यहाँ भी मैं क्या करूँगा ? इच्छा होती है साहित्य का अध्ययन करूँ। एक बार कवि प्रमथेश से मिलने हरिद्वार भी जाना है। इसके साथ ही यहाँ से पिछली बार जाते हुए कवि का परिचय तथा उसके सम्बन्ध में अपनी श्रद्धा का भी मैंने परिचय दिया। इसके बाद सुधी ने एकदम प्रश्न कर दिया—'कमलिनी कौन है ?'

मैंने आश्चर्य मे भरकर पूछा—'तुम उसे कैसे जानती हो ?'

उसने उत्तर दिया—'उसका पत्र आया था। तुम्हारे बाद। मालूम होता है लड़की तो बड़ी है पर उसे लिखना नहीं आता। कौन है वह ?'

मैंने बात को टालना न चाहा पर सुधी के उखाड-पछाडकर पूछने पर मैंने सीधे-सादे शब्दों में सब कुछ बता दिया। यह भी कह दिया उसने मेरे अस्वस्थ होने पर दिन रात एक करके मेरी सेवा की है। यह सब सुनकर सुधी चुप हो गई।

साँझ होने से पहले ही हम लोग दूसरे मकान मे चले गये। जाते ही सुधी सब तरह से मकान की सफाई मे लग गई। मैं डाक्टर के पास जा बैठा। डाक्टर ने बताया कि तुम्हारे बाद रोगी की दशा कैसे बिगड़ी ? कैसे उन्होंने दवाइयाँ दीं ? अन्त में कैसे मृत्यु हुई ? इसके साथ ही उन्होंने सुधी की निर्भयता सेवा की प्रशसा की। डाक्टर को यह विश्वास था, वह मेरी बहन है। इसीसे और किसी प्रकार का प्रश्न न किया। मैं थोडी देर बैठकर चला आया। इस समय तक सुधी सब प्रकार से मकान ठीक कर चुकी थी। उस दिन हम सब दूध पीकर सो गए।

दूसरे दिन सुधी ने सामान की लिस्ट लिखकर मुझे रुपये देते हुए कहा—'अभी हमें एक मास तक यहाँ रहना है सो तुम सब सामान खाने-पीनेवाले ले आओ।'

मैं सामान लेने चला गया। सामान रखकर मैंने स्नान किया और भोजन करके लेटते ही छोकरे ने मेरे सामने कई उपन्यास, कई कविता-पुस्तकें, नाटक लाकर रख दिये। मेरे पूछने पर उसने बताया कि बीबीजी ने लाइब्रेरी से ये पुस्तकें मँगाई हैं।

मेरे पूछने पर सुधी ने सत्तेप में उत्तर देते हुए कहा—'कल तुमने कहा था न कि तुम साहित्य की पुस्तकें पढना चाहते हो उसी के अनुसार ये पुस्तके हैं। पढ़ो।'

मैंने पुस्तकें पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। शाम को कभी-कभी लाइब्रेरी में जा बैठता। झुटपुटे में सुधी के साथ सैर करने को जाता। इधर सुधी के व्यवहार में बहुत अन्तर आ गया था। वह एक सीमा के भीतर ही मुझसे बातें करती। रात को मेरे सोने के लिए भी ऊपर के कमरे में प्रबन्ध रहता। मैं भी प्रायः ऊपर अपने कमरे मे बैठा पुस्तकें पढ़ा करता। कई दिन तक तो मैंने यह जानने का यत्न ही नही किया कि यह अवकाश के समय क्या करती है। एक दिन अचानक पढ़ने से छुट्टी पाकर मैं नीचे आया तो क्या देखता हूँ कि वह सल्मे-सितारे का काम काढ़ रही है। एक स्त्री उसके पास बैठी है। मुझे देखते ही वह एक तरफ सरक बैठी। सुधी ने पूछा—'आज पढने मे मन नहीं लगता क्या ?'

ऐसा ही समझो। हाँ, स्टेशन मास्टर ने आज ही हम लोगों को बुलाया था न ?'

'आज सवेरे खल्लासी फिर आया। तुम्हीं न हो आओ।' सुधी कहने लगी।

मैंने कहा—'हस्ताक्षर तो तुम्हे करने होंगे।'

'तो क्या जाना ही पडेगा ?'

'हॉ तुम्हारे चाहते ही स्टेशन मास्टर और उसके लडके को भी रुपया भेंट किया जा सकता है।'

सुधी ने व्यग्य के साथ'अच्छा' कहा और उठ बैठी वह स्त्री चली गई थी। सुधी मेरे साथ जाकर रुपया ले आई। उसे पन्द्रह सौ पचीस चार आने मिले थे। रुपये लेने के बाद उसने मुझे सौंपते हुए कहा—'लो यह रुपया बैंक में जमा करा दो। इसके साथ ही पिछली पास बुक उसने मुझे दी। मैंने खोलकर देखा उसमें पॉच सौ रुपये थे। वह अपनी तरफ से सफाई देती हुई बोली—'मालूम होता है मुझे दो हजार का हिसाब देना पड़ेगा।'

मैंने कहा—'नहीं ऐसी बात नहीं है। वैसे ही देख रहा हूँ।'

उसने कहा उन्होंने मरते हुए कई बार कहा—'मुझे बडा दुख है सुधी, कि मैं तुम्हारा हार भी सुरक्षित न रख सका। अच्छा होते ही सबसे पहले एक हार तुमको बनवाकर दूँगा। चाहे मुझे कितना भी कष्ट हो। जब कई बार उन्होंने हार का जिक्र किया और मैंने देखा कि हार के लिये वे बहुत व्याकुल हो उठते हैं तो एक दिन मैंने उनसे बाबूजी के पास से आए हुए रुपयों का

जिक्र कर दिया। इस पर उन्होंने मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा तो निश्चय ही मैं मरने या अच्छा होने से पहले तुम्हारे गले में हार देखना चाहूँगा। इसके साथ ही उन्होंने डाक्टर के कम्पाउडर के मार्फत सराफ को बुला भेजा और पाँच सौ का एक हार मुझे ले दिया।'

फिर वह बोली—'उनकी आज्ञा थी कि यह हार सदा मेरे गले में पड़ा रहे।'

मैंने पूछा—'तो कहाँ है वह हार?'

'नहीं, मृत्यु के बाद उतार दिया था।' मैंने सब रुपया सुधी के नाम से बैंक में जमा करा दिया। सुधी ने कई बार यत्न किया कि यह रुपया मैं अपने नाम से में जमा कराता, पर वैसा करना न तो मुझे अच्छा ही लगा न उचित ही-था।

उस दिन शाम को जब हम दोनों सैर को निकले तो अचानक सुधी ने कमलिनी का प्रसग छेड दिया। मैंने उसके सम्बन्ध में कहते हुए बताया कि कमलिनी समाज के बन्धनों में इतनी जकड़ी हुई है कि वह अपने आपको किसी तरह भी उठा सके इसकी सभावना नहीं है।

इसके अतिरिक्त शिक्षा न होने पर भी पुराने स्त्री-सस्कारों के कारण वह जब तक बधन में है तभी तक सुरक्षित है। इसी में उसका कल्याण है।

सुधी ने कहा—'तुम नहीं जानते स्त्री की लज्जा विवेक का काम देती है। वह मूर्ख होते हुए भी लज्जाशील होने के कारण अपनी रक्षा कर लेती है। जब पढने-लिखने से उसका विवेक जागता है तब लज्जा कम हो जाती है। उस अवस्था में उसका पतन भी हो सकता है। फिर भी मैं चाहती हूँ उसका उद्धार हो जाय।

'किस प्रकार का उद्धार चाहती हो तुम।' मैंने प्रश्न किया।

सुधी बोली—'उसे मानसिक स्वतन्त्रता चाहिये। तुम्हारी बातों से मालूम होता है वह तुम्हें चाहती है। यह मानस दोष है जो शारीरिक बन्धन के कारण स्त्री को लग जाता है।'

मैंने कहा—'यह तुम्हारा भ्रम है कि वह मुझे चाहती है। वह स्नेहहीन है। उसे जीवन मे न पति का स्नेह मिला, न पुत्र का। ऐसी अवस्था में वह निश्चय न करते हुए भी एक प्रकार का स्नेह चाहती है। सभव है, वह पुत्र के रूप में चाहती हो।'

उसने व्यंग्य से पूछा—'और तुम ?'

मैंने कहा—'मैं उसे नहीं चाहता। मैं केवल इतना ही चाहता हूँ कि यदि मैं उसे किसी प्रकार भी सुखी देख सकूँ तो वह मेरी पूर्ण कामना होगी। मैं उसकी अवस्था से दुखी हूँ।'

सुधी ने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा—'तुम स्त्री की बात क्या जानो। पुरुष और स्त्री दो भिन्न प्रकृतियाँ हैं जो जीवन की दो दिशाओं में ढलती हैं। दोनों का एक दूसरे के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है।'

मैं चुपचाप साथ चलता रहा। हम दोनों बाग़ में जाकर एक लान में बैठ गये। उस समय वहाँ कोई भी नहीं था। एकाध व्यक्ति इधर से उधर जा रहे थे। इतने में एक दम्पति हाथ में हाथ डाले भिड़े हुए उधर से निकले। उन्हें देखकर सुधी बोली—'यही जीवन का चरम विकास है ?'

मैंने कहा—'इसके बाद भी एक अवस्था है वही जीवन का चरम विकास है।'

सुधी ने मेरी ओर देखकर पूछा—'वह कौन सी अवस्था है ?' इतना कहने के साथ ही वह बोली—'मैं समझ गई।'

मैंने पूछा—'क्या ?'

वह बोली—'मातृत्व।'

मैंने कहा—'हाँ।'

वह फिर थोड़ी देर कुछ सोचकर बोली—'क्या विवाह आवश्यक है अजय।'

मैंने कहा—'हाँ, समाज के लिये उसका होना आवश्यक है। मैंने एक बार कहीं पढा है कि प्रागैतिहासिक काल में विवाह नहीं होता था। किन्तु उस समय समाज भी तो इतना दृढ नहीं था। समाज ने दृढ होते ही व्यक्ति पर सबसे पहला बंधन यही लगाया। अब भी कोई जाति ऐसी नहीं है जिसमें विवाह की रीति प्रचलित न हो। फिर भी प्रेम और विवाह दोनों एक चीज़ नहीं हैं।'

हम लोग उठकर फौवारे के पास टहल रहे थे। चाँदनी छिटक रही थी। रजनीगन्धा की भीनी-भीनी सुगन्धि आ रही थी।

उस दिन रात को यथानियम बारह बजे तक पढता रहा। जब पढकर उठा तो प्यास मालूम हुई। न जाने क्यों नौकर पानी रखकर नहीं गया था।

सबसे नीचे कुआँ था। वहीं लोटा लेकर पानी भरने जैसे ही गया तो देखा सुधी दिये के सामने आसन बिछाये बैठी पूजा कर रही है। मैं आश्चर्य में पड गया, यह पूजा का कौन-सा समय है? साहस करके जो आगे बढ़कर देखा तो सामने व्रजमोहन का चित्र रखे हुए बैठी है, आँखे बन्द हैं। आँखों से आँसुओ की धारा बह रही है। आहट पाते ही चौंककर उसने मुझे देखा और आँचल से आँसू पोछ लिये।

मैंने हँसकर कहा—'मैंने तुम्हारी पूजा में विघ्न डाला।'

सुधी बोली—'नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। पर तुम इस समय यहाँ कैसे?'

मैंने सकपकाकर उत्तर देते हुए कहा—'पानी लेने कुएँ पर जा रहा था। बीच मे तुम्हे इस तरह देखकर उत्सुकतावश इधेर चला आया।' इतना कहकर जैसे ही चलने लगा वैसे ही टोककर सुधी बोली—'कोई सहारा भी तो चाहिये?'

मैंने लौटकर पूछा—'मैं नहीं समझा।'

उसने खाट पर बैठते हुए कहा—'मैंने तुमसे कहा था न कि स्त्री-पुरुष का आकर्षण स्वाभाविक है।'

मैंने कहा—'हाँ तो इससे क्या?'

वह बोली—'अब भी नहीं समझे, कमलिनी का प्रेमी इतना भी नहीं जानता, यही आश्चर्य है।'

मैंने क्रोध से उत्तर दिया—'यह तुम्हारा अन्याय है सुधी। तुम मेरे सम्बन्ध में चाहे जो कहो। उस स्त्री के सम्बन्ध में तुम्हे कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है।'

उसने हँसकर उत्तर दिया—'ब्रह्मचारी आनन्द भी तो नर्तकी चित्रलेखा को ब्रह्मचारिणी ही समझता रहा।'

मैं उसके उत्तर से असन्तुष्ट होकर नीचे उतर गया। जब पानी लेकर लौटा तो सुधी ने कहा—'हितकामना में भी 'काम' रहता है अजय? इसमें बुरा मानने की बात नहीं है, यह तो स्वाभाविक है।'

मैं चुपचाप बिना उत्तर दिये ऊपर चला गया। सुधी को कमलिनी के प्रति ईर्षा है या क्या? यही मैं खाट पर पड़ा-पड़ा सोचता रहा। इधर एक मास के लगभग उसके पास रहते हुए मुझे हो गया। क्या मुझे इस अवस्था में, जबकि मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, रहना क्या हितकर है? वह मुझसे

जाने के लिए नही कहती। किन्तु उसके व्यवहार से यह भी नही मालूम होता कि वह मुझे चाहती है। चाहने पर क्या मेरा उसके प्रति वैसा सम्बन्ध बनाये रखना ठीक होगा। यही मैं सोच रहा था। बालकपन मे जो हम मूर्खतापूर्ण रूप से दोनों एक खाट पर लेट गये थे और बाबूजी ने देख लिया था, जिसके कारण घर भर में विप्लव मच गया, वह बाते याद आने पर मुझे स्वय बडी ग्लानि होने लगी। इससे पूर्व व्रजमोहन के होते हुए सुधी का रूप मेरे सामने वासनामय तो रहा नहीं, केवल प्रेम की आभा उसके साथ हिलगी रही है। इस समय जबकि सपूर्ण रूप से मेरे पास थी, मुझे लगा कि वह प्रेम भी अब कहीं अकित या छिपा हुआ दिखाई नहीं देता।

जब ये विवेचन मैं कर रहा था तो कभी-कभी जोर-जोर से कह उठता। इससे मुझे स्वय सकोच हुआ। मैंने एकदम निश्चय किया कि देखना चाहिये हृदय में कहाँ-कहाँ किस प्रकार का सुधी के प्रति स्थान है। मैं जो इस समय निर्णय दे रहा हूँ उसमें पक्षपात क्रोध ही अधिक दिखाई देता है। कमलिनी के प्रति व्यंग्य करके उसने जो मेरे क्रोध को भडका दिया है उसकी प्रतिक्रिया के कारण मेरा निर्णय कभी ठीक नहीं हो सकता। मैंने पडे-पड़े अपना क्रोध शान्त किया और फिर प्रारभ से सुधी के प्रति अपने हृदय की चेष्टाओं, विचारों को मापने लगा। मैंने देखा कि सुधी की आज्ञा के साथ ही जो मैं नाच उठता हूँ यह क्या आकर्षण का प्रभाव नही है? मैं जो अब यहाँ पडा हूँ वह किस आशा से? क्या उससे यह परिणाम नहीं निकलता कि किसी दिन कदाचित् मैं उसके हृदय में स्थान ग्रहण कर सकूँ? नहीं तो कौन-सी बात है जो एक दूर के परिचित को सुख पहुँचाने के विचार से मैं यहाँ पडा हुआ हूँ? इसके साथ ही मुझे याद आया उस दिन अम्मा मौसी के सामने उनके पूछने पर कि मैं कौन हूँ, मैंने अजय कहकर ही अपना परिचय दिया था। और नौकर ने 'सुधी के भैया हैं' कहने पर मैंने कुछ अच्छे ढग से उसे ग्रहण नहीं किया। स्पष्ट है सुधी को मैं चाहता हूँ।

इसके साथ ही न मालूम कैसे मैं निर्णय करने लगा। सुधी ने जो कहा कि स्त्री-पुरुष का आकर्षण स्वाभाविक है, तो मैं पति-पूजारता सुधी के हृदय में क्यों सकल्प-विकल्प उत्पन्न करूँ। मुझे यहाँ से एकदम चले जाना चाहिये। इसी प्रकार सोचते-सोचते मैं सो गया।

दूसरे दिन जब अधिक देर तक सोता रहा तो सुधी चाय लेकर ऊपर आ गई। उसने मुझे जगाया। मैंने एकदम करवट बदलकर कहा—'तुम जाओ मै थोडी देर में उठूँगा। मुझे नीद आ रही है।'

यह सुनकर वह मेरी खाट के सिरहाने बैठ गई और पूछने लगी—'क्या कुछ तबियत खराब है?' इसके साथ ही वह मेरे बालो मे हाथ फेरने लगी।

मैंने करवट बदले ही कहा—'नहीं सुधी, तुम जाओ, मैं थोडी देर में उठूँगा।'

मैं वैसे ही लेटा रहा। रात की बाते मेरे दिमाग़ में फिर घिर आईं और मैंने चादर हटा दी। आँख खोलने पर देखा कि सुधी खडी मेरी ओर देख रही है।

मैं उसकी तरफ बिना देखे ही उठ बैठा। उसने छोटी मेज खींचकर उस पर चाय रख दी। इधर कुछ दिनों से मैं चाय पीने लगा था। किन्तु चाय मैं पीता था दातून-कुल्ला करके। उस दिन जब सुधी ने मेरे बिना निश्चित हुए ही चाय लाकर रख दी तो मैं बिना कुछ कहे वैसे ही चाय पीने लगा। यद्यपि इस प्रकार चाय पीने के सबंध में मैंने काफो लम्बा व्याख्यान दिया था और दिन मैं सुधी के साथ नीचे जाकर चाय पीता था। जब आज मैंने उससे पीने को न कहा और स्वय पीने लगा, तो वह बोलो—'कमलिनो के सबध को लेकर जो मैंने तुम्हे हार्दिक कष्ट पहुँचाया है उसके लिये मैं दुखी हूँ अजय!'

जब मैंने कोई उत्तर न दिया तो वह बोली—'मुझे नहीं मालूम तुम इतनी-सी बात पर तनक उठोगे।'

इतना कहकर वह नीचे चली गई। मैं उठकर दैनिक कामों से निपटकर लाइब्रेरी चला गया। बारह बजे के लगभग लौटा तो चुपके से खाना खाकर फिर अपने कमरे में जाकर पढने लगा।

मैं प्रायः लाइब्रेरी खुलते ही पहुँच जाता और बन्द होने पर घर लौटता। जब आठ बजे के लगभग मैं लौटा तो सुधी बोली—'आर्य-समाज की कन्या-पाठशाला में अध्यापिका की एक जगह खाली है।'

मैंने उत्तर दिया—'तो कर लो। किन्तु आगरे भी तो जाना है? अम्मा-मौसी से तुमने कहा था कि रुपया लेकर आऊँगी।'

पिशी की स्मृति हो आई। जब मैं और वह अंग्रेज लड़की एक दूसरे की बोली न समझते हुए भी अपनी दुनियाँ बसाए जा रहे थे। किन्तु वह समागम क्षणिक था। उसमें बालकपन के साथ की छोटी बातें थीं। किन्तु वह विचार देर तक न रहा। मैंने देखा कि हम दोनों हृदय के उद्गारों को किसी कारण निकालने में असमर्थ होने पर भीतर ही भीतर घुटने का अनुभव कर रहे हैं।

इस समय न तो मुझे किसी तरह का क्रोध ही था न झुँझलाहट फिर भी मैं जैसे उस वातावरण को पुष्ट करने के लिए मौन साधे बैठा था। न जाने सुधी क्या सोच रही थी। इससे पूर्व भी सुधी मौन रही है, दिन दिन भर मुझसे नहीं बोली है, परन्तु मैं उसकी परिस्थिति की विकटता और कार्य के आधिक्य से उत्पन्न उसके मौन को दयाभाव से सहता आया हूँ। इस एक-डेढ मास के अन्तर में उसके ठेस खाते हुए हृदय को सान्त्वना देने के उद्देश्य से चाहे-अनचाहे, भले-बुरे, रुचिकर-अरुचिकर सभी प्रसगों में उसको सुखी करने की चेष्टा करता रहा हूँ। मेरी एकमात्र कामना यही रही है कि वह हृदय की उमगों को कुचलकर अवाछनीय भाग्य की दुरभिसधियों से जो युद्ध करती आ रही है उसमें मेरे सहयोग से कुछ भी रस पुनर्जीवित होकर उसे जीवन की दौड में गतिमान कर सके। किन्तु स्त्री-जनोचित ईर्षा के वहाव में आकर कमलिनी को जो उसने अनायास ही घसीट लाते हुए मुझे आघात पहुँचाया है, उसका यदि हृदय से तिरस्कार न कर सकूँ तो छात्र को दिखाई गई गुरु की भृकुटी तो एक बार अवश्य दिखा दूँ। मुझे याद आती है व्रजमोहन के समय सुधी की विवशता से जो कभी स्मय की एक धारा चमकती दिखाई दे जाती थी उससे मुझे कितना उल्लास होता था और इस प्रसंग को लाने के लिए कितनी बार झूठी-सच्ची चेष्टाएँ भी की हैं। यही सोचता हुआ मैं घास का तिनका दाँतों में दबाकर कभी बहती हुई धार की ओर, और कभी चाँद की ओर देखता रहा। चाँद उस समय कभी बादलों में छिप जाता, कभी निकलकर चमकने लगता। एक बार देर तक बादलों का एक टुकडा आकर चाँद को घेरे रहा तो मैं अँधेरे में उस मौन मूक विचारो की उथल-पुथल में बहती सुधी को देख रहा था। उसके चेहरे पर स्पष्ट छाया न होते हुए भी अधकार के आवरण में उसकी रूपराशि जैसे कमल की तरह प्रसन्न हो रही हो, तब अचानक ही बादलों से चाँद निकल आया और आँखें मलते ही वह बोल उठी—

'बड़ी देर बाद चाँद मुसकराया है ?'

मैंने कहा—'कौन कह सकता है कि बादलों में भी वह मुसकरा नहीं रहा था ! चाँद का काम तो मुसकराना ही है, यह तो उस अँधेरे का दोष है जो सौन्दर्य को नहीं देखने देता। नया चाँद को अपने सौन्दर्य का अभिमान है यही कैसे कहा जा सकता है ?' सुधी बोली।

मैंने कहा—'सुन्दर को अभिमान खरीदने दूर नहीं जाना पड़ता। वह तो उसका अपनापन ही है। इसीलिये रूपवती को मानिनी कहा गया है। कुरूप के पास मान कहाँ होता है ?'

वह बोली—'कदाचित् तुम्हारे शास्त्र में सुन्दर कही जाने वाली का तिरस्कार ही उसका मान है ?'

मैंने कहा—व्यंग्य का अध्ययन शायद उसी कही जाने वाली ने सबसे अधिक किया है। सुधी कुछ देर स्थिर रहकर एकदम रो उठी। इस अस्त्र के सामने झुकने की इच्छा न होते हुए भी मैं चंचल हो उठा। मैंने बिना कुछ कहे ही रूमाल निकाल कर उसके आँसू पोंछ दिये। वह एकदम मेरी गोद में गिर गई। हृदय समर्पण ही चाहता है। मैं मूक रहकर उसके सिर पर धीरे-धीरे हाथ फेरता रहा। इस निकटता में भी मैं एक दूरी बनाए रखना चाहता था। जिस प्रसंग को वह नहीं आने देना चाहती थी मैं स्वयं उससे बचना चाहता था। किन्तु एक बार डूब जाने पर बिना अत्यन्त प्रयत्न के उभरना कठिन है। विवेक को हाथ से खोकर अन्धकार के रस समुद्र में एक-एक सीढ़ी उतर ही रहा था कि सुधी एकदम उठ बैठी और बोली, देर हो रही है।

मैं वाणी, मन खोकर होठों तक आये अमृत का तिरस्कार बलात् करके उठ बैठा। हृदय की सिहरन, प्राणों का कम्प, स्वप्न की मूर्च्छना, गीत की स्वर-लहरियाँ झकझोरता हुआ चल दिया। घर पर आकर बिना इच्छा के भी दौड़कर अपने कमरे में आ गया और जो किताब सामने पड़ी वही खोलकर पढ़ने लगा। यद्यपि उस पुस्तक के अक्षर तथा पुस्तक का नाम उस रात कतई नहीं पहचान सका। सवेरे देर से उठने पर भी मैंने देखा कि सुधी अभी तक चादर ताने सो रही है। चाय में देरी का विचार करके जैसे ही मैं उसके पास पहुँचा तो देखता हूँ कि वह करवट बदलते हुए जाग रही है। आँखें उसकी

बिलकुल सुर्ख हैं। सिर पर पट्टी बँधी है। मालूम होता था वह रात भर नहीं सोई है। मैं उसकी खाट के सिरहाने बैठ गया।

मुझे देखते ही उसने बलात् हँसी मुँह पर लाते हुए कहा—'मालूम होता है नींद नहीं आई ?'

मैंने कहा—'जो मुझे कहना चाहिए वह तुम कहकर बोझ हलका करना चाहती हो।'

सुधी ने कहा—'दर्द के मारे सिर फटा जा रहा है।'

मैं चुपचाप सिर दबाने लगा। इसी बीच नौकर ने आग जलाई, मैंने चाय का पानी रखवा दिया और उबाल आने पर चाय बनाकर खाट के पास ले आया। हम दोनों ने चाय पी। इसके बाद भी कुछ देर तक मैं बैठा सिर दबाता रहा। वह धीरे-धीरे सो गई। मैं फिर ऊपर जाकर पढ़ने लगा।

इतने में किसी ने द्वार खटखटाया। झाँककर देखा तो डाक्टर साहब हैं। मैंने उन्हें ऊपर बुला लिया।

आते ही वे बोले—'तुम्हारी बहन कहाँ हैं ? उनके लिये पाठशाला में हमने जगह कर ली है।'

मैंने कहा—शायद सिर दर्द से वे बेचैन नीचे पड़ी हैं बुलाऊँ क्या ? इसके साथ ही मैंने नौकर को आवाज लगाई तो बोले—'चलो, मैं नीचे चलकर स्वयं उन्हे देखे लेता हूँ। आजकल दिन अच्छे नहीं हैं, जरा परहेज से रहना चाहिये।' इसके साथ ही वे उठ खड़े हुए।

नीचे सुधी उस समय तक लेटी हुई थी। डाक्टर को देखकर वह उठ बैठी। डाक्टर साहब ने देखकर नौकर के हाथ चिट के द्वारा एक दवा मँगा दी। कुछ लगाने को भी दिया। इसके बाद उन्होंने कहा—'कल से पढ़ाना प्रारम्भ कर दीजिये। हम लोग प्रारम्भ में ५०) रुपये से अधिक नहीं दे सकते। इससे पूर्व जो अध्यापिका पढ़ाती थी उसे तीस ही रुपए दिये जाते थे।'

मैंने उत्सुकतावश पूछा—'आपको कैसे मालूम हुआ कि सुधी नौकरी करना चाहती हैं।'

डाक्टर ने उत्तर दिया—'इनकी एक सहेली से। बातों-बातों मे उसने यह भी बताया कि ये मैट्रिक पास हैं। पति के वियोग को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि इनका ध्यान किसी दूसरी तरफ आकृष्ट किया जाय। फिर

इन्होंने उससे इच्छा भी प्रकट की थी। मेरी धर्मपत्नी के पास वह आती-जाती हैं। वह भी पाठशाला में दिलचस्पी रखती हैं। इस प्रकार मुझे यह जानने में कोई सन्देह न रहा कि आपकी बहन को नौकरी करनी ही चाहिये।'

मैंने कहा—'धन्यवाद।'

सुधी ने हमारी बातचीत में कोई भाग नही लिया। वह चुपचाप बैठी सुनती रही। डाक्टर के जाने पर सुधी बोली—'शायद पढ़ाने से मेरे मन को कुछ सन्तोष हो सके।'

मैंने उत्तर दिया—'अवश्य। किन्तु विधवा स्त्री का बच्चों के पढ़ाने देने के मैं बिलकुल पक्ष में नहीं हूँ। फिर भी तुम्हारे लिये वह बात लागू नहीं होती।'

उसने आश्चर्य से पूछा—'क्यों?'

मैंने उत्तर दिया—'यह प्रश्न मनोविज्ञान का है जीवन मे सब तरफ से निराश, बूढ़ी, प्रेम और रस के सब द्वार जिसके लिये बन्द हो गये हैं, ऐसी स्त्री छोटे बच्चों को ठीक-ठीक शिक्षा नहीं दे सकती। शिक्षा को मैं जीवन मे सबसे बडी महान् वस्तु समझता हूँ। उसी पर सब कुछ निर्भर रहता है, साधारण बूढ़े स्त्री-पुरुष तो किसी भी काम के नहीं हैं? मैं कभी-कभी सोचता हूँ ऐसे पुरुषों का जीवन मे क्या उपयोग हो सकता है सुधी? वृद्ध स्त्री-पुरुषों का भविष्य अंधकारपूर्ण होता है इसीलिये कदाचित् वे भूत की तरफ देखते हैं।

सुधी ने कहा—'तब तो फिर ये भिखारी, लूले, लँगडे, अपाहिज, कोढी भी समाज के लिये निकम्मे हैं?'

मैंने हँसकर उत्तर देते हुए कहा—'हाँ, यदि समाज को इनसे कुछ भी लाभ नहीं है तो इनका जीवित रहना व्यर्थ है। आखिर जीवन का उद्देश्य यही तो है कि वह जीवित रहकर समाज को लाभ पहुँचावे। देश को लाभ पहुँचावे। मनुष्य-जाति को लाभ पहुँचावे। अपने को लाभ पहुँचावे।'

सुधी ने तकिये के सहारे लेटे-लेटे कहा—'तो सरकार इनको मार क्यों नहीं देती, उलटे मारनेवालों को फाँसी पर क्यो चढा देती है?'

मैंने कहा—'सरकार हमारी नहीं है। विदेशी सरकार को क्या पड़ी है कि इनकी स्थिति में सुधार करे। फिर भी हम प्रश्न से दूर चले जा रहे हैं। यहाँ प्रश्न बूढ़ों का है। उन्हीं के संबध मे मैं कह रहा था। बूढों से एक ही लाभ है कि जीवन के अनुभव से वे हमे कुछ शिक्षा दे सकें। प्रायः सब काम जवानों

ने किये हैं। जहाँ तक क्रियात्मक कार्यों का प्रश्न है वहाँ युवा पुरुषों और स्त्रियों ने ही सब कुछ किया है। विचारक प्रायः बूढ़े हुए हैं। बुढ़ापे में विचार-शक्ति गम्भीर, स्थिर हो जाती है। इसलिये राजनीति में, समाजनीति में, क़ानून में बूढ़ों का उपयोग है। किन्तु सब बूढ़ों का नहीं। केवल कुछ लोगों का। युद्ध में बूढ़ों का कोई काम नहीं है किन्तु सेनापति प्रायः बूढ़े ही होते हैं। ऊँची शिक्षा देनेवाले भी बूढ़े ही होते हैं। राज-मन्त्री, न्यायाधीश भी बूढ़े ही लिये जाते हैं।'

सुधी बोली—'तब तो तुम्हारी बात कट जाती है कि बच्चों की शिक्षिका बूढ़ी नहीं होनी चाहिये। वे भी तो अपने अनुभव से बच्चों को ठीक रख सकती हैं?'

मैंने उत्तर दिया—'बच्चों में क्रियात्मक शक्ति अधिक होती है। वे स्वभावत. चंचल होते हैं। उन्हें बूढ़ों की गम्भीर शिक्षा से लाभ की अपेक्षा हानि ही हो सकती है। वे बच्चों को न हँसने देंगे, न खेलने देंगे अतएव इन बातों के अभाव में बच्चों की वृद्धि रुक हो जायगी।'

सुधी—'फिर कुछ बूढ़ों को छोड़कर शेष तो सब व्यर्थ ही हुए। उनको मार देना चाहिये।'

मैंने उत्तर दिया—'आशा तो यही की जाती है कि सब बूढ़े किसी-न-किसी रूप से अपने जीवन के अनुभव द्वारा समाज को, अपने बच्चों को लाभ पहुँचावें। प्रकृति का कोई काम व्यर्थ नहीं है। मनुष्य को जो शैशव मिला है वह उसके विकास का काल है। यौवन ही वस्तुत: जीवन है। उसमें सब शक्तियाँ पुष्ट हो जाती हैं। वह जीवन का क्रियाकाल है और वृद्धत्व विचार-काल। परन्तु होता यह है कि बूढ़े मर्यादावादी, रूढ़िवादी होने के कारण विकासक होने की अपेक्षा विघातक रुकावट डालनेवाले होते हैं।

सुधी—'यौवन में भी तो मनुष्य अंधा हो जाता है। वही कौन कम हानिकारक है।' सुधी ने मेरी जाँघों पर सिर रखते हुए कहा—'कभी-कभी मुझे बड़ा कष्ट होता है अजय। मैं समझ नहीं पाती क्या करूँ? मुझे डर रहता है, न जाने मैं किस समय क्या कर बैठूँ?'

मैंने थोड़ी देर तक सिर पर हाथ फेरकर कहा—'मैं तुम्हारे लिये कुछ किताबें लाऊँगा सुधी। अच्छा, अब मैं जा रहा हूँ।'

सुधी बोली—'थोड़ी देर और बैठो। तुम्हारे सिर पर हाथ फेरने से मुझे न जाने कितना सुख मिलता है। रात जब सिर में दर्द हो रहा था तो एक बार इच्छा हुई तुम्हे जगाऊँ। किन्तु सकोच और तुम्हारी भरी पूरी नींद को देखकर साहस न हुआ।'

मैंने प्रश्न किया—'तो क्या तुम ऊपर गई थीं ?'

सुधी बोली—'हाँ, एक घटे तक तुम्हारे पैरों के पास बैठी तुम्हे देखती रही थी। उस समय तुम खूब गहरी नींद में सो रहे थे। मुख पर न चिन्ता के चिह्न थे, न विषाद था, एक मनोहर शान्ति तुम्हारे मुख पर खेल रही थी। मैंने देखा एकाध बार तुम्हारे मुख पर मुसकराहट भी झलकी थी।' इसके साथ ही सुधी ने मेरे कधे पर हाथ रख दिया। नींद भी कितनी मीठी होती है। निरुपाय, निश्छल।

मैंने कहा—'मैंने रात को तुम्हे स्वप्न में देखा था। जानती हो किस रूप में ?'

सुधी ने मेरी आँखो से आँखें मिलाकर कहा—'किस रूप में ?'

मैंने कहा—'अब नहीं बताऊँगा।'

सुधी ने कहा—'नहीं, बताओ। किस रूप में देखा था ?'

मैंने एकदम उठकर दरवाजे के पास जाते-जाते कहा—'जीवन संगिनी।' इसके साथ ही मैं बाहर निकल गया। पीछे से मैंने सुना—'सुनो अजय' कहकर सुधी मुझे बुला रही थी। लाइब्रेरी से मैंने कुछ पुस्तकें सुधी के लिये ली और कुछ अपने लिये लेकर दवा का प्रभाव बताने के लिये डाक्टर के पास जा बैठा। डाक्टर के पास उस समय कोई रोगी नहीं था। वे खाली बैठे थे। मेरी किताबें देखकर उन्हे उलट-पुलटकर देखने लगे। इसके बाद बोले—'अमुक मनुष्य क्या पढता है इससे भी उसके चरित्र के सबन्ध में जाना जा सकता है।'

मैंने कहा—'मेरे संबन्ध में बताइये।'

हँसकर डाक्टर साहब ने कहा—'आप तो मस्त मौला आदमी हैं। न कपडों का ध्यान है न वेशभूषा का। आपको तो कवि या लेखक बनना चाहिये। साहित्य सबन्धी पुस्तकों को देखकर भी मेरी धारणा पुष्ट हो रही है, कहिये ठीक है ?'

मैंने जेब से रूमाल निकालकर पसीने की बूँदें पोंछते हुए कहा—'किन्तु मैंने तो जीवन में आज तक एक भी पंक्ति नहीं लिखी। हाँ, कविता मुझे प्रिय अवश्य है। इधर मैंने हिन्दी-संस्कृत की सभी कविता-पुस्तकें पढ डाली हैं अब अंग्रेजी की पढ़ूँगा। शेक्सपियर पहले समाप्त करने की सोच रहा हूँ।'

डाक्टर ने कहा—'वस्तुतः शेक्सपियर तो 'ट्रेजडीज' के लिए प्रसिद्ध है। मैंने कहा क्रम-विकास जानने के लिये यह आवश्यक है कि उनकी प्रारम्भिक और सरल कृतियाँ पढी जायें। वैसे उपन्यासकारों में हार्डी पसन्द है। इधर मैं उसकी सब चीजें पढ चुका हूँ।'

डाक्टर ने स्टेथिस्कोप को हिलाते हुए पूछा—'और हिन्दी में? मैं तो चाहता हूँ लोग हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करें। यही भारत की भावी भाषा (राष्ट्रभाषा) होगी। आपने सूर तुलसी पढा?'

मैंने उत्तर दिया—'तुलसीदास की रामायण का तो बचपन में ही न जाने कितनी बार पाठ कर चुका हूँ। बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। सूरदास नहीं पढा। वैसे जितना कुछ शिक्षा प्राप्त करते हुए पढ़ सका, पढा है।'

डाक्टर ने कहा—'मैं सूरदास को तुलसीदास से भी बडा मानता हूँ। डाक्टर होते हुए भी मैं नियम से रामायण और सूरसागर पढता हूँ। मेरी स्त्री को उपन्यासों से प्रेम है। जिस पुस्तकालय से आप पुस्तकें लाते हैं उसमें उन्होंने सौ रुपया केवल उपन्यासों के लिये ही पिछले वर्ष दिया है। वह तो मेरे कहने से कविता, नाटक बढा दिये गये हैं।'

मैंने कहा—'फिर भी उसमें अभी बहुत कम पुस्तकें हैं।'

इतने में एक रोगी ने भीतर प्रवेश किया। मैं सुधी के सम्बन्ध में दो एक बातें पूछकर चल दिया। घर मे घुसते ही रसोईघर में बुलाकर सुधी ने समाचार दिया कि डाक्टर साहब की पत्नी आ रही हैं।'

मैंने पूछा—'क्या अकेली?'

सुधी ने कहा—'शायद डाक्टर साहब भी होंगे। उन्होंने कम्पाउण्डर भेजकर पुछवाया भी था कि कैसा दर्द है?'

मैंने कहा—'मैं भी वहीं से आ रहा हूँ। इतना कहने के साथ ही मैं अपने कमरे में चला गया। उस दिन डाक्टर और उनकी पत्नी यथासमय आईं और काफी देर बैठी रहीं। डाक्टर बडा हँसमुख, स्वस्थ, अधेड उम्र का किन्तु

उसकी पत्नी फूल से भी हल्की कोमल प्रकृति की कोई पच्चीस वर्ष की। बातें करती हो ऐसा ज्ञात होता मानो किसी ने सितार का एक तार छू दिया हो। आँखों पर बिना फ्रेम का चश्मा, गोरा शरीर सफेद चिकन की धोती पहने वह आई। सुधी ने कुछ खाने पीने का प्रबन्ध कर रखा था। दो घटे तक बैठे रहे। दोनों स्त्री-पुरुष आपस में ही एक दूसरे से हँसी मजाक करते। सकोच और लज्जा तो नाम को भी नही। उनकी स्त्री ने आते ही पहले तो घर की आलोचना की फिर सुधी को देखकर शोक प्रकट किया। इसके बाद पति की ओर देखते हुए कहा कि डाक्टरों की परिष्कृत रुचि नही होती। चीर-फाड करते-करते उनकी रुचि विकृत हो जाती है। इस पर डाक्टर ने उपन्यासों में मस्त रहकर घर का ध्यान न रखनेवाली पत्नियों का चित्र खीचा। खूब वादविवाद हुआ। उसमें सुधी ने उनकी पत्नी का और मैंने डाक्टर का पक्ष लिया। एक बार सुधी की किसी बात पर डाक्टर ने उसका पक्ष ले लिया और मैंने उनकी स्त्री का। काफी देर झडप होती रही।

जब किसी रोगी को देखने की पुकार आने पर डाक्टर चले गये तब भी उनकी स्त्री बैठी रही। इसके बाद कभी वे सुधी को बुला लेती, कभी स्वय आ जातीं। उसके दूसरे दिन से सुधी पाठशाला जाने लगी थी। कुछ बच्चों मे रहने और काम में लगे रहने के कारण उसका स्वास्थ्य भी ठीक हो चला था। शाम को हम दोनों नियम से सैर को जाते और दस-ग्यारह के लगभग लौटते। डाक्टर तथा दो-एक मुहल्लेवालों को छोडकर शेष सब हमें पति-पत्नी समझते। किन्तु हममें से किसी ने भी किसी प्रकार के सम्बन्ध की घोषणा नहीं की थी। इधर मैंने दो-एक बार प्रसग आने पर देखा कि सुधी को भाई का सम्बन्ध ग्राह्य नहीं है। किन्तु उसका प्रतिरोध करने की सामर्थ्य उसमें नही थी। मैं स्वय चुप था। कभी-कभी सोचता क्या कोई सम्बन्ध 'डिक्लेयर' किये बिना नहीं रहा जा सकता। शायद स्वतत्रताप्रिय देश योरोप मे भी ऐसा नियम नहीं है। किन्तु हम दोनों खूब सचेत होकर रहते थे। जीवन मे दो मुसाफिरों के एक सराय मे मिल जाने की तरह हमारा सम्बन्ध था। सुधी भी यह जानती थी। मैं कभी-कभी बहुत विचलित हो जाता तब अकेला घूमने निकल जाता अथवा कोई अच्छी किताब लेकर पढ़ने लगता। उस दिन उपवास करता। इसीलिये उपन्यास पढ़ना मैंने छोड दिया था। कविता पढ़ना भी छोड चुका था। प्रायः

इतिहास की पुस्तकें पढा करता। इस बीच में मैंने प्रायः सभी देशो का इतिहास थोडा-बहुत पढ डाला। सुधी के सामने व्रजमोहन का चित्र रहता। वह अव्यवस्थित होने पर उसे लेकर बैठ जाती। उसने भी इन पिछले दिनों में काफी साहित्य पढ़ डाला था। हम दोनों प्रायः जीवन के सम्बन्ध में, अपनी परिस्थिति के सम्बन्ध में विवेचन करते। इधर वह शाम को मन्दिर में जाने लगी थी। जप पाठ-पूजा में उसका मन लगने लगा था। पहले वह बिना नहाये चाय पीती थी अब वह भी उसने बन्द कर दिया था। जब एक दिन बाहर से किसी गोस्वामी के आने पर दीक्षा लेने की बात उसने मुझसे की तो, मैंने बडा विरोध किया। तब उसने दीक्षा तो नहीं ली किन्तु उसके विश्वास को बहुत धक्का लगा और वह दो दिन तक मुझसे रूठी रही।

दूसरे दिन रात को थियेटर हॉल में शकुन्तला नाटक होनेवाला था। मैं चाहता था कि सुधी थियेटर देखने जाय। किन्तु वह उसके मन्दिर जाने का समय था, इसके बाद रात को ग्यारह बजे तक कथा सुनती, इसलिये मेरे बहुत आग्रह करने पर उसने जाना स्वीकार न किया। अन्त में डाक्टर, मैं और उनकी पत्नी जाने को तैयार हुए। तय हुआ कि रात को आठ बजे चला जायगा। इस प्रसन्नता में उनकी पत्नी ने शाम को भोजन का निमन्त्रण भी हमें दिया कि खाना खाकर हम लोग सीधे खेल देखने जायेंगे। भोजन तक तो सुधी हमारे साथ रही। उसके बाद जैसे ही नौकर के साथ वह जाने को तैयार हुई कि डाक्टर ने दवाखाने से लौटकर सूचना दी कि वह एक बहुत बडे बीमार को देखने पास के एक गाँव में जा रहे हैं। रात को नहीं लौटेंगे। इसके साथ ही उन्होंने हम दोनो को खेल देखने जाने का आदेश दिया। मैं बडे सकोच में पड गया। डाक्टर जल्दी-जल्दी में आग्रह करके घर से बाहर निकल गये। अन्त में हम दोनों को ही खेल देखने जाना पडा। खेल अच्छा था। शकुन्तला के परित्याग का दुख आते ही डाक्टर-पत्नी ने मेरे कधे पर सिर रखकर आँसू बहाना प्रारम्भ कर दिया। कुछ देर बाद वे स्वस्थ हो गई। खेल देखकर लौटते हमें एक बज गया था। मैं जैसे ही उन्हें घर पहुँचाकर लौटा तो देखा सुधी द्वार पर मेरी प्रतीक्षा कर रही है। उसने बताया कि कथा में आज बिलकुल रौनक़ नहीं थी। सब लोग खेल देखने गए थे।

दूसरे दिन दो बजे के लगभग शोभा डाक्टर की पत्नी जब मैं कमरे में पढ़

से सुधी की वेशभूषा में भी अन्तर आ गया था। वह प्रायः सादी धोती पहनती। बाल बाँधती तो एक जूडा। गले में माला तुलसी की पहनने लगी थी। माथे में कभी चन्दन का टीका लगाती। उसकी वेशभूषा में न तो सौन्दर्य को उभारनेवाला कोई तत्त्व था, न वह इस मामलों मे सतर्क थी। इधर व्रत, उपवास, पूजा-पाठ में लगी रहने के कारण उसका सौन्दर्य एकदम तिरोहित भी हो गया था। कभी-कभी मुझे लगता कि सचमुच ही जैसे सुधी मेरी बहन हो। यही कारण है डाक्टर और उनकी पत्नी को किसी प्रकार का कभी सदेह ही नहीं हुआ। परन्तु जब एकदम उसमें परिवर्तन हुआ तो मैं ही नही शोभा भी चकित हो गई। इन दिनों उसने नियम से वेणी बाँधना। अच्छी धोतियाँ और कभी-कभी साड़ी पहनना शुरू कर दिया। माला उतार फेंकी। जिस दिन शोभा को उसने हरिद्वार जाने का निश्चय सुनाया उस दिन वह सफेद रेशमी साड़ी और सफेद रेशमी ब्लाउज पहने थी, गले में वह हार भी था जो ब्रजमोहन ने मरने से पहले खरीदा था। दो दिन पहले मुझे साथ ले जाकर एक सुन्दर सैण्डल भी खरीद लिया था, वह भी उस समय पहने थी।

उसे इस रूप में देखकर शोभा ने कहा—'सुधी बहन, मुझे यह देखकर बहुत प्रसन्नता हुई कि तुममें से दकियानूसीपन दूर हो रहा है! स्त्री को एकदम अपने को इतना गिरा नहीं देना चाहिये।' इस पर सुधी ने सकोच किन्तु हठता से जीवन के सम्बन्ध में एक हलका सा व्याख्यान देते हुए कहा—'सयम और शुद्धि हृदय की वस्तु है। बाहर से उसका कोई सम्बन्ध न होना चाहिए। जब जीवन का पहाड काटना ही है तो रोकर काटने की अपेक्षा हँसकर ही क्यों न पार किया जाय।' उस दिन शाम को हम लोग नहर के किनारे किनारे घूमते रहे। मैंने उस समय लक्ष्य किया जैसे सुधी को ईर्ष्या ही नहीं, शोभा से घृणा भी है। जब वह कोई व्यग्य की बात शोभा से कह देती तो मुझे मालूम होता वह आवेश में आ गई है। तब केवल सान्त्वना के रूप में केवल इसलिये कि इसे किसी प्रकार का भ्रम न हो, मैं शोभा का पक्ष ले लेता। शोभा के व्यवहार में सुधी के प्रति कोई असभ्यता न थी। वह बहन कहकर ही पुकारती। किन्तु उस दिन जब अनावश्यक और अनाहूत वाक्य उसने शोभा पर छोड़े तो मैंने सुधी को हलकी सी फटकार लगाई। तथा शोभा से उसकी असभ्यता के लिये क्षमा भी माँगी। फिर भी सुधी ने अपने को न सँभाला

और वह बोलती ही चली गई। अन्त में मुझे सैर की यात्रा एकदम भंग कर देनी पड़ी और घर लौट आया।

उनके इस अप्रत्याशित व्यवहार से शोभा भी हैरान थी। अन्त में घर जाते हुए उसने कहा—'कदाचित् बहन सुधी की तबियत आज कुछ अधिक खराब है।' इतना कहकर वह उदास मुँह लिये चली गई। घर में आते ही सुधी ने कमरे की किवाड बन्द कर लीं और जोर-जोर से रोना प्रारम्भ कर दिया। जब मैंने नीचे जाकर बार-बार कहा तो उसने कठिनाई से किवाड़ खोले। इसके साथ ही वह तकिये पर सिर रखकर रोने लगी। यह रोना उस दिन के रोने से किसी प्रकार कम न था जिस दिन मैं नानी के पास से लौटा था। मेरे बहुत सान्त्वना देने पर जब वह चुप हुई तो मुझे शोभा का पक्ष लेने पर फटकारने लगी। और भी बहुत सी बातें उसने कीं। जिनका आशय यह था कि मैं शोभा को चाहने लगा हूँ।

मैंने शोभा का पक्ष लेने का कारण बताते हुए कहा कि वैसा करने से केवल परस्त्री का अपमान ही नहीं उसें यह सदेह भी होता कि हमारा परस्पर का व्यवहार ठीक नहीं है। इतने पर भी मेरा मन कह रहा था कि यह पूरी सचाई नहीं है। वह मेरे लिये सचमुच एक भयानक रात्रि थी। जब मैं ऊपर लौटा तो आधी से अधिक रात जा चुकी थी। जीवन में ऐसे प्रसंग भी कभी-कभी आ जाते हैं। जब मनुष्य को विवशता आकर दबा लेती है, वह दूर हटने का यत्न करते हुए भी उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाता। उसी रात को सुधी ने मुझसे प्रस्ताव किया कि हम लोगों को विवाह-बधन में बँध जाना चाहिये। प्रस्ताव जितना सगत था उतना ही विकट भी। किन्तु मैं ऐसे विवाह का पक्षपाती होते हुए भी 'फिर विचार करेंगे' कहकर टाल दिया। उस समय मुझे आश्चर्य हुआ कि एक बार विवाद चल पड़ने पर मेरे डाक्टर साहब के सलाह देने पर सुधी तिरस्कार करती हुई उठकर चली गई थी। वही आज यह प्रस्ताव कर रही थी। सान्त्वना देकर मैं ऊपर आकर घोर चिन्ता में पड गया। उस रात को मुझे बिलकुल नींद न आई।

मैं सोच रहा था—मैं जो सुधी के पास इतने दिनों से रहता आया हूँ उसमें पवित्रता की ही तो मैंने रक्षा की है। मैंने उसे किसी प्रकार का धोखा तो नहीं दिया। कोई विश्वासघात तो नहीं किया। फुसलाकर उसके आत्म-

सम्मान, व्यक्तित्व को समाज के सामने खतरे में नहीं डाला ? उसके साथ ही एक विचार आया कि ठीक है प्रगट होने पर मैं किस मुँह से सुधी और अपने आपको समाज के आरोपों से बचा सकता हूँ। समाज के विधान को तोड़ने का दण्ड तो मुझे और सुधी को भोगना ही पड़ेगा ? कौन मानेगा कि हम दोनो एक मकान में रात दिन एक साथ रहकर भी अकलुष रहे होंगे ? निष्पाप रहे होंगे। उस समय समाज यह नहीं देखेगा कि मैंने और सुधी ने कितना कष्ट सहकर कितना घमासान युद्ध करके अपने को सुरक्षित रखा है ? मैं मानता हूँ यह कोरा आदर्शवाद है। इसमें मुझे विश्वास जरा भी नहीं है। फिर भी कैसे एक स्त्री-पुरुष परस्पर पास रहते हुए भी निष्पाप रह सकते हैं यह प्रयोग ही नहीं। इस प्रयोग के लिये मैं कितनी रातों सोया नहीं हूँ। रात-रातभर कमरे के बाहर आँगन में घूमकर तर्क-वितर्क करके मैंने अपनी रक्षा की है। सुधी की रक्षा में तो सबसे बड़ा हाथ ब्रजमोहन के चित्र का है। उस चित्र ने सुधी की रक्षा की है। स्वय सुधी ने मुझसे कहा है जब जब और प्रकार का विचार मेरे मन में आया है तो उस चित्र ने न जाने व्यग्य से, या परिहास से, अथवा तिरस्कार से मेरी ओर देखकर मुझे गिरने से बचाया है ? फिर क्या कारण है सुधी ने एकदम मार्ग परिवर्तन करने का बिगुल बजा दिया। मैंने सोचा और समझा—'यह भी मेरा ही दोष है। शोभा बीच में न आ पड़ती तो हमारा जीवन न जाने कब तक इस प्रकार चला जाता। न व्यवधान पडता, न सुधी शोभा और मेरे दोनों किवाडों को तोडकर फिर घुसने का प्रयत्न करती। यह मेरा ही दोष है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सुधी किसी तरह मुझे भाई का पद देने को तैयार नहीं है। यह नारी सुलभ कमज़ोरी है, कमजोरी ही मनुष्य है। जिस समय इस प्रकार की कमजोरी दूर हो जायगी। उस दिन मनुष्य मनुष्य नहीं देवता हो जायगा। फिर न ससार में द्वन्द्व होगा, न सघर्ष, फिर रस भी नहीं होगा जो सघर्ष से उत्पन्न होता है। सघर्ष जीवन का सबसे महान् रस है! इसके साथ मुझे मालूम हुआ जैसे एकदम शोभा ने आकर मेरा हाथ पकड़ लिया। गले में हाथ डालकर मुझसे कहा हो—जीवन दो दिन का है। तुम चिन्ता मत करो मैं तुम्हारी हूँ। मेरी आँखें झपक गई थीं, एकदम खुल गईं। मैंने चाहा एक बार फिर आकर शोभा मेरे गले में हाथ डालकर कुछ कहती, पर सुधी के प्रस्ताव के ध्यान ने उस रस को विष बना दिया! मैं आँखें फाड़-फाडकर

आकाश की ओर देखने लगा। उस समय अँधेरा था। उजाला कहीं नही था। मेरे भाग्याकाश की तरह आकाश में तारे भी नहीं रहे थे। केवल कुछ ठडी हवा थी, जो रह-रहकर स्फूर्ति भर जाती और मैं बहुत देर के लिये मूक जड हो गया। फिर मैं कब सो गया, याद नही।

सबेरे जब उठा तो जी भारी था। रात में ठीक से नींद न आने और विभिन्न विचार-तरगों के घटाटोप मे घिरे रहने के कारण मन मे न शान्ति थी न चैन। एक बडी उथल-पुथल, एक घोर बेचैनी मुझे सता रही थी। फिर भी जब सुधी चाय लेकर ऊपर पहुँची तो मैंने अपने को सँभाल लिया। थोडा सा मुसकराकर उसका स्वागत किया, किन्तु भीतर मेरे क्या हो रहा था यह तो या मैं ही जानता था या कोई सर्वान्तर्यामी।

फिर भी रात को ठीक से नींद न आने के कारण चेहरे पर जो बेचैनी थी वह सुधी से छिपी न रही। उसने बैठे-बैठे पूछ ही तो लिया—'रात ठीक नींद नही आई क्या?'

मैंने कहा—'हाँ, जरा देर से सोने के कारण ऐसा है।'

सुधी के मुख पर एक चमक थी, जो मैंने बहुत दिनों से नहीं देखी थी। वह अपेक्षाकृत आज अधिक सतर्क, अधिक हँसमुख दिखाई देती थी। उस दिन की चाय मे मुझे चीनी की शिकायत भी नही हुई। इससे पूर्व प्रायः उसके द्वारा तैयार की हुई चाय मे मुझे चीनी की शिकायत रहती थी। मैंने चाय पीते-पीते सोचा कि जिस जीवन के उपास्वप्न को सुधी देख रही है उसमें जागृति के सत्य का कितना अश है? सुख और दुख के साथ हमारा जो सम्बन्ध है, लगाव है उसकी चाबी भविष्य के अँधेरे में है। कहा नहीं जा सकता है उसमे उसके परिणामों का कौन-सा फल बँधा है। कभी-कभी जो मनुष्य सोचता है वह नहीं होता और जो नहीं सोचता वह हो जाता है। इस हो जाने और न होने मे कौन से ऐसे कारण हैं जिनसे मनुष्य का जीवन-सूत्र बँधा हुआ है। वस्तुतः सुधी को जीवन के प्रारम्भ मे ही जो एक कडुआ और चरपरा फल मिला उसने आज अधिक वेग से उसे एक नई कल्पना करने के लिये प्रोत्साहित कर दिया। इधर मैं कुछ भी नहीं सोच पा रहा था कि किस विधान से मुझे अपने को बाँधना चाहिये। विधवा-विवाह या ऐसी प्रथाओं में सहानुभूति होते हुए भी मेरे मार्ग में वह कहाँ तक उपादेय हो सकता है, यही मैं सोचने लगा।

कुछ पुराने संस्कारों के कारण रात को सुधी ने जब वह प्रस्ताव किया तो मुझे लगा कि मैं घर, समाज से हीन एक जगल में बसने जा रहा हूँ। जिसके किनारे तीव्र वेग से बहनेवाली एक नदी है। जो उसके किनारो को लहरों के छपाछपी शब्द से तोड़ डालना चाहती है। किन्तु 'रेशनल थिंकिंग' ने मुझे वास्तविक ससार में लाकर उसकी उपयोगिता को समझने और रूढ़ियों के प्रति अविश्वास बना दिया। इधर बडे-बडे आदमियों ने उसके सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये थे, मैंने उन पर अपने विचार प्रकट करते हुए एक बार अनजाने में जब सुधी से कहा था कि विधवा विवाह आज को तुम्हारी-जैसी स्त्रियों के लिये आवश्यक ही नहीं उचित भी है। तब उसने तीव्र अवहेला के साथ इस पर बात करना भी उचित न समझा। मैं नहीं जानता कि विवाह के लिये प्रस्तावित पति के रूप में मैं उसके सामने था या और कोई। किन्तु अपनी मैं कह सकता हूँ कि मेरा उद्देश्य अपने को इस बन्धन में डालने का कदापि नही था।

आज सोचता हूँ कि वह प्रस्ताव 'जो चूल्हा जलावे वही लकड़ी भी लावे' वाले नियम को लेकर मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। एक बात और कहकर आगे बढ़ूँगा वह यह कि उचित होते हुए भी क्या वह जनसाधारण के तिरस्कार, घृणा को सँभाल सकेगी? ससार में बहुत सी बातें भय के कारण नहीं हो पातीं। भय और साहस दोनों सगे भाई हैं। साहस की सन्तान व्यग्य, घृणा, तिरस्कार और कभी-कभी दण्ड भी है किन्तु भय नपुसक है।

वह अभाव की प्रवृत्ति है प्रतिरोध ही उसकी शक्ति है। दुर्बलता भय की माँ है। किन्तु साहस जैसे पुत्र भी उसी ने उत्पन्न किये हैं। फिर भी वह स्त्री के लिये, जो स्वय दुर्बल है, कैसा होगा? जब उसका फल उल्लिखित रूपों में होगा तब उसे किस प्रकार सान्त्वना मिल सकेगी? यह मैं चाय पीते-पीते उसके चेहरे से पढ रहा था। चाय पीने के बाद सुधी नीचे चली गई। मैं फिर पुस्तकों से चिपट गया। इतने में शोभा के नौकर ने संदेश दिया कि लाइब्रेरी जाने से पूर्व एक बार उससे मिल लूँ।

थोड़ी देर बाद जब मैं शोभा के कमरे में पहुँचा तो देखा वह एक चित्र बना रही है। वह पेन्सिल स्केच था। मैं सामने कुर्सी पर बैठ गया। शोभा चित्रकला में इतनी निपुण है यह मैंने उस दिन ही जाना। इससे पूर्व हम लोग (मैं और सुधी) बाहर की बैठक मे बैठते थे। आज नौकर मुझे उसके

ड्राइङ्ग रूम में ले गया। एक आयल पेन्टिंग डाक्टर साहब का लटक रहा था। जिसे उसने विवाह से पूर्व उनके चित्र को देखकर बनाया था। और भी कई चित्र थे। जब वह कुछ भाग उस चित्र का ठीक कर चुकी तब उसने मुस्कराते हुए कहा—'जानते हो यह किसका चित्र है?' मैं उस समय तक उसकी चित्र-शाला देख रहा था। इसलिये बहुत ध्यान नहीं दिया था। 'यह तुम्हारा पेन्सिल स्केच बनाया है। जरा ठीक तरह से बैठो तो मैं मिलान कर लूँ।' इतना आदेश देकर वह अपने ध्यान में लग गई। कभी वह मुझे देखती कभी चित्र को। मैं केवल उसको देख रहा था। उस दिन वह कत्थई रंग की मदरासी साड़ी तथा उसी रंग की मदरासी अँगिया पहने थी जो आधी बाहें ढके हुए थी। किनारे पर हरे रंग का फीता था। पतले और सुते लम्बे हाथ, पतली उँगलियों में पेन्सिल, पूरी खुली सीधी बाँहें जिसमें सोने की दो चूड़ियाँ। बाल हवा से बिखरकर बार बार मुँह पर आते और बार-बार वह उन्हें ऊपर कर देती। इसके साथ हाथ उठाने पर उसके स्तनों का उन्नत भाग चमक जाता था। पतले लम्बे गौर मुख पर आ पड़नेवाले बालों से उसका रूप और भी चमक रहा था। इधर सिर पर से साड़ी खिसक जाने के कारण गले और कुछ पीठ का भाग उघड़ जाता। इससे वह और भी सुन्दरी मालूम देती थी। तन्मयता लापरवाही के समय का यह सौन्दर्य मैं बराबर पान करता रहा। इससे पूर्व भी शोभा को मैंने कई बार देखा पर इस समय तो वह कल्पना की तरह मधुर हो गई थी। जब तन्मयता से वह अपने को निहारते हुए मुझे देखती तो साड़ी का पल्ला खिसकाकर जरा-सा मुस्करा देती और 'बस, थोड़ी देर और' कहकर रबड़ पेन्सिल का संसार बनाने लगती। एक बार उसने मुझे चित्र देखने के लिये कहा और जैसे ही मैं झुका तो उसके लहराते बाल मेरे माथे से आकर वरदान की तरह छू गये। इसके साथ ही उसने कलम रोककर पूछा—'कैसी है?'

मैंने उत्तर देते हुए कहा—'पूर्णता अपूर्ण का निर्माण कर रही है।'

उसने बात को न समझते हुए कहा—'अर्थात्!'

मैंने उत्तर दिया—'तुम्हारे कारण मेरा यह चित्र मुझसे अधिक सुन्दर हो गया है।'

उसने हँसकर कहा—'तुम इसे प्रशंसा समझते होगे, किन्तु यह तो चित्रकार का अधूरापन है। सच बताओ।'

मैंने कहा, ठीक है। उसने बताया, रात को डाक्टर साहब और मेरे बीच झगडा हो गया। मैं कह रही थी कि मैं केवल एक बार देखकर चित्र बना सकती हूँ। वे इसे असभव मान रहे थे। तब उन्होंने कहा, अच्छा सुधी का चित्र बनाओ। किन्तु सुधी का चित्र बनाना प्रारम्भ करके तुम्हारा चित्र बना डाला।

मैंने पूछा—'सचमुच यथार्थ चित्र है। मैं अपना रूप इतने दिनों से देखता आया हूँ पर अब भी ठीक-ठीक याद नहीं है। तुमने केवल स्मृति के द्वारा कैसे बना लिया ?'

इस पर वह बोली—'पेन्सिल ड्राइङ्ग में स्मृति से काम चल जाता है। इससे पूर्व यह माथे की उठान, नाक का नुकीलापन अब ठीक किया है।' इसके साथ ही उसने कहा रोमेण्टिक चित्र को छोडकर शेष चित्र जितने यथार्थ होंगे उतनी ही उनकी विशेषता है। यदि मैं साधारण मनुष्य का चित्र बनाती तो ये सब बाते बदल जातीं।

मैंने कहा—'तुमने अच्छा नहीं किया शोभा, डाक्टर साहब क्या कहेंगे ? मै भी क्या किसी रमणी के द्वारा चित्र बनाने योग्य हूँ।'

तब शोभा ने फिर एक बार चित्र और एक बार मेरी ओर देखकर कहा—'कला किसी के आदेश का पालन नहीं कर सकती ? अजय, मुझे आश्चर्य है तुम अभी तक मेरी प्रकृति को नहीं समझ पाये।'

मैं बोला—'मैं केवल मनुष्य की ईर्षागत कमजोरी की ओर सकेत कर रहा हूँ। सुधी का चित्र न बनाकर तुमने मेरा चित्र बना डाला, इस पर डाक्टर साहब...।'

वह बीच ही में बात काटकर बोली—'डाक्टर साहब, ऐसे व्यक्ति नहीं हैं। इसके अतिरिक्त मैं स्त्री जाति की स्वतत्रता की पक्षपातिनी हूँ। जो दोष वह मेरे ऊपर लगा सकते हैं वही दोष सुधी का चित्र बनवाने के कारण उन पर भी लग सकता है। मैं मानती हूँ हृदय को साफ रखकर मैं किसी से भी मिल सकती हूँ। उसके पास बैठ सकती हूँ। तुम्हारे साथ मैं इतनी बार घूमने गई हूँ। तुम्हारा हाथ भी मैंने पकडा है, तुम्हारे साथ सेक्स सम्बन्धी वादविवाद किये हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि मैंने किसी तरह भी डाक्टर साहब को धोखा दिया है। जीवन में हमारे सम्बन्ध हैं किसी से मित्र का किसी से पति का। मित्र कभी

पति नहीं हो सकता। पति मित्र नह भी हो सकता। पति का भी स्त्री की कुछ वस्तुओं पर ही अधिकार है सब पर नह । इस तरह मित्र का भी अधिकार सीमित है। हम भी तो पति की कुछ बातों से ही सम्बन्ध रखती हैं। इसी स्त्री-पुरुष की समानता से हमारा जीवन आनद से चल रहा है।

मैंने जिज्ञासा के साथ कहा—'किन्तु यह व्यवहार दम्पति का योरोप में सभव है भारतवर्ष में नहीं। यहाँ तो पति ही सब कुछ माना जाता है।'

शोभा ने उत्तर दिया—'मैंने विवाह के समय दो बातें स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में और जोड़ दी थी। मैं चुपचाप उसकी ओर देखता रहा। वह बोली—'वह यह कि एक तो पति-पत्नी समान व्यवहार वाले होंगे। दूसरे हम दोनों के विचारों की स्वतंत्रता हमारी गृहस्थी में बाधक न होगी।'

मैं उस नारी के विचारस्वातन्त्र्य से स्तब्ध था कि इतने में डाक्टर साहब आ गए। मुझे बैठा देखकर मुसकराये और बोले—'देखा सुधी का चित्र।' मैंने कहा—'सुधी का नहीं मेरा चित्र है?'

डाक्टर साहब चित्र की ओर झुकते हुए कहने लगे, शोभा के इस गुण पर मैं मुग्ध हूँ। मैं डाक्टर हूँ। डाक्टर के हृदय नहीं होता किन्तु शोभा ने मुझे हृदय दिया है। हृदय को समझने की शक्ति दी है। चित्रमग्न शोभा उनके आने पर उठकर खड़ी हो गई थी। उसे बैठाते हुए पीठ थपथपाकर उन्होंने दो एक दोष निकाले और शोभा ने उनका उत्तर दिया।

इसके बाद वे किसी मरीज को देखने के लिये बाहर चले गये और कह गए कि वे बाहर जा रहे हैं शाम से पूर्व न लौटेंगे। जब मैं चलने लगा, तो शोभा ने कहा—'देखा डाक्टर साहब का सदेह। वे देवता हैं। मैं मानती हूँ उन्होंने सुधी का चित्र बनाने को साधारण ढग से कह दिया था। अब तुम्हारा चित्र देखकर भी वे चौंके नहीं। गृहस्थी में सदेह उसके नाश का कारण हो जाता है।

मैंने कहा—'हम भारतीय लोग इस प्रकार की बाते सुनने और देखने के आदी नहीं हैं। इसी से मुझे यह भ्रम हुआ था। वैसे मुझे इस पद्धति में कोई दोष नहीं देख पड़ता। फिर भी जब तक दोनों स्त्री-पुरुष एक-से विचारों के न हों उनका निर्वाह नहीं हो सकता।'

शोभा कहने लगी—'कल शाम पत्र आया है। मैं दो तीन दिन मे पिताजी के पास जा रही हूँ। मेरे भाई विलायत से बैरिस्टर होकर लौट रहे हैं।

उन्हीं को देखने। यह चित्र तुम्हारी भेंट है। संभव है तुम भी सुभी के साथ जल्दी ही हरिद्वार से लौट आओ। नहीं तो मैंने सोचा था कि तुम्हारे साथ हरिद्वार चलती, सैर ही सही।'

मैंने उत्तर दिया—'विलायत जाने वाले भाइयों की बहनें ही ऐसे उन्नत विचार रख सकती हैं। सकीर्ण विचारवाले पुरुष तुम्हारे व्यवहार से न जाने क्या समझते होंगे।'

शोभा हँसकर मेरी पीठ पर हाथ मारती हुई कहने लगी—'तुमने तो कुछ नहीं समझा न ? बस, यही ठीक है, नमस्कार।'

मैं चित्र लेकर घर लौट आया। कमरे में किताबों के नीचे रख दिया। पहले सोचा खुला रहने दूँ। किन्तु यह सोचकर जो स्त्री साधारण बोल-चाल को प्रेम करना समझती है वह एक स्त्री द्वारा भेंट किये गये चित्र को देखकर क्या कहेगी। मैंने उसे दबाकर रखना उचित समझा। किन्तु यह मेरी भूल थी। यदि मैं उसे खोलकर रख देता तो मेरी हृदय की शुद्धता ही प्रमाणित होती। इसके साथ ही शोभा के प्रति मेरी भावनाओं में सघर्ष ने जो रूपे विरूप विकसित किया वह एक बालू के पहाड की तरह पानी की बूँद पाकर बैठ गया। जहाँ मुझे इस नारी के जाग्रत चैतन्य से प्रभावित होने पर प्रसन्नता हुई वहाँ अपने ऊपर ग्लानि भी कम नहीं हुई। उसमें मेरा दोष नहीं भारतीय वातावरण, सस्कारों का दोष था। मैंने जिस ढग से, जिस रूप से, जिन बातों से शोभा के अपने प्रति साकेतिक स्नेह की कल्पना की थी उस अवस्था में कोई भी कैसा ही सोचता ? मुझे सूझा कि मैं इस प्रकार की धारणा के कारण कितना गिर गया हूँ। क्यों हम लोग एक स्त्री के हँसने, मुसकराने से ही समझ लेते हैं कि वह वासना पीडित है ? क्या सचमुच किसी के सामने हँसना, बोलता, मुसकराना, चुहलबाजी करना, खाना, पीना, वासना और प्रेम के ही चिह्न हैं ? जब जीवन के साधारण व्यपारों को हम दूसरो के सामने प्रकट कर सकते हैं तो ऊपर कहे हुए इन अनुभावों को ही काम का उद्दीपन क्यों माना जाय ? मुझे मालूम हुआ हमारे साहित्य मे साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, रस गगाधर-कारों ने स्त्री और पुरुष की सामान्य चेष्टाओं को कितना विकृत, कितना कुत्सित रूप दिया है। और इन प्रकारों से स्त्री पुरुष को समझने का हमारा मापदण्ड कितना अपूर्ण है।

इस प्रकार के वातावरण से न केवल हमारा वरन् नारी-समाज वासना का साधन मान लिया गया है अपितु जीवन की विविधता भी, नष्ट हो गई है। जीवन का रस भी सूख गया है। उसकी सीमाएँ सकुन्चित, उसके व्यापार संदेह के स्थल बन गये हैं। इसके साथ ही मैंने शोभा के दिये उस चित्र को फिर एक बार मेज पर रख दिया। यही नहीं, बाजार जाकर उसे फ्रेम में भी मढवा लिया। उस दिन मैंने निश्चय किया कि अपने सुधी के सबंध में लोगों की भ्रान्त धारणाओं को दूर कर दिया जाय। तदनुसार डाक्टर साहब के नाम एक पत्र लिखा। शाम को उनके आते-आते दे आया। किन्तु इतना साहस नहीं था कि बैठकर उस पर उनकी आलोचना-प्रत्यालोचनाएँ सुनता। शाम को सुधी ने जब वह चित्र देखा तो कुछ न बोली। प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं कहा। वह कुछ मन-ही-मन भुनभुनाती रही और एकदम हरिद्वार जाने की तैयारी कर दी। रात को जिस समय हम लोग प्रातःकाल की गाडी से हरिद्वार जाने की तैयारी कर रहे थे। तो एकदम वे दोनों स्त्री-पुरुष धड-धड़ाते चले आये। डाक्टर ने बताया कि यह पत्र उनके लिये नया नहीं है। इससे पूर्व सुधी के पिता का एक पत्र भी वे इस सबंध में प्राप्त कर चुके हैं। जिसमें उन्होंने सुधी का पता, उसका क्रियाकलाप पूछा था। इसके साथ ही वह पत्र उन्होंने मेरे सामने पटक दिया और कहा—'केवल शोभा को यह बात अभी मालूम हुई है। डाक्टर कह रहे थे कि नौकरी मे इस पत्र का ही हाथ है। तुम दोनों के व्यवहार पर मुझे जरा भी संदेह नहीं था। एक बार शोभा ने तुम दोनों की शकल न मिलने पर संदेह किया था किन्तु मैंने बात को बढ़ने न देने के लिये उसे उलटा-सीधा समझा दिया। मैं भाई का सबंध न रहने पर भी मित्र के संबंध में विश्वास करता हूँ। शोभा कह रही थी—'सुधी, अजय तुम्हारे भाई न सही किन्तु जिस तरह तुम्हारे साथ वे रह रहे हैं, वह उनके ही योग्य है। संसार तुम्हारे ऊपर विश्वास करे या न करे तुम्हारा चरित्र शुद्ध है। व्यवहार निष्पाप है। इस प्रकार के भाई का सदा ऋणी रहना चाहिए।'

मैं कह रहा था—'डाक्टर साहब, मैं कमजोर आदमी हूँ।'

सुधी पहले तो यह सब समझी ही नहीं। जब उसे सब बात ज्ञात हुई तो वह कहने लगी—'अजय के ऊपर मैं प्रारंभ से शासन करती आई हूँ। यही

मेरा गुण है कि ये मेरा शासन सदा सिर झुकाकर मानने को तैयार रहे हैं, यही इनका अवगुण है। अजय को सदा से अपना मानती आई हूँ। इधर दो दिन पूर्व मैंने प्रस्ताव किया था कि ससार-की छूटती आँखो से बचने के लिये हम दोनों को विवाह बधन में बँध जाना चाहिये, किन्तु आज आप दोनों के आश्वासन से मेरा विचार बदल गया। मैं समझती हूँ सत्य जीवन का सबसे महान् तप है, रस है। उसी का हमें पालन करना चाहिये। उसमें हमें किसी प्रकार का छल, कपट नहीं करना चाहिये। अजय मेरे भाई रहे हैं और भविष्य में भी रहेंगे। हम दोनों एक दूसरे के प्राण और शरीर होते हुए भी सदा इसी तरह रहेंगे डाक्टर साहब ?'

इतना कहते हुए प्रसन्नता के मारे या क्या उसकी आँखो से टप-टप आँसू गिरने लगे, जिन्हे पोंछते हुए शोभा बोली—'मेरी रानी बहन, तुम धन्य हो।' यह कहकर उसने मेरा चित्र सुधी को देते हुए कहा—'यह तुम्हारे भाई का चित्र है लो, इसे सँभाल कर रखो।'

मैं उस समय भी कुछ किताबें चुनता रहा।

तीसरा अध्याय

१

आज जबकि मैं उस पुरानी कथा को लिख रहा हूँ स्मृति पर दबाव डाल-कर तब मेरे ऊपर आकाश में हवाई जहाज उड़ रहे हैं। चील की तरह पक्ति बाँधे, तमाम आकाश को थर्रा देनेवाले घोषों-गर्जनाओं से अणु-परमाणु को कँपाते हुए। विश्व के कोदण्ड की प्रत्यंचा शत-शत सहस्र सहस्र स्वार्थ के बाण निकलकर मनुष्य का नाश करने जा रहे हैं। तोपों की गडगडाहट, गोलियों की सनसनाहट, बमों का धुआँधार वर्षण मनुष्यों के प्राणों को कँपा रहा है।

समुद्र आज नाश के कोष हो गये हैं। उनकी छाती पर असख्यो प्राणियों के स्वार्थ की तरह जहाज तैर रहे हैं, एक-दूसरे से टकराकर उनको पीस देने के लिये, उन्हें समुद्र के गर्भमें डुबो देने के लिये। तारों की तरह असख्यों प्रकाश स्तम्भ मनुष्य के नाश के अनन्त अन्धकार का आवाहन कर रहे हैं। जीव चकमक पत्थर का खेल हो गया है। लोहा, इस्पात, रबड़, बिजली, बारूद, ना प्राणों के साथ मनुष्य की आशाओं से खेल कर रहे हैं। तेल, पेट्रोलियम द की तरह वर्चस उडेलकर प्राणों को धू-धू करके जला रहे हैं। सब जल रह है। सब नाश हो रहा है। देशों की स्वतन्त्रता छिन रही है। लोग दाने-दा को मोहताज होकर दिन-रात, सप्ताह, मास खाकर अनन्त तिमिर के प्रगा गह्वर में सोते जा रहे हैं। वह न भाई को भूलकर, पति पत्नी को त्यागकर, मां बेटे को छोड़कर वासना के लिये नहीं, भौतिक भूख को बुझाने के लिये नगर देश, प्रान्त छोड़कर भागे जा रहे हैं। कलकत्ते के हावड़ा ब्रिज से लेकर हरिस रोड तक जो छै मील के लगभग लम्बी है, फुटपाथों पर लाखों प्राणी दीन हीन, जर्जर, दुखी, भूखे ककालों के-से भूख से छटपटा-छटपटाकर प्राण रहे हैं। एक-एक दाने के लिये कुत्तों से छीना-झपटी हो रही है। एक-ए रोटी के टुकड़े के लिये मास पर झपटते हुए गिद्धो की तरह चीर-फाड़ कर र हैं। भूख, भूख, भूख सब ओर भूख का, अभाव का, पीड़ा का, तिरस्कार क अनादर का और मनुष्य नामक प्राणी की विवशता का नग्न नृत्य हो रहा है एक ओर सेनाओं का सिंहनाद है दूसरी ओर भूख का चीत्कार! एक ओ बमों की धुआँधार है दूसरी ओर रुदन, क्रन्दन। किन्तु इतने पर भी महलो भुवन मोहिनियों के नर्तन का, उनकी काम-क्रीड़ाओ का प्रदर्शन हो रहा है हास-उल्लास से मुखरित वातायनो से सहस्रों चॉद झाँक कर मुसकराते हैं साबुन, लेवेण्डर, पामेड, क्रीम, इत्रों की खुशबू से बाजारो की नालियो बदबू मिली सुगन्धि के स्रोत उमड़ रहे हैं। एक तरफ लाखों मन अनाज गो मे बन्द गोदामों में पड़ा है और दूसरी ओर एक-एक दाने के लिये प्राणी छ पटाकर प्राण विसर्जन कर रहे हैं? एक जगह अन्न न खाये जाने पर फेंक जाता है दूसरी ओर खाने को नहीं मिलता। एक जगह काम नृत्य है दूस जगह कालनृत्य, एक जगह हास है और दूसरी जगह अग्नि हास, जान नाश

ऐसी विषमता है, ऐसी विभीषिका है।

लोग कहते हैं विचारों का युद्ध है। राजनीति का युग है। यह युद्ध भी संसार के कल्याण के लिये है। दोनों पक्ष सत्य की, न्याय की ईश्वर की इच्छा की दुहाई देकर जननाश, नगरनाश, देशनाश पर उतारू हो रहे हैं। दोनो पक्ष 'हो हो'कर अपने आदमियों को प्रोत्साहन करके होम रहे हैं क्यों, इसलिए कि वे सत्य पर हैं। दोनों पक्ष नरसंहार के रूप में एक दूसरे का रुधिर पीकर उन्मत्त की तरह दहाड़ रहे हैं, एक दूसरे को छल से दबा रहे हैं, क्या? इसलिये कि वे न्याय पर हैं। लाखों प्राणियों को मौत के घाट उतारा जा रहा है, क्यों? इसलिये कि ईश्वर यही चाहता है।

ईश्वर क्या चाहता है, न्याय क्या है, सत्य क्या है—यह तो वे ही जानें, पर हम देखते हैं कि जीवन क्षुद्र हो गया है अतिक्षुद्र, बुलबुले की तरह अस्थिर, साँस के आने की तरह अस्थायी। इस अवस्था में भूत की अपेक्षा वर्तमान अधिक विचारणीय है। भविष्य क्या है, यह तो वह आकर बतावेगा। किन्तु वर्तमान की उपेक्षा नहीं की जा सकती चलने की सडक तोड़ दी गई है। पैरों के तलु दाग दिये गये हैं। सामने आर्डिनेन्स का धुँआ है सो देख नहीं सकते जो सुन पडता है वह स्पष्ट नहीं है उसमें अपने-अपने राग हैं अपनी-अपनी तारीफ। देश के हाथ काटकर धड़ से अलग कर दिये गए हैं। सोचता हूँ कुछ न लिखूँ। क्या होगा सुधी को अपनी कहानी लिखकर। अब प्रेम का जमाना नहीं है। यह शान्ति की बातें हैं। मौज में बैठे हुए नर की कहानियाँ हैं। चाय पीते हुए एक हाथ मे प्याला और दूसरे में किताब लेकर पुरानी कहानियों के पढने का समय नहीं है। आज तो किताबों की जगह अखबार, प्रेम की जगह दृढता, लगन, आत्मविश्वास के साथ देश पर मर मिटने का जमाना है। पतगों की तरह दीपक के ऊपर कुर्बान हो जाने का समय है। पोर्ट आर्थर के किले को फतेह करने के लिये बीच में विशाल खाई होते हुए भी, समुद्र लहराते हुए भी एक-एक करके मनुष्यों से खाई को पाट देने की जरूरत है। ऐसी पुस्तक की आवश्यकता है। मुझसे मेरा मन पूछ रहा है यदि तुम्हारी कहानी में यह है तो दो, लिखो, नहीं तो बन्द करो।

व्यर्थ का कागज—'जो आज कल मँहगा हो रहा है, स्याही, जो मिलनी कठिन है क्यों खराब करते हो?'

बात ठीक है। बे समय की रागिनी, बेमौक़े की कथा और बिना इच्छा

के अमृत भी निष्फल हैं, व्यर्थ है। घर में आग लगने पर कोई भी चुपचाप बैठकर किताब नहीं पढ सकता।

लोगों की चिंघाड़ चीत्कार सुनकर सितार बजा सकना कठिन है। एक कहता है वीरो की प्रेतात्माएँ ऐसी अवस्था मे कहानियाँ पढती हैं। उसके सभासद् महलो में हँसते हैं। कामिनियाँ नाच रही हैं और कहे जानेवाले वार्ड-राजकवि कविताएँ-उपन्यास लिखते हैं।

मैं मानता हूँ मेरी आत्मकथा में ऐसी कोई बात नहीं है। पाठको के प्राणों को सजीवन देकर उन्हे बलिदान के लिये तैयार करने की रामबाण औषध कोई रसायन नही है। मैं तो एक क्षुद्र,-क्षुद्राति क्षुद्र प्राणी हूँ जो नदी में एक लहर के समान है जो काल के तट पर टकराकर समाप्त हो जाती है किन्तु उससे जो दूसरी लहर उठती है वह अपने में अपूर्ण होती हुई भी नदी में एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी अनत लहरों को जन्म देती है। इसी तरह मेरी नहीं, सुधी की जन्मकथा से और रूपान्तर से आये हुए अन्य प्राणियों की कथा से जो कुछ पाठक जान सकें वही जान लेना क्या पर्याप्त नहीं होगा? वैसे पर्याप्त तो कुछ भी नही हैं। जो सैनिक रक्षा करते हुए एक छोटी सी गोली का शिकार होकर मर जाता है वह न तो स्वतन्त्रता और विजय को पास बुला सकता है और न उसके किये कुछ होता ही है, फिर भी उसका महत्व है इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। यह तो समष्टि का युग है। व्यक्ति से समाज बनता है। समाज ही देश है। समाज का समाधान राष्ट्र का समाधान है।

प्रत्येक इकाई में अनेकता छिपी है। प्रत्येक अनेकता में इकाई का महत्त्व है। प्रश्न यह है, जीवन का महत्त्व क्या है? लक्ष्य क्या है? जब हम मर कर समाज को अपने अनुभव की नसीहत दे जाते हैं तो उसमें हमारे लिये क्या रहता है? जो सैनिक लडाई में मर जाता है वह अपने लिये क्या छोड़ जाता है? कर्त्तव्य के ऊपर बलिदान होना, यही तो? तो हुआ न समाज के लिये उसका अस्तित्व। यह समाज का कर्तव्य है कि व्यक्ति के बलिदान के लिए उचित अवसर की खोज करे। आज जो इतना नर-संहार हो रहा है वह क्या व्यक्ति का उचित बलिदान है? नही। वह कुछ स्वार्थी नेताओं का अनुचित प्रोत्साहन है जिसमें सहस्रों मनुष्य बहकाये जाकर मर रहे हैं। यह बुद्धि का

वैभव है जो अपने-अपने स्वार्थों का ससार रचता है। कुछ पूँजीवादी अपने को अधिक मालामाल करने के लिये युद्ध नामक काल देवता का आवाहन करते हैं। उसमें दुहाई दी जाती है न्याय की, सत्य की, ईश्वर की, किन्तु उसके अतरग में होता है स्वार्थ। स्वार्थी कहता है हम शिक्षित बनाते हैं उन्हे ज्ञान देकर। वह कहता है हम तुम भूखो को भोजन देते हैं किन्तु कराता है उनसे मिलों में काम, ताकि थोडी मजदूरी देकर अधिक लाभ उठा सकें। शासन अधिकार देता है, पराधीनों को पराधीन के कुचलने के लिये। उनके लोहे से उनको ही कटवाता है।

उन दिनों १६२१ का सन् था। देश में स्वतत्रता के लिये लगातार आन्दोलन चल रहे थे। जलूसों, प्रदर्शनों के द्वारा नौकरियों के त्याग, शिक्षालयों के छोडने के रूप में हजारों देशवासी उसमें भाग ले रहे थे। आए दिन हडतालें होतीं। आए दिन कालेज बन्द होते। कचहरियों कोर्टों में जज न्यायाधीश मक्खियाँ मारते। सत्याग्रहियों को सजाएँ दी जातीं। देश का वातावरण इतना अशान्त, इतना क्षुब्ध हो उठा था कि प्रत्येक नर को अपने लिये देश के लिये सोचना आवश्यक हो गया था। ऊँचे से नीचे वर्ग तक, छोटे से बडे तक, बालक से वृद्ध तक कुछ-न-कुछ कर डालना चाहते थे। स्वतत्रता का रूप स्पष्ट न होते हुए भी उसकी कल्पना ने मनुष्य को बौखला दिया था। उस दिन हरद्वार में जब गगास्नान करके निकले तो हर की पैढ़ी के पास एक जुलूस सज रहा था। सिपाही उसे रोकना चाहते थे। थानेदार तथा अधिकारी घोडे दौडाते हुए नर-नारियों के वाङ्मय जुलूस को तितर-बितर कर देने को तुले हुए थे। सुधी और मैं एक किनारे खडे होकर देखने लगे। जुलूस भीमगोडे से आ रहा था। एक युवक हाथ में झण्डा लिये 'वन्देमातरम्' के सिंहनाद से लोगों को उत्साहित करता अबाध गति से बढ़ रहा था। उसके पीछे-पीछे असख्य नर-नारी स्वदेश का गीत गाते चले आ रहे थे। उनमें अपूर्व उत्साह, अपूर्व जोश था। पीछे एक गाडी में सुन्दर-असुन्दर सभी प्रकार के विलायती कपडे भरे थे। लोग विलायती टोपियाँ, धोतियाँ, साडियाँ, जम्फर, कुरते, कोट उतार कर गाडी पर फेंक रहे थे। कुछ आदमी 'विदेशी माल बायकाट' 'लकाशायर माचेस्टर मुर्दाबाद' के नारे लगा रहे थे। लोगों में अभूतपूर्व उत्साह बढ़ रहा था। हमारे पास ही एक सजन थे, जो किसी जगह सरकारी नौकर थे। उनकी पत्नी

ने अपनी गीली साड़ी नौकर के हाथ से छीनकर गाड़ी की तरफ फेंक दी। इसके बाद पति का कोट उनकी टोपी भी वह सब नौकर के हाथ में था। नौकर ने अपने सिर की पगडी पैरों से कुचलकर चीथडे-चीथडे करके गाडी के ऊपर डाल दी। धीरे-धीरे पुलिस के सब प्रकार से रोकने पर भी जलूस प्लेट-फार्म पर आ गया। सुधी आगे बढ़ी जा रही थी। उसके पीछे मैं मन्त्रमुग्ध की तरह उस जलूस के पीछे चला जा रहा था। जब गाड़ी में से निकाल कर विलायती कपड़ो का ढेर प्लेट-फार्म पर रखा गया तो मालूम होता था रंग-बिरगा एक छोटा पहाड है। सुधी ने अपनी और मेरी धोतियाँ उसमें फेंक दी थीं। स्वय-सेवक गट्ठर के गट्ठर लाकर उस ढेर पर डालते जाते थे। थोड़ी देर में बनते-बनते वह काफी ऊँचा ढेर हो गया। देखते-देखते वह पहाड़ अग्निमय होकर धू धू करने लगा। गगा के किनारे सायंकाल के समय उस प्रचण्ड अग्नि से ऐसा देख पड़ता था मानों सहस्रा मनुष्यों के उल्लास एकत्र होकर भागीरथी की आरती उतार रहे हैं। सुधी एक घटवालिए के तख्त पर खडी यह दृश्य देख रही थी। उसकी आँखों की टकटकी बार-बार उस प्रचण्ड अग्नि की ओर थी। मैं स्वय नई कल्पना के समान यह दृश्य देख रहा था। जब यह दृश्य समाप्त हुआ तो भारत माता के जयघोष के साथ धीरे-धीरे लोग जाने लगे। किन्तु सुधी फिर भी खडी थी। न जाने क्या सोच रही थी वह। इसके बाद वह बैठ गई। मैंने दो-एक बार चलने को कहा तो भी उसने कोई उत्तर नहीं दिया, न वह हिली ही। ज्ञात होता था आज सुधी के सब अन्तरकपाट एकबारगी ही खुल गए हैं। वह स्वय हैरान थी। उसका हृदय उल्लसित था और विकसित, वह निज को स्वय नही समझ पाती थी। अन्त में मेरा हाथ पकडकर उठी और डेरे पर चलने के लिये कहा। मैं समझता हूँ उस समय मेरा हाथ न पकड़े होती तो अवश्य गिर पड़ती। रास्ते भर हम दोनों मौन उसी दृश्य की कल्पना करते आ रहे थे। मेरे कानो में भारत माता का सहस्रों वर्षों का सुप्त जयघोष गूँज रहा था। उसने आते ही बिस्तर पर लेटकर आँखे मूँद लीं थोडी देर बाद बोली—'मैं नौकरी नहीं करूँगी अजय? मुझसे नौकरी नही हो सकती।'

मैंने सात्वना देते हुए कहा तो देश की पुकार सुनो। उसका काम करो।

हाँ, यही। उठकर उसने फिर कहा—'हाँ यही। यही ठीक है।' उस समय

उसकी आँखे चमक रही थीं। वह स्वप्न से अभिभूत थी। दूसरे दिन प्रातः-काल ही उसने धर्मशाला के लोगों से कपड़ा माँगना प्रारम्भ कर दिया। वह नहाने भी नहीं गई और बिना खाये पीये नहाये, धोये यह काम करती रही। मैं कपड़ों का ढेर धर्मशाला के आँगन में इकट्ठा कर रहा था, वह लाती जाती थी। उसे इस तरह काम करते देखकर धर्मशाला में ठहरी हुई अन्य स्त्रियों ने भी कपडे एकत्र करना प्रारम्भ किया। फिर तीन-चार स्त्रियाँ टोली बना कर दूसरी धर्मशालाओ में भी गईं। वहाँ से कपडे लाकर जमा करने लगीं। धर्मशाला वाले हैरान थे। एकाध बार उन्होंने प्रतिरोध भी किया। किन्तु वे सफल न हो पाये।'

लोगों में इतना उत्साह था कि वे स्वय सदूकों से निकालकर कपडे देने लगे। एक अंग्रेज़ी के विद्यार्थी ने बाजार से अँगोछा लाकर पहन लिया और अपने सब कपड़े दे डाले। पतलून, कमीजे, कोट, कैप, हैट,टाई, कालर सब। दो बजे के लगभग सुधी बहुत-से कपडे लेकर लौटी और अपना सदूक बाहर निकाल लाई। एक-एक करके उसने साड़ी, जम्फर, ब्लाउज, धोतियाँ ढेर में फेकना प्रारम्भ कर दिया। जब उसका सदूक एक तरफ से खाली हो गया तब उसने मेरी ओर देखा। मेरे पास तो कोई सदूक था नहीं दो कुरते थे मलमल के, एक बनियाइन दो धोतियाँ वे ही मैंने उसके ढेर में डाल दीं। उस समय बहुत से लोग हम दोनों का यह दृश्य देख रहे थे। उन्होंने भी यथाशक्ति कपडों का दान किया। शाम को एक गाड़ी आई और उसमे सब कपड़े भर दिये गये और पहले दिन की तरह प्लेटफार्म पर ले गये। धीरे-धीरे लोग लौट रहे थे। कुछ कथा मे बैठ गये। कुछ नहा-धोकर पूजा-पाठ में लग गये। मैं और सुधी ब्रह्मकुण्ड के सामनेवाले छोटे प्लेटफार्म पर जा बैठे। वहाँ उस समय भी स्नान हो रहा था। हम दोनों जिस स्थान पर बैठे थे वहाँ कुछ एकान्त था। इतने मे देखा कि कवि उमेश अलमस्त वेश में चले आ रहे हैं। मैंने देखकर उन्हे अपने पास बुला लिया। पहले तो वे पहचान न सके जब परिचय दिया तब पहचाना। सुधी ने जरा-सी जगह उनके लिए कर दी थी। वे खूब फैलकर बैठे। मैंने सुधी का परिचय दिया। बात यह है कि हम लोग उनसे हरिद्वार आकर बिलकुल न मिल सके थे। इस स्वदेशी पूर्णाहुति में ही लग गये थे। प्रमथेश पूर्व को मुँह किये थोडी देर बैठे रहे। उसके बाद वे गगा की धारा देखते-देखते

गुनगुनाने लगे। सुधी और मैं दोनों चाहते थे कि वे कुछ सुनायें किन्तु कहने का साहस न था। पर उन्होंने स्वयं एक कविता सुनाई। फिर दूसरी। उनके कविता पढते हुए कितनी तन्मयता छा जाती थी और उस समय गंगा की लहरें मूर्त रूप से किनारे तक आकर सुनतीं और चली जाती थीं, ऐसा देख पड़ता था। फिर एकदम चुप्पी छा गई। कवि ने कहा—

'देखो कितने अनन्त वेग से यह सरिता बही चली जा रही है। रुकने का नाम नहीं लेती। कोई रोक भी नहीं सकता। इसी तरह सृष्टि का प्रवाह वर्तमान के किनारों से टकराता हुआ भविष्य में घुसा जा रहा है। अपने साथ हजारों संस्कार लिए हुए, हज़ारों मनुष्यों के सुख-दुख, हर्ष-विषाद, राग-विराग लिये हुए अप्रतिहत गति से चला जा रहा है। इतिहास सृष्टि का भूत है, साहित्य उसका वर्तमान और विज्ञान उसका भविष्य है।'

मैंने पूछा—'विज्ञान भविष्य कैसे?'

कवि ने कहा—संसार का निर्माण विज्ञान के हाथों हुआ है। विज्ञान का अन्त नहीं है। एक के बाद दूसरे आविष्कार होते चले जा रहे हैं। आगे भी होते जायँगे। किन्तु साहित्य तो जीवन की पुनरावृत्ति है?

एक बूढ़े व्यक्ति हमारे पास बैठे थे। वे बोल उठे—'और यह कपडा जलाना क्या है साहब?'

कवि ने कहा—'कांग्रेस के नेताओं ने जो आदेश इस प्रकार का दिया है उसका एक-मात्र उद्देश्य यही कि हम स्वदेश की बनी वस्तुओं का प्रयोग करें। स्वदेश को प्रेम करें। स्वजाति की महत्ता समझें।'

वृद्ध बोले—'कपड़ा जलाने से ही प्रेम होगा। यह बात हमारी समझ में नहीं आई।'

जिन अंग्रेजों ने हमारे साथ इतने सलूक किये हैं। हमें शिक्षा दी है। हमें समझने के योग्य बनाया है उनकी बनाई हुई वस्तुओं से घृणा करके क्या हम कृतघ्न नहीं कहलायेंगे?'

कवि ने उत्तर देते हुए कहा—'आप ठीक कहते हैं। अंग्रेजों ने हमें इतना कुछ दिया है तो हमें उनके प्रति कृतघ्न नहीं होना चाहिये। किन्तु मैं आपसे पूछता हूँ, आज डेढ़ सौ साल से वे हमारे ऊपर शासन कर रहे हैं। अब तक पाँच प्रतिशत व्यक्ति भी शिक्षित नहीं हुए। इतना सुदृढ़ शासन होते

हुए भी हमारे देश से बेकारी दूर नहीं हुई। प्रति वर्ष पचासों व्यक्ति बेकारी के कारण आत्महत्या करते सुने जाते हैं। भूख का इलाज नही हुआ। हजारों-लाखों ऐसे मनुष्य हैं जो एक बार भी भरपेट खाना नहीं खा पाते। उन्होंने हमारे साथ कुछ नहीं किया। वह तो यह है कि चोर या डाकू के चकमा देकर माल उडाते-उडाते घर वाले सचेत हो गये हों, ऐसा है। मैं तो कहता हूँ अंग्रेज जैसी होशियार जाति विश्व में नहीं है। इसने हमारे देश को अपने व्यापार का बाजार बना रखा है। चार सेर रुपये की रुई यहाँ से ले जाते हैं और लंकाशायर या मांचेस्टर से लाकर वही एक रुपये का माल तीस रुपये में बेचा जाता है। एक रुपये में उन्तीस रुपया नफा? ये गाय भैंसो के सींग हड्डी मुफ्त में यहाँ से ले जाते हैं, उनके कंघे तथा अन्य वस्तुएँ बनाकर सैकड़ों रुपया कमाते हैं। मिट्टी के तेल से इत्र, लेवेण्डर, चर्बी से क्रीम। चाक मिट्टी से पाउडर। यहाँ एक भी कारखाना नहीं है। क्या भारत में ये चीजें नही बन सकतीं? जो दस-पाँच मिले हैं उन पर टैक्स इतना अधिक है कि उनका माल विलायती माल से किसी प्रकार भी सस्ता नहीं पडता। अरबों रुपया प्रति वर्ष विदेश चला जाता है।'

वृद्ध बोले—'तो इस लकांकाण्ड से भारत की ग़रीबी तो नहीं दूर होगी। हानि तो भारतीयों की है?'

कवि ने कहा—'इस हानि के पीछे लाभ कितना है? यह घृणा ही उन्हें भविष्य में वहाँ का कपडा न खरीदने को प्रोत्साहित करेगी और वे भारतीय वस्तुएँ लेंगे। रुपया भारत मे रहेगा। काम भारतीयो को प्राप्त होगा।'

मैंने पूछा—'श्रमिकों को उतना कहाँ मिल पाता है वह तो केवल थोडा श्रम पाते हैं। पेट तो भरता है धनिकों का। हमारी दृष्टि से मिलमालिक दोनों एक ही हैं। चाहे वे भारतीय हों या विलायत के। वस्तुतः पूँजीवाद का सत्यानाश होना चाहिये।'

कवि प्रमथेश ने हँसकर कहा—'यह समाजवाद की बातें हैं। मैं स्वयं समाजवादी हूँ। मुझे कांग्रेस की नीति से विरोध है। किन्तु यही सोचकर अभाव में यही ठीक है मैं मानता हूँ।'

वृद्ध बोले—'समाजवाद, समाजवाद तो बड़ी भयंकर वस्तु है साहब? उसमें न अपना मकान, न अपनी घर वाली, न अपनी कोई चीज सब सरकारी।'

मैंने कहा—'यह आपका भ्रम है साहब ? यदि आप समाजवाद की बातें पढ़ें तो आपको सतोष होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।'

वृद्ध ने कहा—'अब मरने के किनारे हैं, पढेंगे तो आप लोग। आज नहीं तो कल।'

कवि ने कहा—'कितना निराशावाद है भारत में। तो क्या जाते-जाते भी आपका देश के प्रति कोई भी कर्तव्य नहीं है ? जिस भूमि पर इतने दिन रहे, जिसका अन्न खाया, जल पिया उसका प्रतिदान आपने किस रूप में किया ?'

मैंने बीच में टोकते हुए कहा—'हमारे जीवन में जातीयता की भावना है ही नहीं। स्वदेश हमारे सामने कभी आता ही नहीं। भारतीय गुलामी का बड़ा कारण भारत का व्यक्तिवादी जीवन है। हमारा धर्म व्यक्तिवादी, समाज व्यक्तिवादी और व्यक्ति तो स्वयं है ही वैसा। प्रत्येक मुक्ति चाहता है अपने लिये। सुख चाहता है अपने लिये।'

वृद्ध ने कहा—'और ये जो धर्मशालाएँ लोग बनवाते हैं सो ?'

मैंने उत्तर दिया—'यश के लिये। जो गरीबो का रुधिर चूसकर लाखों पैदा किया है कहीं उसका प्रतिफल यमराज के यहाँ नरक न भोगना पडे इस सतोष के लिये।'

वृद्ध प्रणाम करके चले गये। हम तीनों बैठे रहे। उस समय चन्द्रमा निकल आया था। लहरों पर हज़ारों मन चाँदी के वर्क बिछ गए थे। वायु में ठंड भर रही थी। सामने की पर्वतमाला अपना रूप वैशिष्ट्य छोडकर एकाकार हो गई थी। मैंने कहा—'तिमिर के डर से यह सामने की पर्वतमाला अपनी भेद बुद्धि छोडकर एकमयी हो गई है। अंग-प्रत्यग उसके स्पष्ट नह हैं। कदाचित् इसी तरह विनाश का भय आ जाने पर जातियाँ, देश अपने व्यक्तित्व को भूलकर अपने स्वार्थों को छोडकर एक हो जाते हैं ?'

कवि ने कहा—'कल्पना यथार्थ और सुन्दर है। इसी के आधार पर छाया-चत्रों का निर्माण होता है देखे हैं ऐसे चित्र तुमने।'

मुझे उसी समय शोभा के पेन्सिल स्केच की याद आ गई और उसके साथ ही शोभा की। मैंने कहा—'चित्र हमारी भावनाओं का मूर्त रूप लेकर चलते हैं। पेन्सिल स्केच यदि ककाल का प्राण है तो अत्यन्त पेन्टिंग वाह्य सौन्दर्य का चित्रण। छायाचित्र शरीर की आकृति का समुच्चय। तीनों भिन्न

होते हुए भी एक ही प्राण के पोषक हैं, एक ही जीवन के भिन्न-भिन्न आकर्षक रूप।'

कवि उस समय किसी भाव मे मग्न थे इसलिए कुछ न बोले। सुधी कहने लगी—'कविता मे प्राणों का कितना आकर्षण है, यह मैंने आज ही जाना।'

मैंने कहा—'कविता जैसे साहित्य का प्राण है वैसे मनुष्यों का प्राण कविता है। गंगा की लहरों में, चाँदनी की बिछावन मे, हवा की मादक गति में, फूलों की मुस्कराहट मे प्रकृति का एक स्वतंत्र नाद है वही कविता है। जहाँ कविता नहीं है वहाँ कुछ भी नहीं है।'

हम लोग न जाने कितनी देर तक इसी तरह आनद-विभोर-से बैठे रहे। मालूम होता था जिस नदी की धार के इस वातावरण मे इतना राशि राशि लल्लास है उसका अन्त नहीं है। कभी-कभी लहरों के छपाके से उडते जलकण जब हमें गीला कर जाते तो ऐसा मालूम होता मानो कोई अपने स्मय से मुझे नहला रहा हो। नशीली आँखों की एक चितवन से तृप्ति बाँट रहा हो। रह-रहकर शोभा की छवि झलक जाती। कवि मूक थे। सुधी न जाने क्या सोच रही थी। मै उडते हुए विचारों में कभी शोभा को खोजता-कभी उसे भूलकर सुधी की पुरानी स्मृतियाँ ले बैठता। जब सर्दी बढ गई तो सुधी ने कहा—'अब चलना चाहिये।'

मैंने कहा—'हाँ।'

कवि ने कहा—'मैं तो बैठूँगा आप लोग जाइये। आप मुझे धर्मशाला का पता दे दीजिये, कल प्रातः आऊँगा।'

हम दोनों आभार स्वीकार करते हुए चल दिये। मार्ग में सुधी प्रमथेश की ही चर्चा करती रही। कैसा विचित्र पुरुष है, फक्कड, कितनी सुन्दर कवितायें हैं उसकी! कितना ज्ञानी है! आदि आदि बातें कहती रही। अन्त में उसने पूछा—'क्या यह रात भर इसी प्रकार बैठे रहेंगे।'

मैंने उत्तर दिया—'क्या आश्चर्य है कवि ही तो ठहरे।'

२

दूसरे दिन सवेरे आठ बजे प्रमथेश आ गये। उस दिन सौ-सवा सौ का एक दुशाला ओढ़े थे। पाँव नगे अँगोछा पहने। उनके इस विचित्र वेश को देखकर सुधी हैरान हो गई। साथ ही हँसने भी लगी। मैंने चाहा कि कवि के इस वेश से सुधी की हँसी को वे स्वय न जान पायें किन्तु उनसे सुधी का हँसना छिपा न रह सका। एकदम बैठते ही बोले—'दुशाला तो मैंने ओढ़ ही लिया था पर धोती का ध्यान न रहा। धर्मशाले के पास नीचे की ओर देखा तो मालूम हुआ धोती मैली है और धोती भी नही अँगोछा है। मुझे विश्वास है आप लोगों को इसमे कोई आपत्ति न होगी। इसके साथ ही उन्होंने एक कविता का टुकड़ा सुना दिया, जिसका आशय था—

'अन्तर की आँखोंवाले बाहर कब देख पाते हैं। हम तो उन मस्तों में हैं जो वे खुद हैं। तुम मुझ पर मत हँसो क्योंकि मैं तुम्हे देखता हूँ तुम्हारी हँसी को नही। इसके साथ ही वे इतने जोर से अट्टहास कर उठे कि पास के कमरे के एक सज्जन कोई अघटित घटना समझकर दौडे आये। उनको इस प्रकार सकपकाते देखकर वे और भी हँसे और इतना हँसे कि वे अपना सा मुँह लेकर डरे हुए से वापस चले गये। हम दोनों भी हँसी न रोक सके इसके बाद उन्होंने एक बिस्तर समेटकर सिरहाने लगा लिया और लेट गये। मुझसे बोले—अजय ! ससार की परवा नहीं करनी चाहिये। ससार तुम्हारीपरवा करेगा।'

मैं दौडकर कुछ मिठाई ले आया। सुधी ने स्टोव पर चाय तैयार की। थोडी देर इधर-उधर की बातों के बाद हम सबने चाय पी। इसके बाद सिगरेट जलाते हुए वे बोले—'कवि की इच्छाएँ बडी नुकीली, उसकी उमगें लम्बी, चौड़ी, एड़ी बेंड़ी रेखाएँ लिये होती हैं। संसार प्रकाश को पसन्द करता है वह अँधेरे को। ससार डर से दूर भागता है वह उसे मित्र बनाता है। रात मे एक बजे तक गगा के किनारे बैठा रहा। जब उठा तो मार्ग में एक भिखारी सर्दी से ठिठुरता मिल गया। मैंने उसे कुर्ता दे दिया। इसीलिये यह दुशाला ओढ़ कर आया हूँ। पहले इच्छा हुई उघाड़ा ही चलूँ फिर तुम्हारी इन

सुधी देवी का ध्यान आ गया ये क्या कहेंगी। मैं हरिद्वार छोड देना चाहता हूँ। यहाँ शराब पीने की आज्ञा नहीं है। मुझे प्रति रात ज्वालापुर जाना पडता है।

इसी समय कपडे एकत्र करने के लिये कुछ स्त्रियाँ सुधी को बुलाने आ गई। किन्तु वह नही गई और वही बैठी प्रमथेश की बातें सुनती रही। वह उनकी छोटी-से-छोटी गतिविधि का बहुत तीक्ष्णता से निरीक्षण कर रही थी। प्रमथेश लेटे-लेटे सिगरेट फूँकते रहे। कभी वे उठकर कुछ कहने लगते कभी फिर लेट जाते। प्रमथेश का नाम सुनकर धर्मशाला के मालिक भी आ गये थे। उन्होंने प्रार्थना की कि वे कोई कविता सुनाये। किन्तु उन्होंने एक भी कविता नहीं सुनाई। हारकर जब वे जाने लगे तब प्रथमेश बोले—'अच्छा सुनिये।' इसके बाद उन्होंने एक लम्बी कविता सुनाई। कविता देश के नवयुवकों से बलिदान माँगने के विषय पर थी। इतनी फड़कती, तेज, ओज भरी कविता इससे पूर्व मैंने नही सुनी थी। सुननेवाले एकदम अभिभूत से हो गये। धर्मशाला के मालिक ने कविता सुनने के बाद प्रमथेश के पैर पकड़ते हुए कहा—'धन्य हैं आप कविजी!'

सब लोग कवि की प्रतिभा, दूरदर्शिता, ओजस्विता पर मुग्ध थे। इसके बाद वे उठ खड़े हुए। मालिक ने उनसे भोजन की प्रार्थना की तो वे यह कहते हुए चले गये—'अभी इच्छा नहीं है।'

मैं दूर तक उन्हे पहुँचाने गया। किन्तु उस समय वे न जाने किस धुन में थे, उन्होंने मेरी किसी बात का उत्तर नहीं दिया। मैं थोडी दूर पहुँचाकर जब लौटा तो उस समय भी मुझे उस कविता का नशा चढ़ा था। जब कमरे में घुसा तो मैंने सुधी की कविता की पहली पक्ति गुनगुनाते हुए सुना। मुझे देखकर वह चुप हो गई और पूछने लगी—'कवि गये? आज हम लोग उनके यहाँ क्यों न चलें। महापुरुष हैं वे।'

मैंने कहा—'अवश्य।'

फिर कुछ देर ठहर सुधी बोली—'यह बुरी बात है कि ये शराब पीते हैं।'

मैंने उत्तर दिया—'यही तो वे कह गये हैं कि कवि की इच्छा बडी नुकीली उसकी उमंगे एड़ी-बेडी रेखाएँ लिये होती हैं।'

सुधी चुप हो गई। मैं कपडे सँभालने में लग गया। तो सुधी बोली—'मैं

होती तो उनका शराब पीना छुडा देती।' न जाने किस आवेग में आकर वह कह गई। जब मैंने उससे पूछा तो उसने जवाब दिया नहीं, मैंने तो कुछ भी नही कहा। सुधी अब जरा अवकाश पाते ही प्रमथेश की कविता पढती। उनका चित्र देखती रहती। यह मैंने कई बार छिपकर लक्ष्य किया। प्रकट रूप से वह प्रमथेश के सम्बन्ध में कुछ न कहती। चार बजे के लगभग हम लोग प्रमथेश के स्थान पर गये। वे भी भगोड़े से आगे एक साधु के आश्रम में रहते थे। साधु उनका भक्त था। उसने उनके लिये सब प्रकार की सुविधा कर दी थी। उसका एक सेवक हर समय उनका ध्यान रखता था।

कई बार उन्होंने उस साधु को भी फटकार दिया था, फिर भी वह उनका भक्त था।

आश्रम की एक कुटिया के बाहर वे चटाई बिछाकर कुछ लिख रहे थे। लिखते-लिखते जब उनका ध्यान टूटा तो उन्होंने हम दोनो को बैठ जाने का आदेश दिया। उस समय वे लँगोट बाँधे एक तौलिया पहने थे। सुधी नीचे बैठ गई। मैं चटाई के कोने पर बैठ गया। उस आश्रम के स्वामी वे साधु भी उनके पास आ बैठे। स्वामीजी के कई भक्त भी उनके साथ थे। एक आदमी आकर कुछ बिछा गया वहीं वे लोग बैठ गये। स्वामीजी ने बताया, आज से दो वर्ष पूर्व एक दिन शाम को गगा के किनारे प्लेटफ़ार्म पर प्रमथेशजी बैठे थे। वे गगा की लहरों पर मुग्ध होकर कविता पढ़ रहे थे, उस समय उनके स्वर माधुर्य पर मोहित होकर भ्रमणार्थ आए एक राजा उनके पास आ गये और कविता सुनने लगे। मैं भी पास ही बैठा था। कविता सुनकर बहुत-से आदमी इकट्ठे हो गये। जब कविता समाप्त हुई तब राजा ने उनसे एक और कविता सुनाने की प्रार्थना की। प्रमथेशजी ने एक कविता और सुनाई। वह इतनी सुन्दर थी कि सब लोग मुग्ध हो गये। राजा भी बहुत प्रसन्न हुए। इस पर राजा ने सौ रुपये इनको भेंट किये। इन्होने अस्वीकार कर दिया। इसके बाद उसने इन्हे अपने डेरे पर जाने का निमंत्रण दिया तो वह भी इन्होंने स्वीकार न किया और बिना उत्तर दिये चुपचाप बैठे रहे। जब सब लोग धीरे-धीरे इनकी प्रशसा करके चले गये, तब भी ये बैठे रहे। उस समय इनके शरीर पर न कपड़े थे न कुछ। मैंने बड़ी प्रार्थना करके अन्त में इनको इन्हे अपने आश्रम में ले आया। तब से ये मेरे आश्रम को कृतार्थ कर रहे हैं।

इन्हें न धन की चिन्ता है, न यश की। लोग आते हैं प्रार्थना करते हैं इच्छा होती है तो ये कुछ सुना देते हैं नहीं तो निराश लौट जाते हैं। मैंने देखा जब से इस आश्रम मे ये आये हैं तब से प्रायः कोई-न-कोई इनके दर्शन को आता है। पर इन्हे तो जैसे कोई मोह नहीं है। आज कपड़ा दो कल गायब। मुझे विशेष ध्यान रखना पडता है कि इन्होंने भोजन किया है या नहीं। एक बार मेरी अनुपस्थिति में रसोइये ने भूलकर दो दिन तक इनसे खाने के लिये नही पूछा तो दो दिन तक ये भूखे रहे।

एक सज्जन बोले—'जीवन मुक्त है।'

दूसरे बोले—'कवि किसी की परवा नहीं करते।'

स्वामीजी ने कहा—'कहिये जिस विषय पर कविता सुनाते चले जायँ। चढी होनी चाहिये।'

थोड़ा देर बाद नौकर ने भग लाकर प्रमथेश तथा स्वामीजी को दी। अन्य सब लोगों ने भी थोड़ी-थोडी पी। प्रमथेश दो लोटे भग चढा गये। जब मैंने मना किया तो बोले—'पियो, पियो न। अन्त में मुझे भी थोड़ी-सी लेनी पड़ी। सुधी ने आग्रह करने पर भी न ली।'

स्वामीजी ने बताया—'आजकल प्रमथेश एक महाकाव्य लिख रहे हैं। हम लोग इनकी सब पुस्तके छपाने का प्रबन्ध कर रहे हैं।'

'भंग पीकर प्रमथेश तथा अन्य लोग शौचादि के लिये चले गये। स्वामीजी मुझे सुधी को लेकर प्रमथेश की कुटिया दिखाने की गरज से चले तो कुटिया में देखा एक तख्त पर एक कम्बल बिछा है। ईटों का तकिया है। दो-तीन वस्त्र अर्गनी पर टॅगे हैं। एक आल्मारी में कुछ किताबें। कुछ पत्र तख्त पर पडे हैं। स्वामीजी ने एक पत्र उठाकर मुझे दिया मैं पढ़ने लगा—वह पत्र विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर का था, जिसमें उसने अपने एक संग्रह के लिए कविता माँगी थी। एक पत्र राजदरबार का था जिसमे किसी विशेष उत्सव के लिये उन्हें बुलाया गया था। इसी प्रकार के अन्य पत्र भी थे।

मैंने सुधी से कहा—'देखा तुमने इस तपस्वी को कितना महान् है यह और कितना निस्पृह।'

सुधी ने कुछ भी उत्तर न दिया, केवल एक पुस्तक में उनका चित्र देखती रही।

— —

स्वामीजी ने कहा—'कई बार मैंने नए वस्त्र लाकर दिये पर वह रहने ही नहीं पाते। जो माँगता है उसे दे देते हैं। एक सज्जन एक पलग बनवाकर दे गये-किन्तु वह छः मास तक बाहर पड़ा सडता रहा। आखिर मैंने वह अपने कमरे में रखा।

मैंने कहा—'यह दुशाला तो चलेगा, ऐसा दीखता है।'

स्वामीजी ने जवाब देते हुए कहा—'किसी दिन भी इसकी सद्गति हो सकती है। भिखारियों ने इनको पहचान लिया है। जहाँ ये निकले वहीं इनके पीछे पड़े और जो कपड़ा ये पहने हुए, जो रुपया इनके पास हुआ सब रखवा लेते हैं। एक रात को कहीं से लौटे तो देखा कुरता चादर कुछ भी शरीर पर नहीं है। मैंने पूछा तो बोले—'स्वामीजी, एक विचारा सर्दी खा रहा था उसे दे आया।'

उन्होंने कहा—'मुझे पिता की तरह हर समय इनकी देखभाल करनी पडती है।

मैंने पूछा—'कभी नाराज भी होते हैं।'

इस पर स्वामीजी बोले—'वह कुछ न पूछिये। इतनी गालियाँ देते हैं कि कोई और हो तो लड़ाई हो जाय। किन्तु मैं जानता हूँ यह थोड़ी देर की है अभी शान्त हो जायँगे तो क्षमा माँगेंगे। उपवास करेंगे।'

मैंने कहा—'प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का ऐसा हाल होता है। उसके मस्तिष्क में कुछ विचार इतने उग्र हो जाते हैं कि दूसरी तरफ ध्यान देने का उसे अवकाश ही नहीं होता। लोग कभी-कभी उसे पागल समझने लगते हैं। और दार्शनिक कवि तो प्रायः होते ही हैं। इन्हे किसी बन्धन में नहीं रखा जा सकता।'

तो वे बोले—'कभी-कभी रात भर घूमते हैं। दिन भर सोते हैं। कभी भूल जाते हैं भोजन किया या नहीं। नहाये या नहीं।'

इतने में प्रमथेशजी आ गये और बोले—'दरिद्र की कुटिया में क्या है अजय ?'

मैं बोला—'जो राजाओं के यहाँ नहीं है वह।'

तो एकदम अट्टहास कर उठे। सोचता हूँ मैं भी कुछ देश का काम करूँ। पर होता ही नही।

स्वामीजी बोले—'जलूस के जो गीत आपने स्वयसेवकों से सुने वे इनके ही लिखे हुए हैं।'

मैंने कहा—'इनकी यही देशसेवा है और सबसे बड़ी। कवि क्रान्तिदर्शी होता है।'

इसके बाद प्रमथेश ने एक कापी निकालकर कहा—'ये सात आठ गीत आप लेते जाइये। जलूसों के समय जलसों में स्वयसेवकों से इन्हें गवाइये। मुझे विश्वास है, ये गीत जनता में उत्साहवर्धन करेंगे।'

सुधी बोल उठी—'गीत मुझे दीजिये।'

प्रमथेश ने कापी सुधी को दे दी नकल करने के लिये। गीत सचमुच बहुत सुदर थे। कापी नकल करके दूसरे दिन लौटाने को कहकर हम दोनों वहाँ से चल दिये। प्रमथेश उस दिन ऋषिकेश की सड़क पर घूमने निकल गये।

रात को जब लेटा तो बहुत देर तक नींद न आई। प्रमथेश के सब क्रिया-कलाप आँखों के सामने झूमने लगे। कितना निःस्पृह है यह व्यक्ति और कितना महान्। और कोई समय होता तो ये राजा महाराजा के दरबार की शोभा बढाते। किन्तु होता क्या, उनकी प्रशसा के गीत गाते। हमारा संपूर्ण साहित्य कुछ को छोडकर राजा महाराजाओं की गीति या प्रशस्ति है। शक्तिमानों ने सदा से बुद्धि को खरीद कर उसका उपयोग किया है। जिन्होंने कुछ दिया है निःस्पृह रहकर, त्याग का जीवन बिताकर। हमारे सपूर्ण दर्शन स्मृति ग्रन्थ इन्हीं वीतरागों द्वारा लिखे गये हैं। किन्तु आज जीवन में कितनी असमानता है? कितनी विषमता है? लोगों ने कविता को मनोरंजन का साधन बना रखा है। जो वस्तु ससार के लिये मार्गदर्शक है वही आज मनो-रंजन है। कथा, उपदेश सब एक प्रकार से मनोरजन के साधन हैं। जो आडम्बर द्वारा सुन्दर गले से कहता है लोग उसकी बातें सुनते हैं। किन्तु उस सुनने का अर्थ क्या होता है एक हविस पूरी करना। हम लोग यहाँ हरिद्वार आते हैं मन को पवित्र करने पर मन कहाँ पवित्र होता है? सब बातें वे ही। केवल मनोरंजन के लिये। सैर के लिये। जो साधु सन्यासी, महन्त मठाधीश हैं जिनसे देश के काम की आशा की जा सकती है वे ही गृहस्थियो के समान वैभवधारी हैं।

मेरी विचारधारा चलती रही—

अनोखा जीवन का क्रम है यह। सरल बहुत कम, वक्र अधिक।

कितना उपाय करते हैं हम इसे ठीक बनाने के लिये। जब पानी की छोटी सी धार बहकर चलने लगती है विषम भूमि पर, तब गढ़ा या थोड़ी सी रुकावट आते ही वह रुक जाती है। कुछ देर अपने आप में घूमती है फिर जहाँ बूँद का सहारा पीछे के पानी का मिला या आगे के पानी से सहयोग हुआ तो दूने वेग के साथ वह धार आगे दौड़ने लगती है। यही जीवन का रूप है। वह समतल गति से चलते चलते विषमावस्था पाकरजब रुकने लगता है तब पीछे बैठीभाग्य या कुछ भी कहिये एक घटना दूर से उसकीप्रतीक्षा करती है। वह वेग के साथ उस ओर बढ़ता है और दूने वेग से जीवन प्रवाहित होने लगता है। रुकावट से एक प्रतिक्रिया होती है। घटनाएँ भी ठीक इसी तरह जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं। कहानी भी यही बात ढूँढती है। प्रेम भी यही बात देखता है। समाज भी इसी तरह उठता चलता है। राष्ट्र का भी यही रूप है। सब में गति है। परन्तु गति में भेद है। दिन और रात दोनों अपनी गति से चल रहे हैं। उसमे हमारा जीवन अनन्त शैशव, अनन्त यौवन, अनन्त बुढापे—अपनी गति से चले जा रहे हैं। मालूम होता है कुछ तेजी से चल रहे हैं, कुछ मद और कुछ बिलकुल स्थिर से। परन्तु गतिमान उसी तरह सब हैं। जीवन के उस पार जन्म और मृत्यु के दो किनारों के बाद की गति हम नहीं जान पाते। जैसे उषा से पहले और संध्या के बाद अनन्त अंधकार वाली अमावस में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता परन्तु गति तो उसमें भी है। जैसे जहाज में अँधेरी रात में यह नहीं मालूम होता कि जहाज तेजी से चल रहा है या स्थिर है, फिर भी वह चलता है। इसी तरह जीवन जाने या अनजाने में अपना घटनासूत्र जोडता हुआ बराबर चलता रहता है और जब वह जीवन है तो गति का होना उसमे आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मनुष्य इतना चैतन्य नहीं है कि आप से आप मिलनेवाली घटनाओं पर तीक्ष्ण दृष्टि रखता हुआ उनका जोड़ समझता चला जाय। होता यह है कि हमारे मन पर अनन्त प्रभाव या सस्कार चिपके हुए हैं। वाह्य संसार का जो दृश्य हमारे संस्कार से मेल खाता है उसी पर मन रम जाता है और उन दृश्यों का साधन बनकर वह आगे बढ़ता है। सस्कारों के श्लेस से वाह्य दृश्यों के चिपक जाने पर हम कहते हैं कि अमुक वस्तु हमको अच्छी लगी, अमुक से मेरा प्रेम हो गया।

पिछले दिनो से मैं यही देख रहा हूँ। सुधी बडे वेग से प्रमथेश की तरफ खिंची जा रही है। वह उनकी प्रत्येक गति विधि पर मुग्ध है। उनके प्रत्येक भावनाओं पर भूली हुई है। न कहने पर भी उनकी तरफ जा रही है। आज जब प्रमथेश ने कापी दी तब भी वह उनको ऐसे देख रही थी कि जैसे हृदय की प्रत्येक शान्ति भावनाओं से वह प्रमथेश को पान कर जाना चाहती है। प्रमथेश ने क्या समझा है। कैसे वे उसको देखते हैं यह तो मुझे मालूम नही हो सका। किन्तु सुधी बडे कठिन मार्ग पर पैर रख रही है इतना मैंने प्रमथेश के संसर्ग में आकर देख लिया। मुझे तो कुछ भी लेना-देना है नहीं। इधर ब्रजमोहन के समय से सुधी के प्रति मेरा जितना तीव्र आकर्षण था वह पास रहने पर न जाने मन के किस प्रभाव के कारण धीरे धीरे इतना क्षीण हो गया कि जिस दिन उसने विवाह का प्रस्ताव किया उस दिन मुझे लगा कि किसी ने मुझे बलात् पकड़कर अँधेरे कुएँ मे फेंक देने की तैयारी की हो। और मैं बिलकुल अवश हो गया होऊँ और उस रात मैं सर्वांग से, सम्पूर्ण चैतन्य से सोचता रहा कि कौन-सा वह उपाय हो सकता है कि मैं सुधी से छुटकारा पा सकूँ। भाग सकना मेरे लिये असमव था। क्योंकि भागकर अपनी रक्षा करने पर भी निश्चय ही सुधी को कलंकित कर जाता। वह मेरा डरपोकपन होता। कर्तव्य से पतन होता। किन्तु जब दूसरे प्रकार की घटनाएँ स्वयं आकर सुधी को मुझे भाई मानने की प्रेरणा दे गई तब मुझे लगा जैसे एक बडे बोझ को मेरे कधे पर से किसी ने उतार दिया। मैं मानता हूँ सुधी का सौन्दर्य पिछले दिनों से फिर काफी निखार पर है। कोई भी उससे प्रेम करके अपने को धन्य मान सकता है। किन्तु मैं वैसा नही कर सकता। न जाने मुझमें यह क्या है कि मैं वस्तु के प्राप्त हो जाने पर उतनी निकटता को बनाए नहीं रख सकता। उस स्नेह को सुरक्षित नही रख सकता। कमलिनी के प्रति जो साधारण ममत्व जाग उठा था वह तो दूसरी दृष्टि में ही समाप्त हो गया। हाँ, सुधी ने देर तक मुझे अपनाए रखने का बल दिया किन्तु अब वह भी केवल भाई के नाते मे ही समाप्त होता जा रहा है।

शोभा, शोभा कैसे कहूँ कि उस पर मेरा कोई भी अधिकार हो सकता है। उस पतिव्रता नारी के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना मैं नहीं कर सकता। जिस दिन उसने मुझे बताया कि 'साधारण बातचीत, हास, परिहास को

सामने एक छोटा-सा मैदान था। मैं वहाँ जा बैठता। जेलर से प्रार्थना करने पर गीता की एक पुस्तक मुझे मिल गई थी। वकील साहब ने कुछ किताबें घर से मँगवा ली थीं वे ही पुस्तकें वे पढ़ा करते। खाली समय में वे सो जाते किन्तु उन दोनों विद्यार्थियों के कारण उनका सोना भी नहीं होता था। जब उनकी बातचीत बहुत तेज हो जाती तो वकील उठकर बैठ जाते। बाहर घूमने आ जाते। एकाध बार उन्होंने कहा भी किन्तु यत्न करके भी वे दोनों अड़े ही रहते। उस दिन सुपरिन्टेण्डेण्ट के आने की बारी थी।

जेल के जीवन में मुझे नया अनुभव हुआ। वहाँ की दुनिया ही नई थी। हम पाँच व्यक्तियों को छोड़कर शेष सब जो हमारी बैरिक से बाहर थे। सामाजिक अपराधी थे। दूसरे दिन उन दोनों विद्यार्थियों को बदलकर तीसरी श्रेणी में कर दिया गया। हम तीन व्यक्ति रह गये। दुकानदार और वकील ने बड़े संतोष का अनुभव किया। मुझे कुछ सूना-सूना मालूम होने लगा। मैंने कई बार यत्न किया कि सुधी का पता लगे किन्तु कोई बात उसके सम्बन्ध में नहीं मालूम होती थी। केवल इतना ज्ञात हो सका कि वह मेरठ भेज दी गई है। दूसरे दिन सबेरे देखा कि कुछ और व्यक्ति भी हमारे साथ की कोठरियों में भर गये हैं। उनमें से एक व्यक्ति से स्नानागार में विदित हुआ कि देश में असहयोग की आग बड़े जोर से फैल रही है। हजारों विद्यार्थी, किसान, मजदूर मध्य श्रेणी के लोगों ने असहयोग कर दिया है। बराबर देश में हड़तालें, बायकाट हो रहे हैं। कराची में स्वामी शंकराचार्य तथा अन्य भाइयों को पकड़ लिया गया है। मुझे यह सब बातें सुनकर बड़ी प्रसन्नता होती थी कि अब हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त होगी। किन्तु इतना बड़ा देश पूरी तरह से संगठित हो सकेगा यह आशा करना कठिन है। जिसमें सहस्रों तरह के विचारों के लोग हों जो इतने दिनों से दास हों उसमें प्रत्येक व्यक्ति एक ही सूत्र में बँध जायगा, यह कठिन काम था। 'देश का बहुत विशाल होना भी उसकी दासता का एक कारण है।' यही बात जब मैंने वकील साहब से भोजन करते समय कही तब वे बोले—

'यह बात नहीं है रूस भी तो विशाल देश है। वहाँ इतनी तेजी से सोवियट सरकार कैसे कायम हो गई?'

मैंने कहा—'आप जानते हैं, रूस को कितने भयंकर गृहयुद्ध में फँसे रहना

पडा है। इसके अतिरिक्त वहाँ इससे पूर्व स्वदेशी सरकार थी। स्वदेशी सरकार कितनी भी बुरी हो तब भी अच्छी होती है। उसमे सर्वसाधारण को उठने का अवसर मिल जाता है। मैं यह नहीं मानता कि हमारे देश मे स्वतत्रता की स्थापना हो ही नहीं सकती। परन्तु जितना शीघ्र खयाल किया जाता है उतनी जल्दी सभव नहीं है।'

वकील साहब बोले—'असहयोग भारत के लिये एक वरदान है। गाधीजी का अवतार देश को स्वतत्र करने के लिये हुआ है।'

मैंने उत्तर दिया—'गांधीजी ने जो जागृति देश में की है वह स्तुत्य है किन्तु इतने से ही आपने यह कैसे समझ लिया कि स्वतत्रता मिल जायगी।'

जेलर बड़ा भला आदमी था। उसी दिन शाम को मैंने उससे प्रस्ताव किया कि मुझे कुछ काम दो। उसने पूछा, आप क्या काम कर सकते हैं? मैंने उत्तर दिया—'मैं अपराधियों को अवकाश के समय पढाना चाहता हूँ।

उसने जवाब दिया—यह कठिन काम है। सरकार की तरफ से पढाने का प्रबन्ध है। आपको पढाने के लिये नियुक्त करने का अर्थ है जेल में बगावत फैलाना। यह किसी प्रकार भी सभव नहीं है। खैर, मैं सुपरेन्टेण्डेण्ट से कहूँगा। यह तो उसके हाथ में भी नहीं है और इधर-उधर की बातें करके वह चला गया। जेलर हमको प्रति दिन बतला जाता था कि देश में क्या हो रहा है। बहुत कहने सुनने के बाद हमें पायनियर पढने को मिला। उससे कुछ भी मालूम नहीं होता था फिर भी हम लोग अनुमान से जान लेते थे कि देश मे भयकर आग लगी है। सत्याग्रह बड़ी तेजी से देश में फैल रहा है। जब मेरे किसी प्रश्न का भी जेलर ने उत्तर नहीं दिया तो मैंने छिपे-छिपे अपने रसोइये और ऊपर का काम करने वाले को पढाना प्रारम्भ कर दिया। वे पहले तो टालमटोल करने लगे फिर बाद को उन्होंने पढना स्वीकार किया। सेवक का नाम था चिरागअली। वह बहुत काला था उसके होठ मोटे बाल घुघराले। उसको देखकर किसी तरह भी यह नहीं मालूम होता था कि भारतीय होगा। उसने रसोइये से पहले हिन्दी की वर्णमाला सीख ली। उसके सबन्ध में मुझसे और वकील साहब से प्रायः बहस होती थी कि वह कैसा मुसलमान है। उस दिन जेल मे काम काज बंद था। (अचानक वह आ गया। क्योंकि सुबह शाम

को ही आता था।) चिरागअली आ गया। उसने मुझसे कहा—'बाबूजी शराब पीने को जी चाहता है।'

मैंने कहा—'यहाँ वह कहाँ मिल सकती है ?'

उसने उत्तर दिया—'बहुत, लेकिन मेरे पास पैसे नहीं हैं नहीं तो जेल में कौन सी चीज नहीं मिल सकती।'

उसने बताया—'एक दिन मेरे दोस्त को उसके घर वाले बीस रुपये दे गये। दस रुपये उसने वार्डर को दिये थे और पाँच की एक बोतल मगाई। दो रुपये की मिठाई। मैंने भी शराब पी।' इस पर वकील साहब जो पास ही टहल रहे थे बोले—'चिराग़अली, शराब पीना क्या अच्छा है ?'

वह बोला—'अच्छा न सही पर पिया जा सकता है।'

मैंने पूछा—'तुम्हे क्यों शराब पीने की जरूरत पड़ती है।' उसने कहा—बाबूजी आपने पी ही नहीं, शराब से बढिया तो कोई चीज दुनिया में है ही नहीं और मैं अपनी कहानी क्या सुनाऊँ। मैं बडा अभागा हूँ बाबूजी।'

मैंने पूछा, आखिर बात क्या है जो तुम्हे इतना दुखी करती है। हालाँकि जेल में तो कोई भी सुखी नहीं है फिर भी मैं देखता हूँ बहुत से लोग बड़े प्रसन्न दिखाई देते हैं। मैं बहुत दिनों से सोचता था कि तुम्हारी कहानी सुनता।

उसने जो अपनी कहानी कही वह सचमुच मेरे लिये अभूतपूर्व थी।

उसने कहा—'मैं क्या बताऊँ कहाँ का रहनेवाला हूँ बस इतना ही समझ लीजिये मेरा बाप हिन्दुस्तानी था और माँ हाट टाएट अफरीकन। मैंने अपने बाप की सूरत नही देखी। वह मेरे पैदा होने के कुछ दिनो बाद उसे छोड़कर हिन्दुस्तान आ गया। मैं जब छोटा था। और लड़कों में खेलता था तभी मैं देखता था कि सब लड़कों के बाप है, मेरे बाप नहीं है। मैं अक्सर माँ से पूछता कि मेरा बाप कहाँ है मैं उससे मिलना चाहता हूँ लेकिन वह मुझे बहका देती। कभी कहती, तुम्हारा बाप दूर शहर में काम पर गया है। मैं चुप हो जाता। जब इस तरह बहुत दिन हो गये और बाप न आया तो मैंने एक दिन खाना न खाया। माँ ने बहुत मनाया लेकिन मैं न माना। वह सुबह से शाम तक एक गोरे के फार्म मे काम करती। मैं भी वहीं बैठा रहता। खेत बहुत बडा था। माँ को कई तरह के काम करने होते थे। कभी-कभी उसे मार पड़ती। पहले तो मुझे कुछ भी न मालूम होता किंतु एक दिन जब उसे मास्टर ने किसी बात पर नाराज़ होकर बहुत

मारा तो मुझे भी रोना आ गया। उसने रोते देख दो बेंत मुझे भी लगा दिये। माँ मार खाकर बेहोश हो गई। उसे लोगों ने उठाकर झोपडी में पटक दिया। यह वही झोपडी थी जहाँ मेरी माँ रहती थी। रात को उसे होश आया। एक पडोसी काम करने वाला हब्शी दो एक बार उसे देख गया था। उसकी औरत भी दो एक बार आ चुकी थी। जब उनके कई प्रयत्न करने के बाद भी माँ को होश न आया तो मैं रोने लगा। होश आने पर माँ ने मुझे पुकारा। वह बड़ी बेचैन हो रही थी। मालूम होता था जैसे उसका सारा शरीर दुख रहा था। दो एक जगह से शरीर का मास भी फट गया था। जब माँ को होश आया तब मैं पड़ोसी को बुला लाया। उसने तथा उसकी स्त्री ने कुछ दवा लगाई। इस तरह छः दिन तक मेरी माँ पड़ी रही। एक बार डाक्टर भी आया पर उससे माँ को कुछ भी फायदा न हुआ। अन्त में एक दिन वह मुझे छोड़कर चल बसी।

उस दिन सवेरे उसने मुझे पास बुलाकर कहा कि तेरा बाप हिन्दुस्तान चला गया है और इसके साथ ही उसने अपने गले की माला को, जिसमें बहुत-सी कौड़ियाँ, सीपी और कपडे में बँधा एक तावीज था, तोडा। उसमें से कागज निकालकर देते हुए कहा—'यही तेरे बाप का पता है। मेरी उम्र उस समय दस-ग्यारह साल की थी। मैं माँ की जगह खेत मे कपास बीनने गाडी चलाने का काम करने लगा। मेरी बडी इच्छा थी कि मैं बाप को देखता। इसी आशा में मैंने वह तावीज सँभालकर रख छोडा था। काम करते-करते उस साहब के यहाँ दो साल बीत गये। एक दिन हब्शियों ने मिलकर सब काम अंग्रेजों (गोरों) का छोड़ दिया। उस दिन एक बडी सभा हुई। हम लोग जुलूस बनाकर डरबन आये और किसी बडे हाल के सामने विरोध करने लगे। हमारे मालिक ने कुछ साथियों को पकड़कर बहुत पीटा। कुछ को तो मारते-मारते बेहोश कर दिया। इतने पर भी मैंने देखा वे लोग भाग आये हैं और गाँव से छः मील दूर नेटाल की सभा में शामिल हो गये। वहाँ भी जुम्म ने हमारे दल का नेतृत्व किया। हम लोग तीन दिन तक डरबन में रहे। रोज जुलूस निकालते। शाम को एक बडे बाडे मे हम लोग जमा होते। वहीं खाना खाते रात को रहते। चौथे दिन पुलिस ने गोली चलाकर बाडा खाली करवाया। उस दिन जुलूस में भी बड़ी मार पड़ी। गोरे आकर अपने-अपने आद-

मियों को पकड ले गये। जो नही जाना चाहते थे उन्हे बुरी तरह पीटा जाता था। कई आदमियों और औरतों को नगा करके बेत लगाये गये। सौभाग्य से हमारा मालिक उनमे नही था। इसी से मैं बच गया। मेरे साथी जगलों में भाग गये। और हमारा विरोध वही समाप्त हो गया। इसके बाद मैं डरबन मे ही घूमता रहा। जो कुछ हब्शियों की बस्ती में मिल जाता, खा लेता। कुछ हब्शी स्वतत्र भी थे। उन्ही में एक के यहाँ मैंने काम कर लिया। अभी मुझे काम किये एक सप्ताह भी न हुआ होगा कि वह गोरा जिसके फ़ार्म में मैं काम करता था आ गया और मुझे पकड़कर ले गया। साथ ही उसने मेरे नये मालिक को भी पुलिस में पकड़वा दिया। मैं डरबन में काम से छुट्टी पाने के बाद हिन्दुस्तान जाकर बाप से मिलने की बात सोचता। लोगों से हिन्दुस्तान का पता पूछता। कोई बताता हिन्दुस्तान तो बहुत बडा है वहाँ जाने के लिये समुद्र से जाना पडता है, कोई कहता हिन्दुस्तान कोई शहर नही है। लेकिन मेरे जी में हिन्दुस्तान की धुन समाई हुई थी। एक ने मुझे बताया पोर्ट एलिजा-बेथ से हिन्दुस्तान जहाज जाते हैं। इसी बीच में मैं पकड लिया गया। मालिक ने मुझे फार्म में ले जाकर खूब मारा, दो दिन तक खाना न दिया। तीसरे दिन माफी माँगने पर खाना मिला। वह भी हमारे वाचमैन की सिफारिश पर। मेरे पैरों मे बेड़ियाँ डाल दी गई थीं। इससे मैं चल फिर भी नहीं सकता था। इस तरह एक महीना काटा। इस बीच में ठीक काम न करने के कारण कई बार मार पड़ी। एक दिन रात को मैं फिर भाग पड़ा और रातोंरात डरबन आ गया। दूसरे दिन पोर्ट एलिजाबेथ पैदल चला। डरबन से पोर्ट एलिजाबेथ काफ़ी दूर है। रास्ते में भूखा-प्यासा माँगता खाता आखिर एक दिन पोर्ट-एलिजाबेथ आ गया। वहाँ खल्लासी हब्शी थे, उन्हीं मे से एक ने मुझे आश्रय दिया। मेरी प्रार्थना पर उसने मुझे जहाज में नौकरी करा दी। पहले तो बहुत पूछताछ हुई फिर उस खल्लासी के यह कहने पर कि मैं उसका रिश्तेदार हूँ मुझे नौकरी मिल गई।

मैंने पूछा—'फिर तुम हिन्दुस्तान भाग आये।'

'जी। क्या करता। मेरी बड़ी इच्छा अपने बाप से मिलने की थी।'

'यह हिन्दुस्तानी बोली तुमने कहाँ सीखी?'

वह बोला—'कुछ तो थोड़ी-थोड़ी मैंने फार्म मे काम करनेवाले हिन्दुस्तानियों

से सीखी और फिर हिन्दुस्तान आने पर। जहाज में तीन-चार हिन्दुस्तानी मुसलमान थे उन्होंने मुझे बहुत सहायता की। उनमे अलीवेग से मैंने अपनी सारी कथा सुनाई, उसी का सहायता से मैं जहाज में छिपकर बम्बई पहुँच सका। तीन दिन तक मैं कोयले के ढेर में छिपा रहा वहीं अलीबेग मुझे खाना देता रहा। अलीवेग जहाज में फोरमैन के नीचे काम करता था। उसने बम्बई में जहाज पहुँचने के तीन दिन बाद एक रात को बम्बई पहुँचा दिया। कुछ रुपये भी उसने मुझे दिये। बम्बई में एक दिन आवारागर्दी में मुझे पकड़ लिया गया। पन्द्रह दिन हवालात में रहने के बाद पुलिस ने मुझे छोड दिया। वहाँ से मैं बिना टिकट दिल्ली की गाड़ी में बैठा और झासी में पकड़ा गया। एक माह के क़रीब मुझे वहाँ हवालात में रहना पडा। छूटने पर दिल्ली में पकड़ा गया। वहाँ से भी छूट आया। एक दिन मैंने दिल्ली में एक आदमी की जेब काटी। वहाँ फिर पकड़ा गया और छः मास की सजा हुई। बस, अब यहाँ से वकील साहब ने, जो चुपचाप कहानी सुन रहे थे, कहा—तो तुमने बाप की खोज में कष्ट भोगा ? जी ! लेकिन अभी मैं न जाने कब अपने अब्बा को देखूँगा। उसने मुझे तावीज गले से निकालकर दिखाया जिसमें उसके बाप का पता था। तावीज इतना मैला था कि मैं उसे किसी प्रकार भी छू नहीं सकता था। उसके फाड़कर दिखाने पर वह कागज का टुकड़ा मैंने देखा किन्तु उर्दू में लिखा होने के कारण मैं पढ न सका। वकील साहब ने उसे पढा, उसमें लुधियाना लिखा हुआ। मार्फत अमानुल्ला पठान नानबाई, क्लाकटाव के पास। आबिदअली।'

मैंने कहा—'तो आबिदअली तुम्हारे बाप का नाम है ?'

'जी !'

वकील ने कहा—'यदि वह तुम्हे न पहचाने तब।'

वह बोला—'मैं अपनी माँ का नाम बताऊँगा। माँ ने मरते समय कहा था कि वह बड़ा भला आदमी है।'

मैंने पूछा—'इसके बाद।'

चिरागअली—'मैं उसी के पास रहूँगा।'

मैंने कहा—'अगर उसने तुम्हें न रखा। क्योंकि तुम्हारा रंग बिलकुल काला और हिन्दुस्तानी जैसा नही है। मुमकिन है वह भूल गया हो।'

चिरागअली इसके उत्तर में कुछ भी न बोला। इससे आगे उसने सोचा ही न था। वह तो बाप के प्रेम में कष्ट सहता हुआ यहाँ तक आया है। उस प्रेम ने उसे पागल बना दिया। उसी धुन में यह चलता रहा है, कोई कष्ट, कोई दुख उसे रास्ते में बाधा नहीं दे सका। मैंने उसकी यह लगन देखकर उसकी पीठ ठोकी। चिरागअली की उम्र इस समय अठारह से ऊपर थी लेकिन उसके दाढ़ी आ गई थी। वह काफी उम्र का जवान लगता था। वकील साहब के लिये भी यह एक नई कहानी थी। उन्होंने उससे सहानुभूति दिखाई।

सन्ध्या के समय जब जेलर के सामने वकील ने यह कहानी सुनाई तो वह बोले—

'जेलखाने में नई दुनिया रहती है। विकट-से-विकट अपराधी, प्रेमी, भावुक लोग आपको यहाँ मिलेंगे। अठारह-बीस से लेकर तीस पैंतीस की अवस्था के अपराधी प्रायः प्रेम के शिकार होते हैं। पैंतीस से पचास तक हत्या, डाका, चोरी के आदमी होते हैं। हरएक के अपराध के पीछे एक कहानी है। आखिर बिना किसी सम्बन्ध के कोई अपराध भी तो नहीं कर सकता।

रात को मुझे बहुत देर तक नींद न आई। मैं पड़ा-पडा चिरागअली के सम्बन्ध में सोचता रहा। कितनी भावुकता है इस मनुष्य में और कितनी लगन। आज पन्द्रह साल से यह बाप की खोज म घूम रहा है। जेल, भूख, यातना के पीछे एक ही चीज इसको ढाँढस देनेवाली है 'बाप से मिलने की तीव्र आकांक्षा।' प्रत्येक मनुष्य के हृदय में एक प्रकार का वेग होता है, तीव्रता होती है। वह तीव्रता जब हृदय की भावुकता मे प्रेरित होती है तब प्रेम-सम्बन्धी उत्कटता जागती है। जब मस्तिष्क से सम्बद्ध हो जाती है तब नीची दशा में चोरी, डाका, हत्या आदि के रूप में और परिष्कृत अवस्था में ऊँचा पेशा या वैज्ञानिक आविष्कार की लगन पैदा कर देती है। होती यह भावना सबके हृदय में है। इसके बिना कदाचित् मनुष्य जीवित भी नहीं रह सकता। यह एक सूत्र है जो जीवन को बनाये रखता है। उसी तीव्रता में घोर से घोर कष्टसहन की भी शक्ति जाग जाती है। देशभक्ति भी इसी प्रकार का एक वेग है। हमारे देश में इस समय प्रत्येक भारतवासी के हृदय में जो यह देश-भक्ति की लगन लगी है उसने निश्चय ही लोगों का ध्यान दूसरी तरफ से हटाकर ही उन्हे इस तरफ लगाया होगा। इसीलिये मन की अवस्था एक समय

एक ही काम करने की दर्शनकारों ने निश्चित की है। क्या ही अच्छा होता कि गाधीजी की प्रेरणा से उत्पन्न असहयोग में प्रत्येक भारतवासी भाग लेता, कोई भी शेष न रहता। किन्तु ऐसा नहीं है। हजारों अभागे भारतवासी अब भी ऐसे हैं जो सरकार को सहायता देकर भारत की दासता की शृंखला को मजबूत बना रहे हैं। उसमें देश-शक्ति की अपेक्षा उनका स्वार्थ प्रबल है। स्वार्थ के सामने देश की पुकार ठहर नही पाती और वे बाहर से कहते हुए भी परिस्थिति का नाम लेकर अपने को उसी शृखला में बाँधे चले जा रहे हैं। मैं पड़ा-पड़ा सोचता रहा कि क्या यह सभव है कि सब देशवासो असहयोग का अस्त्र ग्रहण कर सकें? यह ठीक है सारा देश कभी किसी काम मे शामिल नहीं होता। कुछ थोडे ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो आगे बढते हैं किन्तु व्यवधान डालने वालों की सख्या तो निश्चय ही कम होनी चाहिये। इसी तरह सोचते-सोचते मुझे नींद आ गई।

मैं प्रायः कभी सुधी के सम्बन्ध में कभी शोभा के सम्बन्ध में सोचता। बहुत बार सोचने पर भी मैं शोभा को कोई पत्र नहीं लिख सका। शोभा का ध्यान आते ही मुझे उत्सुकता बढ़ जाती और उसके सबध में सोचने की इच्छा बराबर बनी रहती। उसकी सुन्दरता, उसका हँसना, उसकी बेतक़ल्लुफी यह सब बातें मुझे इन दिनों रह-रहकर याद आने लगीं और एक बार तो ऐसा हुआ कि दिन रात शोभा ही मेरी आँखो में झूमने लगी। एक दिन मैंने डाक्टर साहब को एक पत्र लिख डाला। शोभा का उल्लेख उसमे जान बूझकर नहीं किया। यहाँ तक कि न तो उसका नाम ही लिखा न उसके सम्बन्ध में कोई चर्चा ही की। यह मुझे स्वय आश्चर्य हो रहा था कि मैंने ऐसा क्यों किया? हृदय में उत्कटता, तीव्रता, आकाक्षा होते हुए भी उसका उल्लेख न करना न जाने वह कैसे हुआ? मैंने उसे हृदय से निकाल डालने का कई बार यत्न किया। विवेक से, दूसरी तरफ ध्यान लगाकर, देशप्रेम की चर्चा द्वारा, साथी कैदियो के साथ बैठकर, अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढकर मैंने चाहा कि शोभा के अनधिकारपूर्ण प्रसग को भुला देना ही अच्छा है। किन्तु जितना ही मैं उसको हृदय से दूर करना चाहता उतना ही वह हृदय में घर करती जाती थी। जब समाचारपत्रों में गोलीकाण्ड की चर्चा पढी तब बडा क्षोभ हुआ और उस दिन दिनभर आपस मे हम लोग यही चर्चा करते रहे। उस दिन शोभा का ध्यान न आया। मैंने

रात को मन में समझा कि अब मैं शोभा को हृदय से दूर करने में समर्थ हो सकूँगा। दूसरे दिन भी तीसरे दिन भी वही अवस्था रही। इसके बाद स्वय-सेविकाओं पर लाठीचार्ज की कथा सुनी। उसी दिन शाम को डाक्टर साहब का पत्र मिला। उसमें न पूछने पर भी शोभा का उल्लेख था कि वह आज कल जेल में है। इतना पढते ही उस रमणी के त्याग, देशभक्ति और देश-सेवा के लिये अपने आपको बलि दे देने की भावना पर उत्पन्न मेरी स्मृति ने मुझे सर्वतोभावेन उसका सेवक सा बना दिया।

मैं कभी-कभी सोचता कि सुधी और शोभा मे कितना अन्तर है ? निश्चय ही शोभा सुधी से अधिक बुद्धिमान् है। अधिक जागरूक, अधिक सशक्त। सौन्दर्य के साथ उसमें कार्य करने की क्षमता भी अधिक है। उसने अवश्य ही अपने नगर का नेतृत्व किया होगा।

मैंने कल्पना के आधार पर एक काग़ज लेकर शोभा का चित्र बनाया और दिन भर उस चित्र को पूर्ण करने मे लगा रहा। फिर भी वास्तविक चित्र नहीं बना सका। सुधी के प्रति अब मेरे हृदय मे निस्वार्थ ममत्व था, शोभा के प्रति आकर्षण, उसके सौन्दर्य की तीव्रता, नुकीलेपन ने मेरे रोम-रोम में एक नवीन चेतना भर दी थी। उस जेल के जीवन में निष्क्रियता ने कहाँ तो मुझे विवेकी बनाया था कहाँ अब शोभा ने अधिकार करके मेरे प्राण को झमोड डाला। मेरी शान्ति को भग कर दिया। फिर भी मैं कैसे कहूँ कि उसकी स्मृति से मुझे एक प्रकार की शान्ति नहीं मिलती थी। संस्कृत का एक श्लोक मैं बार-बार दुहराने लगा—

सगम विरह विकल्पे वरमिह विरहो न सगमस्तस्याः,
सगे सैव तथैव विरहे त्रिभुवनमपि तन्मयम्।

इसका अर्थ है—'मेल और जुदाई में जुदाई ही ज्यादा पसन्द है क्योंकि मेल में वह अकेली रहती है। जुदाई में तीनों लोक उसी के रूप में प्रतीत होते हैं।'

४

जेलर के कहे अनुसार मुझे अब जेल के जीवन में नवीनता मालूम होने लगी थी। एक दिन चिरागअली ने आकर सुनाया कि कल एक क़ैदी आया है उसका बडा विचित्र किस्सा है।

वह अपने आप कहने लगा 'कि वह जाट है अपने छोटे भाई को मारने के अपराध में पकडा गया है। भाई अभी तक मरा नहीं है, लेकिन बचने की भी कोई आशा नहीं है।'

मैंने कहा—'ऐसी घटनाएँ तो हजारों हैं जिसमें एक भाई ने भाई को मारा हो।'

वह बोला—'आप कल्पना नहीं कर सकते जैसी घटना हुई है। यह पकडा गया मनुष्य तीन भाई हैं। तीनो कहीं से एक औरत कर लाये। निर्णय हुआ कि तीनों ही उसके पति रहेगे। दैवयोग से सबसे छोटे भाई के साथ वह औरत प्रेम करने लगी। दोनों भाइयों को यह बुरा लगा। बडे ने मॅझले से कहा—'यदि छोटे को मार दिया जाय तभी हम दोनों सुखी रह सकते हैं। नहीं तो किसी दिन यह औरत हमको छोडकर उसी के साथ रहने लगेगी। इस प्रकार बडे भाई के कहने पर मॅझले ने छोटे भाई को खेत के पास खड्ड में मारा और अधमरा करके छोड ही रहा था कि बडा भाई, पुलिस को ले आया और उसे पकडवा दिया। अब छोटा भाई अस्पताल में है। मॅझला जेल में और बड भाई अपनी प्रियतमा के पास। अब वह बेखटके है। दोनों काँटे निकल गये एक साथ।' यह सुनकर मुझे उस पकडे गये व्यक्ति के प्रति खेद की अपेक्षा आश्चर्य ही अधिक हुआ। मेरे साथियों में से वकील साहब ने कहा—'स्त्री के पीछे क्या-क्या नहीं होता। सदा से जर, जमीन और औरत के लिये ही लडाइयाँ होती चली आई हैं। यह तो मनुष्य-स्वभाव की प्रवृत्तियाँ हैं, जो भिन्न-भिन्न रूपों में घटित होती रहती हैं। मेरे पास एक बार एक केस आया वह भी बडा आश्चर्यजनक था।'

एक स्त्री दो आदमियों के साथ रहती थी। कभी एक के पास कभी दूसरे के पास। होते-होते उसके एक बच्चा हुआ। दोनों ही ज़िमींदार थे। दोनों

लडके को चाहने लगे। दोनों समझते थे कि यह उनका लड़का है। एक बार लडके के सम्बन्ध मे किसी उत्सव पर वे दोनों एकत्र हो गये। एक बोला यह मेरा लडका है। दूसरा बोला मेरा। इस पर माँ से पूछा गया तो उत्तर न दे सकी। अन्त में दोनों मे घोर युद्ध हुआ। दोनों लड़ते-लडते मर गये। लडके दोनों को अपना बाप समझकर कोर्ट से प्रार्थना की कि जायदाद उसे मिलनी चाहिये।

मैंने उत्सुकतावश पूछा—'फिर क्या हुआ ?'

वकील ने कहा—'दोनों के कोई और उत्तराधिकारी नहीं था इसलिये लडके को दोनों की जायदाद मिल गई।'

'तो बाप की जगह क्या दोनों का नाम रहा ?' मैंने पूछा।

'हाँ, और इलाज भी क्या हो सकता था ? जज भी बडे हैरान थे। आखिर लड़के को दोनों की जायदाद मिल गई।'

जेल में रहते हुए प्रायः इसी तरह की कहानियाँ सुनने को मिलती थी। हमारे साथ जो लोग रहते थे उनके परिवार के लोग उनसे मिलने आते किन्तु मेरा कोई ऐसा सबन्धी न था जो मुझसे मिलने आता। मुझे उस समय बहुत दुख होता जब मैं देखता कि मुझसे मिलने वाला कोई नही है। मैंने अपने नाना नानी को इस संबन्ध मे कोई सूचना नहीं दी थी। उन्हें सूचना देने पर भी कदाचित् यह सभव नही था कि वे मुझसे मिलने आते। इसके अतिरिक्त उन्हे सूचना देना उन्हे व्यर्थ के लिये परेशान करना था। नानी बूढी थीं वे और भी दुखी होती। यही सब सोचकर मैंने उन्हे कुछ भी नहीं लिखा। एक दिन अचानक वार्डर ने आकर सूचना दी कि एक आदमी तुमसे मिलने आये हैं। वह भेंट का दिन था। सब लोग अपने-अपने मित्रों, परिवार के लोगों से मिल रहे थे। मैं अपने कमरे मे किताब लिये पड़ा था। सूचना पाते ही मैं चल पड़ा। जेल के बाहरी फाटक से पहले एक और लोहे का फाटक है, वहीं ले जाकर मुझे खड़ा कर दिया गया। थोडी देर बाद देखा कि धीरे-धीरे डाक्टर साहब को लेकर एक सिपाही अन्दर आ रहा है। पास आ जाने पर हम लोग बडे तपाक से मिले। बहुत देर तक बाते होती रहीं। मैंने जान बूझकर शोभा के संबन्ध में कोई प्रश्न नही किया। तब बहुत देर बाद वे बोले—'शोभा आजकल मेरठ-जेल में है। कल ही सुधी और शोभा से मैं

मिला था। वे दोनों साथ-साथ हैं। दोनों का आग्रह था कि तुम्हारा समाचार लूँ। मैं स्वय भी तुम्हे देखना चाहता था। इसके साथ ही उन्होंने उन दोनों के स्वास्थ्य के सबन्ध में कहा। फिर बोले—'सुधी की अपेक्षा शोभा अधिक स्वस्थ है। वह तो पीली पड गई है।'

डाक्टर ने कहा—'उसे पिछले दिनों ज्वर आने लगा था। हस्पताल से अभी आई है। शोभा बहुत स्वस्थ है। प्रसन्न भी। उसे केवल एक चिन्ता थी तुम्हारी। उसने बार-बार तुम्हारा ही जिक्र किया। सुधी ने भी एकाध बार पूछा। हाँ, एक बात है। कोई प्रमथेश नाम के कवि हैं उनको सूचना देने के लिये सुधी ने मुझसे कहा है। पता भी बताया है। सो कल मैं हरद्वार जा रहा हूँ। शायद आज शाम की गाडी से चला जाऊँ। वह प्रमथेश कौन है, पहले तो मैंने उनका नाम सुना नहीं।'

मैंने सक्षेप से सब इतिहास सुनाया। तब डाक्टर साहब बोले—'समझा, उसमें 'सेक्सहगर' अधिक प्रबल हो उठता है। इसी से कभी एक तरफ कभी दूसरी तरफ झुकती है। किन्तु मैं इसे बुरा नहीं समझता। मैं चाहता हूँ कोई योग्य आदमी मिलते ही उसकी शादी कर दी जाय।'

मैंने कहा—'प्रमथेश, इस योग्य बिलकुल नही है। वह तो कवि है उत्तर-दायित्वहीन। उसके साथ सुधी कभी सुखी नहीं रह सकती। इसके अतिरिक्त स्वय प्रमथेश की क्या राय है यह भी मैं नही जानता। केवल इतना ही जानता हूँ कि स्वय प्रमथेश सुधी से मिलने आते रहे हैं किन्तु उनका भाव क्या है, यह मैं नही जान पाया।'

डाक्टर साहब ने इन बातों का कोई उत्तर न दिया केवल कुछ सोचते रहे। मैंने देखा डाक्टर साहब हम दोनों और विशेषकर सुधी के लिए कितने चिन्तित हैं। वे चाहते हैं कि सुधी का ठिकाना ठीक होना चाहिये। इसके बाद उन्होंने कहा कि प्रैक्टिस छोड़कर अब वे काग्रेस में काम करने लगे हैं और आजकल जिला कमेटी के सभापति हैं। समय हो जाने के कारण डाक्टर साहब अन्तिम भेंट करके जाते हुए बोले—'शायद तुम्हारे लौटने से पहले ही मैं जेल में होऊँ। छुटकारा पाते ही घर जाना और वही रहना। मैंने सब प्रबन्ध कर दिया है।' इतना कहकर वे चले तो मैंने हाथ जोड़े और सिपाही मुझे लेकर चल पडा। वे जब तक मैं ओझल नहीं हो गया तब तक खड़े देखते रहे। मैंने

भी कई बार पीछे मुड़कर देखा। इन चार मासों में, केवल एक बार डाक्टर साहब से भेंट हुई। किन्तु उनके प्रेम को देखकर मेरी उन पर पहले से अधिक श्रद्धा हो गई। उन्होंने जिस सद्भावना से हम लोगों को आश्रय देकर अपना बना लिया वह उनके ही अनुरूप था। सुधी प्रमथेश को चाहती है। परन्तु वह क्या उनसे विवाह करके सुखी हो सकती है? यही मैं बार-बार सोचता रहा। शोभा का ध्यान आते ही मुझे बड़ी ग्लानि हुई। मैं सोचने लगा, ऐसे महान् व्यक्ति की पत्नी को इस रूप में देखने का मुझे क्या अधिकार है। क्या यह इस मनुष्य के प्रति धोखा नहीं है? किन्तु जब डाक्टर साहब के मुख से ही शोभा का सन्देश मुझे मिला तो मैं एकदम सिहर भी उठा। मैं जानना चाहता था कि शोभा मुझे किस रूप में देख रही है। वह मुझसे कैसा व्यवहार करना चाहती है? सोचते-सोचते मुझे उसकी वह बात याद आ गई जिसमें उसने मुझसे चरित्र को प्रेम से ऊँचा, अछूता रखने का वर्णन किया था और जब डाक्टर साहब के सामने उसने कई बार मेरा उल्लेख किया तब निश्चय ही शोभा की भावना में पहले से कोई अन्तर नहीं पड़ा है ऐसा मुझे लगा। किन्तु मैं अपने मन की उथल-पुथल में जैसे-जैसे बढता जाता था वैसे ही मुझे अपने प्रति घृणा और शोभा की उच्चता के प्रति आस्था होती जाती थी। कभी-कभी मैं सोचता कि उस नारी की शिक्षा-दीक्षा ने उसे भारतीय रुचि से ऊपर उठा दिया है और मुझमें निश्चय ही वही भारतीय कमजोरी है जो एक नारी के हँसने मात्र से उसे अपने प्रति आकृष्ट समझकर दूसरे रूप में देखना प्रारम्भ कर देती है। मैंने देखा कि इस प्रकार के प्रेम की कल्पना करना शोभा के प्रति अन्याय है इसे दूर करना ही होगा। मैं खद्योत सूर्य को चाहता हूँ। यह न मेरे लिये ही अच्छा है और उसका तो कुछ बिगड़ ही नहीं सकता। इसी तरह की उधेड़-बुन में मैं पड़ा रहा। उस दिन मैंने एक तरह से उपवास ही कर डाला।

इसी बीच में मैंने हेड वार्डर की सहायता से वकील साहब के पास आने वाली साम्यवाद की बहुत-सी पुस्तकें पढ़ डालीं। वे तो साम्यवाद का खण्डन करने के लिये पढते थे और मैं जैसे-जैसे वे किताबें पढ़ता था, मुझे साम्यवाद के सिद्धान्त जानने की इच्छा और प्रबल होती जाती थी। मैंने लेनिन का—
State of Revolution.

ट्राटस्की का—Dictatorship vs Democracy
हार्नशा का—Serving of Socialism
मेकडानल्ड का—The Socialist Movement.
कार्लमार्क्स का—Capital तथा अन्य कई पुस्तकें पढ़ डाली।

साम्यवाद समाजवाद पर हिन्दी में भी दो-तीन पुस्तकें पढ़ीं। क्रोपाटकिन, टाल्सटाय के ग्रन्थ पढे। जब साढ़े पाँच मास के बाद एक दिन मेरा छुटकारे का फरमान आया तो इच्छा हुई कि कुछ दिन यहाँ और रह जाता। किन्तु अब तो जाना ही था। न जाने भविष्य किस रूप में मेरी प्रतीक्षा कर रहा था।

५

जेल से बाहर आते समय जेलर ने कार्यालय में बुलाकर कहा—'तुम्हरे नाम से कुछ रुपया जमा है। लेते जाओ। इसके साथ उन्होंने रजिस्टर निकाल कर पचास रुपये मुझे दिये और हस्ताक्षर करा लिये। मैंने नाम और पता देखा तो डाक्टर ने रुपया भेजा है। उसमें लिखा था अजय के छुटकारे के समय मार्ग-व्यय के लिये यह रुपया। मैं रुपया लेकर बाहर आया। सचमुच मुझे उस समय रुपये की आवश्यकता भी थी। मैं इससे पूर्व स्वय नहीं जानता था कि आगे कैसे होगा। किन्तु अप्रत्याशित इस धन ने जहाँ मेरी समस्या का हल कर दिया वहाँ डाक्टर साहब की सूझ पर भी मुझे श्रद्धा हुई। जेल के भीतर उससे बाहर जाने का उत्साह था वह बाहर निकलते ही न जाने कहाँ चला गया। मैं अपने को दिग्भ्रान्त सा शून्य अनुभव करने लगा। मैं सीधा आकर कांग्रेस कमेटी के कार्यालय में ठहरा। कुछ लोगों ने मेरा स्वागत किया। इसके साथ ही वहाँ प्रधान ने मुझे बुला भेजा। भोजन कराया और मुझसे पूँछा कि मैं कहाँ जाना चाहता हूँ ताकि मुझे किराया दे दिया जाय।'

मैंने उत्तर दिया—'किराये की मुझे आवश्यकता नहीं है। एकाध दिन ठहर कर अपनी बहन से मिलने मेरठ जाऊँगा।' इस पर वह चुप हो गये।

उस समय देश में असहयोग का आन्दोलन खूब तेजी से चल रहा था। हजारों की सख्या मे स्वयसेवकों के प्रदर्शन प्रतिदिन होते। लोग काग्रेस के मेम्बर बनते। खादी का प्रचार होता विलायती वस्तुओं का बायकाट भी वैसे ही जोरो से चल रहा था। लडके स्कूल और कालेज छोड रहे थे। नये विद्यालय जहाँ तहाँ स्थापित हो रहे थे। मुसलमानों मे खिलाफत और हिन्दुओं में असहयोग की आग काफी तेजी से भडक रही थी। स्त्रियों में भी काफी जोश था। देखने से मालूम होता था कि स्वराज मिलने मे अब देर नहीं है। उसी दिन शाम को सुना कि देश के कोई नेता पकडे गये। काग्रेस की कार्यकारिणी सभा अवैध करार दी जाकर उसका अधिवेशन बन्द करा दिया गया है। नगरों में हडतालें हुईं। इधर गुप्तचरों की कृपा भी मेरे ऊपर रहने लगी। मैं एक दिन सहारनपुर ठहरकर शाम को मेरठ चला गया। दूसरे दिन सुधी और शोभा से मिलने के लिये प्रार्थनापत्र भेजा। मालूम हुआ सुधी से मैं मिल सकता हूँ, शोभा से नही। क्योंकि शोभा से मेरा कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। सुधी हस्पताल में थी। दो एक दिन मे रिहा होनेवाली थी। जब मैं हस्पताल में ले जाया गया तो देखा सुधी कमजोर है। कुछ ठीक होते ही उसे रिहाई मिल जायगी। डाक्टरों ने हस्पताल में उसके लिये काफी अच्छा प्रबन्ध कर रखा था। जिस लेडी डाक्टर और नर्स की देख-रेख में वह थी वह बडी सहृदय थी। पाँच दिन बाद सुधी को एक सुबह छोडा दिया गया। शोभा को प्रयत्न करके भी नही देख सका। अन्त में सुधी को लेकर डाक्टर साहब के घर आ गया। घर खाली था। डाक्टर साहब पकडे गये थे। उस समय घर में एक बुढिया, जो उनकी रिश्तेदार थी, रहती थीं और एक नौकर। लाचार होकर सुधी का इलाज एक वैद्य से आरम्भ कराया। मैं सुबह-शाम उसको देखता और दिन भर काग्रेस के सदस्य बनाता। डाक्टर साहब बरेली जेल में थे। चँदौसी से बरेली दो घटे का मार्ग था। मास में एक बार मुलाक़ात होती थी। मैं एक बार कुछ अन्य साथियों के साथ उनसे मिल आया था। डाक्टर साहब की आज्ञा थी कि काम किसी तरह ढीला न पड़े। इसलिये शान्ति-पूर्वक काम भी होना चाहिये। प्रदर्शन कम हो। बस बारह दिन मे ही सुधी ठीक हो गई। उसने स्त्रियों में काम करना आरभ कर दिया। जेल के बाद से सुधी में बहुत परिवर्तन हो गया था। वह बहुत कम बोलती। दिन भर काम करती, कभी-कभी

रात के ग्यारह-बारह बजे तक लौटती। एक दिन प्रातःकाल जब मैं बाहर जा रहा था तो देखा प्रमथेश इक्के पर बैठे चले आ रहे हैं। मैंने कवि को आदर के साथ उताए उनके जलपान का प्रबन्ध किया। इतने में सुधी ऊपर से उतरकर आई। मैं सुधी के ऊपर कवि के स्वागत का भार डालकर बाहर निकल गया। उन दिनों मेरा काम हरिजनों को काग्रेस का सदस्य बनाना था। मैं उन्हीं के मुहल्ले में सुबह से शाम तक रहता और उन्हे काग्रेस के ध्येय समझाता। एक पाठशाला भी पिछले चार-पाँच दिन से खोल दी थी। वहाँ एक हरिजन लडका जो मुरादाबाद से कालेज छोडकर आया था, पढ़ाने लगा था मैं भी पढाता। पहली बार हरजनों के मुहल्ले में जाते मुझे बडी घृणा हुई। किन्तु अपना ही दोष समझकर बलात् उनके सपर्क में जाने का साहस किया। दरिद्रता के कारण या स्वभाव से ही उनके रहने सहने का ढग उतना गन्दा था कि पास से निकलना कठिन था। कुछ तो गरीबी और कुछ स्वय ये उस अवस्था मे अपने को बनाये रखने के इतने आदी हो गये हैं कि स्वास्थ्य की बातें उन्हें मजाक मालूम होती थीं। एक तरह से वे उस गंदी अवस्था मे रहने मे ही ठीक समझते थे। मुरादाबाद से आया हुआ लड़का भी पहले तो मिलने से जी चुराता था पर हमारे कहने से उसने यह काम किया बडे बेमन से। मेरे साथ और भी कई काग्रेस के कार्यकर्ता थे जो यथासमय आकर उन्हें साफ सुथरा रहने का ढग सिखाते। पाठशाला में दस बारह लड़के लडकियाँ ही पहले थे। फिर धीरे धीरे काम से निपट कर आनेवाले जवान भी शामिल होने लगे। मैं चाहता था सुधी स्त्रियों को पढाने का भार ले किन्तु उसके स्वास्थ्य के कारण उस पर मैंने बहुत जोर नहीं दिया था। उन्हीं दिनो मालूम हुआ शोभा वहाँ कुछ पढ़ाती लिखाती रही है। सबसे बडी कठिनाई मुझे उनको समझाने की हुई। उनकी समझ में कोई बात आती ही न थी। न जानें क्यों वे उसी अवस्था में प्रसन्न थे। मैं सोचता था साम्यवाद ही इनके उद्धार का एक मात्र उपाय है। दस करोड़ हरिजन भारत के लिये कितने पगु साबित हो रहे हैं। यहाँ का वर्ग-विभाग इतना अधूरा है कि उसके विभाजन ने एकता को बिल्कुल नष्ट कर दिया है। श्रेणी विभाग वास्तविक रूप से जाति का तो है ही दरिद्रता का भी है। वस्तुतः यह श्रेणी विभाग के कारण ही एक जाति दूसरी जाति से भिन्न है। देश के कल्याण के लिये पहले उसी को दूर करना होगा। जब तक समता की भावना पूर्ण रूप

से जाग्रत् नहीं होती तब तक किसी प्रकार का कल्याण नहीं हो सकता। इधर कुछ दिनों इन हरिजनों के साथ काम करते करते मुझे कई नए अनुभव हुए। पहला यह कि ये लोग गंदे मलिन रहते हुए भी हृदय के शुद्ध हैं और वे थोड़ी सी शिक्षा के साथ ही सच्चे नागरिक बनाये जा सकते हैं। इनमे साहस का अभाव है। कोई भी काम नया ये नहीं कर सकते। रूढियों के पक्के दास हैं। किन्तु ये सब बातें शिक्षा के अभाव में हैं। मैंने अपने कुछ साथियों के साथ जो काम प्रारभ किया उसका बहुत सुन्दर प्रभाव हुआ। कुछ बालक तो बेहद तेज निकले। प्रारम्भ के चौथे दिन वे साधारण हिन्दी की किताब पढने लगे। भीखा भगी ने एक दिन आकर बताया सोमा सब कुछ भूल कर रात रात पढ़ती रहती है। रात को सपने में भी किताब का पाठ ही दुहराती है। एक दिन तेल नहीं था तो रात को खमे की लालटेन के पास पढती रही। इसी तरह और भी दो तीन लड़के थे जो तीन दिन में जोड़ सीख गये। पहाडे याद कर डाले। साथ ही कुछ ऐसे भी थे जो एक मास तक पढाने के बावजूद वर्णमाला के अक्षर भी नहीं सीख पाये। पॉचू घर कमाने के बाद नहाता और फिर पाठशाला में आकर पढता। उसने तीन दिन मे वर्णमाला सीखी। मैंने इन सबकी पढाई का एक चार्ट बनाया था जिससे मालूम होता था कौन लडके ने कितने दिन में पढना तथा जोड़ बाकी सीखी। नगर के कुछ रईसों से मैं कुछ चन्दा भी मॉग लाया था। इधर सुधी ने घर घर में चरखे का प्रचार-कार्य शुरू किया था। वह कभी-कभी यहाँ भी आ जाती। मुझे एक ऐसी स्त्री की आवश्यकता थी जो इन हरिजनों की स्त्रियों को पढा सके। सुधी वह काम नहीं करना चाहती थी और प्रमथेश के आगे से कदाचित् यह काम भी ढीला हो गया था। फिर भी मैं ठीक नहीं कह सकता कि वह कितना काम करती थी। क्योंकि, मैं दिनभर बाहर रहता।

मुझे अब मालूम हुआ कि सेवा करने में भी बड़ा सुख है।

एक दिन रात को जैसे ही मैं घर पहुँचा तो प्रमथेश बिस्तर बाँधे तैयार बैठे थे। सामने सुधी का सदूक था। मैंने पूछा—'यह मैं क्या देख रहा हूँ?'

तो बोले—'सुधी की तबियत खराब रहती है। इधर नैनीताल में मेरे एक मित्र हैं बहुत बडे रईस। उनका आग्रह है मैं आऊँ। इसलिये सुधी को भी लेता जा रहा हूँ कि इसका स्वास्थ्य ठीक हो जायगा।'

मैंने कहा—'ठीक है। किन्तु सुधी ने मुझे इससे पूर्व सूचना भी नहीं दी, कुछ रुपये का ही प्रबन्ध कर देता।'

'रुपये की कोई आवश्यकता नहीं है। मेरे पास काफी रुपया है। इसके अतिरिक्त वह रईस और किसलिये हैं। तुमको तो कोई आपत्ति नहीं है।' प्रमथेश ने पूछा।

मैंने उत्तर दिया—'मुझे क्या आपत्ति हो सकती है कविवर, सुधी कोई बच्चा तो है नहीं।'

'मैं आज सोचकर आया था कि आपको हरिजन पाठशाला में ले जाता। आपके कुछ गीत मैंने उन्हे याद कराये हैं। खैर, आप सुधी को ले जा रहे हैं तो ले जाइये।'

इतने में सुधी आ गई। उसने कहा—'मैं जा रही हूँ एक मास बाद लौटूँगी। यदि वहाँ काम की जगह हुई तो वहीं काम करूँगी।'

मैं—'अच्छा' कहकर चुप हो गया। गाडी में अभी दो घटे की देर थी। सुधी अपना सामान बाँधने लगी। मैंने देखा, वह एक-एक करके सब चीजें बाँध रही है जैसे उसे लौटना न हो। तब मैंने फीकी हँसी हँसते हुए पूछा—'क्या अब लौटने का इरादा नहीं है?'

इस पर सुधी एकदम काम करते-करते ठहर गई और मेरी आँखों मे देखती रह गई।

थोडी देर बाद उसने कहा—'तो न जाऊँ फिर।'

मैंने कहा—'नहीं जाओ, अवश्य जाओ। वहाँ जाकर तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक हो जायगा।'

वह मुझे ऊपर ले जाकर बोली—'मैंने प्रमथेश से विवाह करने का निश्चय किया है।'

मैंने उत्तर दिया—'ठीक तो है। इस पहाड़ से जीवन को काटने के लिये सहारा चाहिए। मित्र चाहिये। वही तुम कर रही हो। यह ठीक है।'

इसके बाद न जाने क्या सोचकर वह मेरे कधे से लग कर रोने लगी। रोते-रोते उसकी हिचकी बँध गई। मैं चुपचाप खड़ा रहा। जब रोते-रोते कुछ शान्ति हुई तब उसने कहा—'तुम्हें बुरा तो नहीं लग रहा।'

मैंने जवाब दिया—'नही, बिलकुल नहीं। मैं तुम्हारे सुख में सखी हूँ

सधी। तुमको जिस तरह सुख मिले वही मैं चाहता हूँ।'

सुधी और भी रोने लगी। मैं समझ नहीं पा रहा था कि क्या कहकर इसे संतोष दूँ।

अन्त में मैं नीचे उतर आया। जब सवारी लाने के लिये मैंने प्रमथेश से कहा तो वे बोले—'सुधी से पूछो, मैं नहीं जानता।'

सुधी ने नीचे उतरते हुए कहा—'टाँगा मँगा दो अजय।'

मैंने नौकर से कहकर टाँगा मँगा दिया। असबाब रखा गया। जब मैं साथ चलने लगा तो प्रमथेश बोले-—'तुम इतनी रात को कहाँ जाओगे। यहीं आराम करो।'

सुधी ने कहा—'नहीं आने दो। मैं एक तरफ बैठ गया।'

'रास्ते भर कोई बात नही हुई। यथासमय गाडी आई और दोनों को मैंने गाडी में बैठा दिया।'

अन्त में मैंने प्रमथेश से कहा—'कुछ गीत तथा कवितायें बनाकर भेज सके तो हमारे प्रचारकार्य में उनसे सहायता मिलेगी।'

'कवि ने स्वीकार किया।'

सुधी बोली—'पत्र का उत्तर देना।'

वह मैंने स्वीकार किया। गाडी चल दी। मैं बहुत देर तक खडा देखता रहा। मौन, मूक, न जाने कब तक खड़ा रहा यह नहीं मालूम। अन्त में कुली ने आकर कहा बाबूजी, चलिये।

सुधी चली गई। कुछ सूना-सूना लगा कुछ बोझ भी हलका हुआ। स्टेशन से लौटकर घर आते ही मैं खाट पर जा लेटा। नौकर ने खाने के लिये कहा तो वह भी मैंने 'इच्छा नहीं है' कहकर टाल दिया। न जाने क्यों सुधी की उपस्थिति मे तथा उसके जाने के बाद भी मुझे एक प्रकार का सतोप हो रहा था किन्तु खाट पर लेटते ही सुधी के जीवन के साथ मेरे जीवन की जो गाँठे बँधी थी वे एक एक करके खुलने लगीं और एक एक गाँठ में अनन्त स्नेह की धाराएँ प्रवाहित होकर सामने आने लगीं। मुझे स्पष्ट ही अपना दोष दिखाई देने लगा। मुझे मालूम हुआ जैसे मेरे ही कारण सुधी प्रमथेश के साथ नैनीताल चली गई है। मुझे स्वय उसको लेकर जाना चाहिये। उसके स्वास्थ्य का ध्यान रखना मेरा कर्तव्य था। फिर विचार आया यदि सुधी के

साथ मेरा पति पत्नी का संबन्ध हो जाता तो हम दोनों कितने सुखी होते ? धीरे-धीरे उसके सौन्दर्य, स्मय, आलिगन, प्रेमालाप की बातें जैसे सबकी सब मेरे सामने आकर खडी हो गईं। व्रजमोहन के समय में सुधी के प्रति लगन, जिज्ञासा, उसका एकान्त में मुझसे मिलने पर गले मे चिपट रोना आदि बातें झूमने लगीं। उसके बाद बचपन की बाते, उसकी चचलता, उसका मेरे प्रति स्नेहबीज याद आया। मुझे लगी जैसे सुधी मुझे सदा के लिये छोड गई है। अब उसके मिलने की संभावना नहीं है। उसने मुझे कायर, समाज-भीरु समझकर मेरा त्याग कर दिया है। इसके साथ शोभा का चित्र सामने आ गया। जिस कमरे में मैं सो रहा था वह शोभा का ही कमरा था। उसमे काफी चित्र भी थे जो शोभा ने बनाये थे। मैं चुपचाप उठकर उन चित्रों को देखने लगा। एक तरफ डाक्टर साहब और शोभा दोनों का एक चित्र था। मैं चाहता था, केवल शोभा का चित्र होता तो मुझे कितना सतोष होता। मैंने डरते डरते वह चित्र उतारा और शोभा को देखने लगा, किन्तु डाक्टर साहब मेरे और शोभा के बीच में आकर खडे हो गये। मेरे न चाहने पर भी डाक्टर साहब के चित्र पर मेरी दृष्टि पड जातीं तब शोभा के प्रति संपूर्ण आकर्षण की, प्रेम की धारा क्षीण हो जाती। मुझे ऐसा लगता मानों डाक्टर साहब शोभा के प्रति मेरे स्नेह को देखकर मेरा उपहास ही नही करते, मुझे क्रोध से देख भी रहे हैं और शोभा मुझे घृणा से देख रही है। हारकर मैंने वह चित्र रख दिया। इसके बाद सामने रखी हुई मेज के दराज खोले और उन्हे देखने लगा। वहाँ भी दो हाफटोन साईज के चित्र डाक्टर साहब के ही मिले। मैंने उन्हे जहाँ का तहाँ रख दिया और खाट पर आ लेटा। पडा पडा सोच ही रहा या कि नौकर ने आ-कर एक पत्र देते हुए कहा—'यह पत्र बीबी जीआपको दे गई हैं। मुझे काम के मारे याद नहीं रही थी। अब काम करके सोने से पहले याद आई।' इतना कहकर वह चला गया। मैंने पत्र लेकर उसके लिफाफे को देखा। वहाँ ऊपर कुछ भी नहीं लिखा था। मेरा नाम भी नहीं। भीतर बहुत सक्षेप में जो कुछ लिखा था वह इस प्रकार था—

प्रणाम,

मैं प्रमथेश के साथ जा रही हूँ। स्वास्थ्य सुधारने नहीं उनके साथ रहने। तुमसे मुझे ऐस आशा नही थी। कह नहीं सकती अब जीवन में

समय आवेगा कि मैं तुमसे फिर मिल सकूँगी। यत्न करूँगी कि न मिलूँ। मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया है। किन्तु मैंने जो तुम्हे देना चाहा वह तुम न ले सके। अच्छा, क्षमा—

अनुगृहीत

सु०

पुनश्च—

अधिक नही, पाँच सौ रुपया खर्च के लिये जुटा सकी हूँ वह कल जाकर सेठ साधुराम के यहाँ से ले लेना।

पत्र संक्षिप्त होते हुए भी सब कुछ बता रहा था। पहले दो वाक्यों में निडरता निर्भीकता थी। तीसरे वाक्य में वह संपूर्ण इतिहास जो मेरे और सुध के बीच में घटित हुआ। चौथे में उसके स्नेह की विफलता और भविष्य का निर्देश।

मैंने न जाने कितने बार वह पत्र पढा किन्तु प्रत्येक बार जैसे मेरे कानों में कहता, 'मनुष्य इतना भीरु कायर होता है यह आज ही जाना। तुम कायर हो, डरपोक हो। एक नारी के बोझ को न सँभाल सके। उसके प्रेम को ठुकरा दिया। उसके समर्पण को पैरों के नीचे रौंद डाला।' आदि बहुत-सी इसी प्रकार की बातें रह-रहकर मेरे रोम-रोम से उठ रही थी। मैंने एक बार सम्पूर्ण विचारों को दबाकर सो जाने की चेष्टा की पर सो न सका। उस समय रात के बारह बजे का समय होगा। जब लेटे न रहा गया तब मैं उठकर टहलने लगा पर आवाज तीव्रतर होती जा रही थी। प्रत्येक चित्र जो वहाँ टँगा था, मेरे ऊपर हँस रहा था। घडी की टिक-टिक मानों इसी प्रकार का प्रत्येक वाक्य बोल रही थी 'तुम कायर हो, डरपोक हो, नीच हो। तुमने हृदय की अवहेलना की, सौंदर्य की अवहेलना की, प्रार्थना की अवहेलना की, समर्पण की अवहेलना की।' इसके बाद एक प्रकार के सम्बोधन निकलने लगे—'पापी दुष्ट, नीच। अब अकेले नारकीय जीवन का फल चख।' मैं अपने को बहुत सँभालता, विवेक को जागरूक करता, तर्क को पास बुलाकर उसके द्वारा समाधान कराना चाहता किन्तु सब निष्फल! सब व्यर्थ! जब मुझसे न रहा गया तब एक साथ उठकर घर से बाहर निकल आया। उस समय अँधेरा था। गलियों में कुत्ते भूँक रहे थे। मैं आकृष्ट-सा, बेसुध-सा, आहूत-सा एक तरफ

चल दिया। घूमता-घामता हरिजन बस्ती के पास जा पहुँचा। वहाँ भी उस समय सुनसान था। मुझे देखकर चार-पाँच कुत्ते दौड़ आये और लगे मेरा स्वागत करने। वह समय निकट ही था कि उनमें एकाध दौड़कर मुझे काट लेता कि मैंने एक पत्थर उठाकर एक कुत्ते के तानकर मारा। कुत्ता चीं-चीं करता पीछे भागा इतने में एक आदमी की आवाज आई—'कौन है?'

मैंने कहा—'कोई नहीं, मैं हूँ। यह कुत्ते बुरी तरह से मेरे पीछे पड़ गये हैं।'

उसने कहा—'अजय बाबू हैं क्या?'

मैंने कहा—'हाँ!'

वह मेरे पास आ गया। उस समय मुझे मालूम हुआ साधो भगत है। वही इस बस्ती का सबसे बड़ा बूढा है। उसने कुत्तों को भगा दिया और पास आकर बोला—'कहो बाबू, इस समय कैसे? उसकी आवाज़ सुनकर उसका लडका जो पचास के लगभग होगा, लालटेन लेकर आ गया। मुझे देखकर वह सकपकाया—

'बाबू, यह तुम्हारा कैसा भेस है? क्या बात है?'

उन दोनों ने लाकर मुझे चौपाल में बैठाया और लगे प्रश्न करने। मैं स्वयं आश्चर्य में था कि क्या उत्तर दूँ।

मैंने कहा—'ऐसे ही घूमते-घूमते इधर चला आया। नींद नहीं आ रही थी।'

बूढा बोला—'नींद न आने पर एक डेढ फर्लाङ्ग अँधेरे में चले आना समझ में नहीं आता।'

लड़का बोला—'कुछ बात जरूर है बाबू साहब! आपका चेहरा बहुत उतर रहा है। ऐसी हालत में तो मैंने तुम्हे कभी नहीं देखा था। बैठ जाओ।'

मैं बैठ गया। थोडी देर बाद उन्होंने फिर वही प्रश्न किया। मैं तब तक स्वस्थ हो गया था।

मैंने उत्तर दिया—'साधो, मैं रात को नींद में इसी तरह चल पड़ता हूँ। कभी-कभी मैं इसी तरह घर से बाहर निकल आता हूँ और दूर तक चला जाता हूँ।'

यह बीमारी बूढ़े और उसके लड़के की समझ में आई या नहीं यह तो मैं नहीं कह सकता। किन्तु उसने बड़ी दया दिखाई और बोला—

'क्या बताऊँ तुम्हारे लायक़ कपड़े तो हमारे पास हैं नहीं।'

मैंने कहा—'अब मैं ठीक हूँ घर चला जाऊँगा। तुम सोओ।'

वे दोनों बोले—'नहीं, हम तुम्हें अकेले नही जाने देंगे। चलो पहुँचा आवें।' वे दोनो लालटेन और एक-एक लट्ठ लेकर मुझे पहुँचाने के लिये तैयार हो गये। मैं फिर घर की ओर लौट पडा। मार्ग में बूढ़े ने पूछा—'तुम्हे इस तरह आते देख बहू ने नहीं रोका।'

मैंने कहा—'मेरा ब्याह नहीं हुआ है साधो।'

दोनों को यह बात बड़े अचभे की लगी। बूढा बोला—'ब्याह नहीं हुआ। इतनी उमर हो गई ब्याह नहीं हुआ। बड़े अचरज की बात है भैया!'

मैंने कहा—'हाँ, अभी तक नही हुआ।'

लड़का बोला—'बडे आदमी हैं। कोई पढ़ी लिखी जोग लड़की मिले तब तो ब्याह हो काका।'

बूढा बात पर बात करता जा रहा था। मैं चुप था। मुझे बहुत-सी बातों का उत्तर न देते देख दोनो चुप हो गये। घर आ गया था। मैं चुपचाप दरवाजा खोल उनको बिदा करके फिर उसी कमरे में आ गया। इधर बाहर घूमने और हवा लगने के कारण नींद आने लगी। मैं तकिये के सहारे लेट गया और कब नीद आ गई, याद नहीं।'

सबेरे नींद खुलते ही सिर बेहद भारी मालूम हुआ। कुछ-कुछ बुखार अभी था। नौकर जब चाय लेकर आया तो बोला—'तीसरी बार आया हूँ। आप उठे नही थे।'

मैंने उत्तर दिया—'ठीक नही हूँ। तुम चाय रख जाओ, पी लूँगा। नौकर के जाने के बाद फिर मेरे मस्तिष्क में रात की घटनाएँ भर गईं। कल तक जिस सुधी के सम्बन्ध मे सोचने का अवकाश ही नहीं था, रात भर मे उसकी अनुपस्थिति ने मुझे कितना काहिल, कितना पागल बना डाला उसका वर्णन भी नही किया जा सकता। कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। डाक्टर-साहब के घर की एक एक चीज खाने को दौड रही थी। कुछ देर पडे रहने के बाद जब चिन्ता से किसी प्रकार भी मुक्ति न मिली तब मैं कपडे पहनकर सेठ के यहाँ गया। वे उस समय तक आये भी न थे। मुनीम बैठा था मुझे देखते ही बोला—'मास्टरानी जी तुम्हारे नाम पाँच सौ रुपया जमा करा गई हैं। वही लेने आये होंगे।'

मैंने कहा—'हाँ।'

तब मुनीम ने कहा—'रुपया बारह बजे से पहले नहीं मिलेगा। सेठज आज देर से आवेंगे।'

मैंने कहा—'कोई बात नहीं मैं फिर आकर ले लूँगा। इतना कहकर जब चलने लगा तब मुझे ध्यान आया—'जो सुधी तुम्हे इस तरह छोड़कर चली गई। क्या उसका रुपया लेना कायरता नहीं है ? नहीं, मुझे उसका रुपया नहीं चाहिए। मैं उसमें से एक कौड़ी भी न लूँगा। यह मेरी मनुष्यता का अपमान है। किन्तु यदि रुपया यहाँ पड़ा ही रहा तो सुधी को कैसे मालूम होगा कि मैंने रुपया नहीं लिया है। उसका कोई ठीक नहीं, आवे न आवे। एक बार इच्छा हुई सेठ के पेट मे जाने की अपेक्षा रुपया ले लेना क्या बुरा है ! और मैंने भी तो सुधी के साथ कम भलाई नहीं की है। यदि कुछ रुपया मैं ले ही लेता हूँ तो बुराई क्या है ! इसी उधेड़बुन मे मैं चला जा रहा था कि गाडी में बैठे सेठ ने मुझे पुकारा।

मेरे पास जाने पर वह गाडी से नीचे उतर आया और बोला—'अजय बाबू, मैं एक हजार रुपया तुम्हारी हरिजन पाठशालाओं को देना चाहता हूँ। मैंने सुना कि तुम्हारी पाठशाला मे खूब काम हो रहा है।'

मैंने कहा—'हाँ, मैं चाहता हूँ उसका ट्रस्ट बना दिया जाय। उसीकी देख-रेख में पाठशालाओं का काम हो।'

अच्छी बात है। और हाँ, मास्टरानी जी तुम्हारे नाम पाँच सौ रुपया जमा करा गई हैं। सो ले लेना, और इधर उधर की बातों के साथ रुपये की ट्रस्ट की मीटिंग के सम्बन्ध में समय का निश्चय करके मैं घर को लौट पडा। घर में आकर सिर दबाकर लेट गया। बारह बजे के लगभग सेठ का नौकर आया तब भी मैं नहीं गया। थोड़ी देर बाद नौकर ने लाकर एक पत्र दिया। वह डाक्टर साहब का था। उसमें उन्होंने बरेली मिलने बुलाया था। दूसरे दिन सेठ तथा कुछ अन्य नागरिकों की देख रेख में हरिजन पाठशालाओं के संचालक के लिये मिली हुई रकम के लिये एक ट्रस्ट बनाकर शाम की गाड़ी से बरेली चला गया। वहाँ डाक्टर से मिलने के लिये दो दिन ठहरना पडा। भेंट के समय डाक्टर साहब के पूछने पर मैं सुधी के सबध में सब कुछ कह डाला और अपने मन को बेचैनी का उल्लेख भी

किया तो वे बोले 'तुम्हे कोई भी दोष नही दे सकता। तुम निरपराध हो।'

मैंने कहा—'मै घर पर अब एक दिन भी नही रहना चाहता। मेरा कुछ ठीक नही है मैं कहाँ जाऊँ।' इस पर उन्होंने मुझे तरह-तरह से सान्त्वना दी। अत मे बोले न हो एक बार शोभा से मिल आओ। उसका बहुत दिनों से कोई समाचार नहीं मिला है। तुम उससे भाई के नाते मिल सकते हो।

मैं 'अच्छा मिलने की चेष्टा करूँगा' कहकर बिदा हुआ। जाते हुए उन्होंने कहा तगी मत सहना। सेठ साधोराम से मेरे नाम पर जितना चाहो खर्च के रुपये ले लेना। मैं चिट्ठी लिखे देता हूँ। इतना कहकर उन्होंने मुझे एक चिट्ठी लिख दी। मैं नमस्कार करके लौट आया। डाक्टर साहब इन दिनों खूब प्रसन्न थे। वैसे भी उनको कोई विकार छू नहीं गया था। मैं दूसरे दिन फिर घर लौटकर आया और साधोराम से डाक्टर के हिसाब में पाँच सौ रुपया लेकर मेरठ गया। सेठ ने कहा—'मास्टरानीजी का रुपया पड़ा है जब चाहे ले जाना।' मेरठ में जाते ही शोभा से भेंट हुई। उनसे ज्ञात हुआ कि पद्रह दिन बाद कदाचित् छुटकारा होगा। सुधी की बात सुनकर उसने कहा—'यह तो मैं पहले ही जानती थी।' शोभा ने न तो मेरे प्रति कोई स्हानुभूति दिखाई न पहले की तरह हँसकर बातचीत की। एक प्रकार की गंभीरता उसके चेहरे पर थी। बहुत दिनों बाद देखने पर भी मैं उसके सामने किसी प्रकार की उत्सुकता, प्रेमविह्वलता न दिखा सका। डाक्टर साहब के सबंध में अवश्य उसने दो-चार प्रश्न किये जिनका मैंने ठीक उत्तर दे दिया। अन्त में जब चलने लगा तब भी उसने कुछ न कहा। केवल इतना कहा, इधर तुम्हारा स्वास्थ्य गिर रहा है, ध्यान रखना। इसके बाद वह हाथ जोडकर चली गई। मुझे शोभा से मिलकर बडी निराशा हुई।

जब मैं शोभा से मिलकर लौटा तो मैंने पाया कि जीवन के सब द्वार मेरे लिये बन्द हो गये है। आज मैं सचमुच अनुभव कर रहा था कि मैं बिलकुल अकेला हूँ। मुझे भर्तृहरि का एक श्लोक याद आ रहा था। जिसका भाव यह है—

'जिसको मैं याद करता हूँ वह मुझे नही चाहती किसी और को चाहती है। वह आदमी किसी और को चाहता है। जो मुझे चाहती है उसे मैं नहीं चाहता।' यद्यपि वह श्लोक पूरी तरह मेरी परिस्थिति से मिल नही रहा था, फिर भी कुछ अंश तो जैसे भर्तृहरि ने मेरे लिये ही लिखा था। कमलिनी मुझे

चाहती थी मैं उसे नही चाहता था। चाहने पर जैसे इच्छा नहीं होती ? सुधी को जब तक मैं चाहता रहा तब तक वह अलग रही। जब उसने मुझे अपनाना चाहा तो शोभा बीच मे आकर खडी हो गई। अब शोभा ने भी मुँह फेर लिया। रात को धर्मशाला में ठहरना अनुचित समझ स्टेशन पर आ बैठा। रात भर वहीं पड़ा रहा। सवेरे लाहौर से आनेवाले फ्राण्टियर मेल का समय था। मैंने सीधा बबई का टिकट खरीदा और गाडी आते ही उसमें जा बैठा। दूसरे दिन बबई जा पहुँचा। दो दिन बबई में इधर-उधर घूमता रहा। कभी जुहूँ, कभी परेल, कभी माटुगा, कभी मलाबार हिल घूमता रहता। एक दिन शाम को चौपाटी पर एक बेंच पर बैठा था कि सहारनपुर जेल के कैदी चिरागअली ने आकर मुझे सलाम किया। मैं न जाने किस ध्यान में बैठा था, चिरागअली को सामने देखकर मैं विस्मित हो गया।

मैंने कहा—'तुम चिरागअली !'

'जी बाबू जी ! आप यहाँ कहाँ ?'

मैंने कहा—'ऐसे ही घूमने चला आया हूँ।'

'तुम कैसे, क्या तुम्हारा बाप मिल गया ?'

उसने जवाब दिया —'हाँ, वह दस साल के लिये जेल में हैं। जिस जेल मे मैं था उसी में वह हैं।'

मैंने पूछा—'तो क्या जेल में ही मेल हुआ ?'

'नहीं। जेल से छूटने के बाद मैं उसका पता पूछता पूछता लुधियाना गया वहाँ मालूम हुआ कि शायद सहारनपुर की जेल में हैं। मैं फिर सहारनपुर वापस आया और उससे मिला। उसे देखते ही मैंने कहा, तू मेरा बाप नहीं हो सकता। तू तो वही बदमाश है जिसे कई बार बेतों की सजा मिल चुकी है।' वह हैरान था क्या बात है। जब मैं चलने लगा तो वह मुझे बुलाकर कहने लगा—'सुन' तू तो यही जेल मे था न ?'

मैंने कहा—'हाँ, मैं अपने बाप की खोज मे अफ्रीका से आया था।'

वह बोला—'अच्छा तू उस काली कलूटी का लड़का है। हाँ मैं थोडे ही दिन उसके पास रहा था। मर गई वह !'

मुझे बडा गुस्सा आ रहा था। अगर बाहर होता तो मैं निश्चय ही उसे माँ की बेइज्जती की सजा देता।

इसके बाद उसने दस बारह और हब्शिनों के नाम गिना दिये। अन्त में बोला—'तू मेरा बेटा है तो ला, तेरे पास क्या है?'

मैंने कहा—'है तो कुछ नहीं।'

उसने चार-पाँच गालियाँ देकर मुँह फेर लिया। मैं लौट आया। बाबू साहब, अब समझता हूँ मैंने हिन्दुस्तान आकर बड़ी गलती की। फिजूल बाप की मुहब्बत के फेर मे पड़कर परेशान हुआ।

इसके बाद उसने मुझसे अपने घर चलने के लिये कहा—'मैं चुपचाप उठ कर चल दिया।'

चौपाटी से ट्राम में बैठकर हम लोग भिण्डी बाजार से आगे पुल के पास उतरे। वहाँ से गलियों, बाजारों में घूमते एक गली में घुसे। उस समय शाम का समय था, गली मे प्रकाश था। फिर भी अपेक्षाकृत अँधेरा दिखाई दे रहा था। चिराग़अली मुझे एक मकान मे ले गया। नीचे की तह में वह रहता था। मैला-कुचैला कमरा। गूदडों का खाट पर ढेर। बैठने को जी नहीं चाहता था। सामने तीन-चार आदमी बैठे कोई सिगार कोई बीड़ी पी रहे थे। वह एक तरह से हब्शियों का ही मुहल्ला था। दो-तीन औरतें खाना बना रही थीं। धुआँ बेहद फैल रहा था। प्रकाश होते हुए भी अँधेरा था। थोडी देर बाद एक औरत चाय का प्याला औ दो बिस्कुट ले आई।

मैंने बहुत मना किया कि मैं कुछ भी न लूँगा। पर चिराग़अली न माना। अन्त में अनिच्छा से मुझे चाय पीनी पड़ी। वे दो आदमी मेरे पास आकर बैठ गये। वे टूटी फूटी बम्बई की हिन्दुस्तानी बोल रहे थे जिसका आशय यह था कि चिराग़अली को समझाइये। वह घर क्यों जाना चाहता है। हम अपनी लड़की से उसका ब्याह कर देंगे। वह यहीं क्यों नहीं रहता।

मैंने कहा तो चिरागअली बोला—'मैं पहले माँ के गाँव जाकर उसकी क़ब्र पर फूल चढाऊँगा। वह मुसलमान थी। फिर देखा जायगा। उससे पहले निकाह नहीं हो सकता।'

मैंने देखा जो आदमी बाप की तलाश मे इतनी दूर इतनी परेशानी उठा-कर आ सकता है वह माँ के लिये बिना वहाँ जाये कैसे रहेगा? यह प्रतिक्रिया है जो बाप से विरक्ति होने के कारण उसके हृदय में हुई है। ऐसे आदमी सदा भावुक होते हैं। उनको समझाना, उनके साथ दलील करना व्यर्थ है। जो

दो-तीन औरतें मैंने वहाँ देखीं वे भी काफी काली थीं। [illegible] उनके दाँत और आँखें खूब चमकीली थीं। एक लडकी आकर मेरे कन्धे पर हाथ रखकर खडी हो गई। तो उसके बाप ने, या न जाने वह कौन था, उसे अपनी भाषा में झिडका। मैं थोड़ी देर बैठकर जब चलने लगा तो चिरागअली मुझे बाहर पहुँचाने आया। और कहने लगा कि इस इतवार को हम लोगों का नाच है, आप जरूर देखने आइये।

मैंने कहा—'देखूँगा, समय मिला तो आ जाऊँगा।'

चिरागअली के घर से मैं एक नया ज्ञान लेकर लौटा। चँदौसी में हरिजनों की बस्ती में मैंने दरिद्रता का ताण्डव देखा था। फटे गूदडों, मैले-कुचैले कपड़ों में मैंने हरिजनों को शान्ति के साथ जीवन बिताते देखा था। वे बहुत नहीं जानते थे, बहुत उनके पास नहीं था फिर भी वे दिखावे से दूर थे। उनमें से कुछ शराब पीते थे। बुरी आदतें भी उनमें थीं किन्तु आडम्बर से अपने रुपए को बहा देना वे न जानते थे। वे जो कुछ थे स्पष्ट और सत्य की तरह कडुये थे। यहाँ चिरायँध से भरे हुए घर में सब लोग कोट-पतलून पहने बैठे थे। सिगार और बीड़ी पी रहे थे। कुछ औरतें बेहद काली होती हुई भी शृङ्गारनिरत थीं। वे अपने को बनावट मे छिपा रही थी। आचार में भी वे ठीक नहीं होंगी ऐसा मेरा विश्वास हो रहा था। जब मैंने उस लडकी के द्वारा हाथ को अपने कन्धे पर रखने के बारे में चिरागअली से पूछा तो वह बोला—'यहाँ कुछ लोग ऐसे भी आते हैं जो रात को इन औरतों के साथ रहते हैं। रात भर रहकर दो-चार रुपये दे जाते हैं। ऊपर से नीचे तक की सब स्त्रियाँ इसी प्रकार की हैं। उस लड़की ने आपको पसन्द कर लिया था। हाथ रखने का अर्थ यह था कि और कोई अब आपको उससे छीन नहीं सकती।'

मैंने पूछा—'तो क्या इनके पति नहीं हैं?'

उसने जवाब दिया—'इस लड़की को छोड़कर सबके मालिक हैं। वे लोग स्वय आदमियों को लेकर आते हैं। बात यह है खर्च यहाँ इतना है कि इनको मजबूरन् ऐसे आदमियों को लाकर रुपया कमाना पडता है। मजदूरी में इतना तो मिलता नहीं। इसी औरत के साथ उसका बाप मेरी शादी करना चाहता है।

'लेकिन मैं भला ऐसी औरत से कैसे शादी कर सकता हूँ?'

'मुझे सुनकर आश्चर्य हो रहा था।'

मैंने फिर पूछा—'इनके मालिकों को आदमी लाते शरम नहीं आती।'

वह बोला—'हमारे हब्शियों में ये नीच जाति के हैं। इनके यहाँ यह जायज़ है। मैं ऐसी लड़की से शादी नहीं कर सकता।'

मैंने पूछा—'तो तुम क्या अब तक बचे होगे।'

वह शरमा गया। बोला, कभी-कभी शराब पीकर तो जरूर ऐसा हो जाता है और यहाँ तो शराब पीकर एक आदमी दूसरे की औरत को पकड़ लेता है। वह उसी के पास रात भर रहती है।

मैंने मन में कहा—'अजीब रिवाज है और चुपचाप चलने लगा।'

जब पुल के पास मोड पर आये तो मैंने कहा—'हब्शी ही उन स्त्रियों के पास जाते होंगे?'

चिरागअली ने सिर हिलाकर कहा—'सभी लोग जाते हैं।-यहाँ तक कभी-कभी गोरे भी आ जाते हैं। मालिक बुलाकर लाते हैं। रात को आठ के करीब लोग बाहर निकल जाते हैं और आदमियों को बुला लाते हैं।

चिराग़अली का कहना सही था। मेरे चलने से पूर्व एक-एक करके सब आदमी बाहर निकल गये थे। कुछ औरतें शृंगार करने चली गई थीं। चिरागअली मुझे सलाम करके लौट गया। मुझे अपने ऊपर बड़ी घृणा हुई कि ऐसे आदमियों के घर चाय क्यों पी ली। बात यह है जेल में मुसलमान हिन्दू का कोई भेद तो रह नहीं गया था। इसी चिरागअली के हाथों कई बार पानी भी पीना पडा था। किन्तु ऐसे भी संसार में आदमी हैं या जातियाँ हैं जो स्वयं स्त्रियों से इस तरह का काम कराते हैं यह जान कर बड़ी हैरानी हुई। होटल में आकर बिना खाये ही मैं लेट रहा। बहुत देर तक नींद नहीं आई। पडा पडा चिरागअली के घर का दृश्य आँखों के आगे झूमता रहा।

६

मुझे होटल के तितल्ले कमरे में जगह मिली थी। लिफ्ट से हम लोग

ऊपर आते थे। मेरे सामने कमरों की कतार थी। बिलकुल सामने वाले कमरे में दूसरे दिन प्रातः मैंने देखा कि एक स्त्री अपने छोटे लड़के को लेकर ठहरी हुई है। देखने मे बड़ी अपटूडेट और सुन्दर थी। उसकी अवस्था लगभग तीस वर्ष होगी। जीवन में जो सुन्दरियाँ मेरे देखने में आईं यह स्त्री उनमे पहली श्रेणी की कही जा सकती है। मैं बाहर की छत पर प्राय. सवेरे उठकर घूमता, क्योंकि वहाँ से समुद्र का दृश्य देखता था। होटलवालों ने यात्रियों के लिये कुछ बेंचैनी डाल दी थी। कुछ लोग वहीं बैठकर चाय पीते। एक तरह से वह ऊपर का भाग बडा सुन्दर था। छत पर से बम्बई का दृश्य, सामने लहराती हुई अपार नीली जलराशि, एक तरफ असख्य कोलाहल दूसरी तरफ नीरव उठती हुई लहरें। नीरव मैं इसलिये कह रहा हूँ कि समुद्र की लहरों की आवाज़ वहाँ सुनाई नहीं दे रही थी। बम्बई का कोलाहल मेरे सामने अधिक स्पष्ट था। जब यथानियम चाय पीकर बाहर निकला तब मैंने देखा कि वह रमणी अपने दो ढाई साल के बच्चे को खिलाती हुई वहाँ टहल रही थी। बालक के पास छोटी घोड़ागाड़ी थी जिसके सहारे वह चलता चलता फिसलकर गिर जाता था। बच्चा बडा हृष्टपुष्ट और सुन्दर था। ऐसे सुन्दर बच्चे मैंने बहुत कम देखे थे। घुँघराले भूरे बाल, रेशमी कमीज और जाँघिया वह पहने था। मैं बेंच पर जा बैठा और समुद्र का दृश्य भूलकर बच्चे को देखने लगा। जो और दो तीन आदमी वहाँ बैठे थे वे भी उसकी तरफ देख रहे थे। नारी मोतिये रग की रेशमी धोती पहने थी। उसका रूप उस रेशमी कपड़े से स्पर्श कर रहा था। उसके चेहरे की लाली सफेदी में छनकर बह रही थी। थोडी देर बाद जब बच्चा रोने लगा, तब गाड़ी छोडकर वह उसे समुद्र का दृश्य दिखाने लगी। किन्तु वह इतना भारी था कि उसे सँभाल रखना उस रमणी को कठिन हो रहा था। थोड़ी देर बाद उसने उसे उतार दिया। वह रोने लगा। उसने फिर उठाया, इधर वह बालक बराबर गोद में रहकर दृश्य देखना चाहता था उधर वह थककर बार-बार उतार देती। तब वह उसे अपने कमरे में ले गई। वहाँ भी उसने रोना बन्द न किया। मैंने देखा वह रमणी उसे बाहर ले आई और समुद्र का दृश्य दिखाने लगी। किन्तु देर तक गोद में न रख सकने के कारण उसने फिर उतार दिया। वह बालक हठ पकड गया है और माँ खीझकर उसे रोते हुए को कमरे मे ले जा रही है।

तब मैंने आगे बढ़कर उस बच्चे को गोद में लेने को हाथ बढ़ाया और लेकर समुद्र का दृश्य दिखाने लगा। लगभग आध घण्टे तक वह बालक मेरे पास रहा। उसके बाद मैंने कमरे में ले जाकर उसकी माँ को सौंप दिया। बच्चे की माँ ने मुस्कराते हुए धन्यवाद दिया। मैं कमरे में लौट आया और आकर समाचार पत्र पढ़ने लगा। उस दिन दस बजे के लगभग चौपाटी के मैदान में झण्डा अभिवादन था। मैं वहाँ चला गया। चौपाटी के मैदान में तीन-चार लाख से कम आदमी न होंगे। चारों तरफ नर-मुण्ड ही दिखाई देते थे। प्रायः सब लोग खादी की टोपी और कुरते में थे। कुछ कोट और पतलून भी पहने थे। स्वयसेवकों ने बैठाने का प्रबन्ध किया था। पं० जवाहरलाल नेहरू झण्डा फहराने की रस्म पूरी करनेवाले थे। वे अभी तक आ नहीं पाये थे। थोड़ी देर बाद लोगों ने देखा कि पडितजी तेजी से लपकते आ रहे हैं। छोटे से भाषण के साथ उन्होंने झडे का उद्‌घाटन किया। उसका महत्व समझाया। प० जवाहरलालजी के मुख से रुक-रुककर बोलने पर भी वाक्यों मे काफी ओज था। प्रत्येक वाक्य स्वतत्रता के लिये जीवन के रोम-रोम में विंधकर उद्देश्य को शाश्वत एव सार्वजनीन बनाने वाला था। अपने-अपने देशों के झण्डे के लिये केसावियानका, वारवेराफ्रीची आदि कई देशभक्तों के उदाहरण उन्होंने दिये। उनके भाषण के बाद छोटे-छोटे तिरंगे झडे बेचे गये। इस कार्य में लगभग एक घटे से अधिक समय लगा। लगभग बारह बजे मैं घूमता-घामता होटल पहुँचा। भोजन किया। थोड़ी देर आराम करके उसी दिन खरीदी हुई डान ग्रिफ्थ की साम्यवाद के ऊपर किताब पढने लगा। इधर जेलखाने में और उसके बाद मेरे अध्ययन का विषय प्रायः साम्यवाद ही होता था। मुझे काग्रेस के साथ पूर्ण सहानुभूति होते हुए भी उसके द्वारा प्राप्त स्वराज्य के विधानों से कोई हार्दिक प्रेम नहीं था। मेरा विश्वास था कि साम्यवाद ही देश के कल्याण का एकमात्र मार्ग है। जब तक पूँजीवादी विषमताएँ हैं तब तक देश में पूर्ण शान्ति नहीं हो सकती। जिन प्रजातत्र देशों का बार-बार उल्लेख किया जाता है, वहाँ भी पूर्ण रूप से प्रजातत्र नहीं है। मालदार लोग रुपये बरसाकर वोट खरीद लेते हैं और स्वयं चुनाव में आ जाते हैं। नतीजा यह होता है कि देश में उन्हीं के दल की आवाज प्रधान होती है। अर्थ जहाँ मनुष्य के कल्याण का कारण है वहाँ व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष

के पास जाकर वह एक प्रकार का विषैला वातावरण भी तैयार कर देता है। जीवन का जीवन के प्रति भेद का यही सबसे बड़ा कारण है। हमारे समाज का निर्माण जाति पर नही समता पर होना चाहिए। कभी सोचता ऐसे रूढ़िवादी देश में क्या साम्यवाद संभव है? फिर कहता रूस मे भी ऐसी ही कट्टरता थी। वहाँ भी तो बहुत-सी जातियाँ हैं जिनकी भाषा, आचार-विचार सभी भिन्न हैं। फिर साम्यवाद यहाँ क्यों सफल नहीं हो सकता।

कभी कभी मुल्लाओं, पादरियों, पण्डितों की धर्मान्धता, चोटी, दाढ़ी और क्रास की लड़ाइयाँ देखकर विश्वास होता था कि देश में साम्यवाद के लिये डिक्टेटरशिप की आवश्यकता है। बिना एकतंत्र के दबाव के इस दिशा में सुधार हो सकना सभव नहीं है। किन्तु एकतत्र से जहाँ कल्याण की संभावना है वहाँ पूर्ण विद्रोह का फैल जाना भी सभव है। दबाव की अपेक्षा विचारों में धीरे धीरे क्राति की आवश्यकता है। इसी अग्रेज जाति ने कैसे अपनी सभ्यता, सस्कृति का विस्तार किया इसका भी एक मनोरंजक इतिहास है। मुझे मालूम है मेरे पिताजी घर में अग्रेजी बोलना, और दफ़र के कपड़े पहने रहना बुरा समझते थे। किसी अंग्रेज़ से हाथ मिलाने पर घर आकर कपड़ों के साथ स्नान करते थे और मेरे पिता ही नहीं कई हिन्दू परिवारो में ऐसा होता था लेकिन अब वह भाव एक स्वप्न हो गया। जिस अंग्रेजी शिक्षा से लोग घृणा करते थे वही अब नागरिकता तथा जीवन का आवश्यक अग बन गई है। हम मानते हैं कि हमारा दृष्टिकोण विशाल हो गया है पर यह दृष्टिकोण की विशालता का भाव भारतीयों में एक दिन में नही आया। रूस में भी कई प्रकार से समझा बुझा कर और क्रियात्मक रूप से उनके सामने योजनाएँ रख करके कम्यूनिस्ट सफल हो सके हैं। और अब भी कुछ ऐसे लोग यहाँ हैं जो गिरजाओ में जाते हैं। पर वे दाल में नमक के बराबर। जिन खेतो को रूस के लोग साम्यवाद के शासन मे नहीं देना चाहते थे उन्होंने जब देखा कि मिले हुए खेतों की उपज से अधिक लाभ है तो उन्होंने अपने आप अपने खेतों को सरकारी खेती में शामिल कर दिया।

पिछली शताब्दियों से लेकर आज तक भारत में जो तरह तरह के वैचित्र्य-वर्गभेद घर करते आ रहे हैं उनके लिये एकमात्र यही मार्ग है कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई इस देश को ही अपना देश माने। इसको वे स्वर्गभूमि बनाने का

यत्न करें। इस खिलाफत के आन्दोलन को जो प्रमुखता दी जा रही है उससे भी मुझे बड़ी घृणा थी। आखिर भारतीय मुसलमान के लिये खिलाफत का क्या अर्थ है। यह तो सरासर धोखा है। यदि खिलाफत के बहाने मुसलमान कांग्रेस का साथ दे रहे हैं तो इसका चिर आशय यह है कि खिलाफत के बाद उन्हे कांग्रेस से कोई सहानुभूति न रहेगी ? फिर देश की स्वतत्रता का आन्दोलन तो स्पष्ट ही अस्थिर और वे पेंदी का है। गांधीजी ने स्वतन्त्रता के आन्दोलन मे हिन्दू और मुसलमानों को एक करने के लिये जो दो गाड़ियों पर पैर रखा है वह मेरी किसी तरह भी समझ में नहीं आ रहा था। यह मैं मानता हूँ उन्होंने अवसर से लाभ उठाकर एक प्रकार से जागृति की है परन्तु उसकी जड़ कितनी कमजोर है यह मैं स्पष्ट ही देख रहा था। फिर भी कांग्रेस से मेरी पूरी तरह सहानुभूति थी। मैं समझता था कि जब तक और कोई सगठन देश में ऐसा नहीं है जो देश का नेतृत्व कर सके तब तक इस खिचड़ी विचारवाली कांग्रेस के द्वारा जो हो रहा है उसी का साथ देना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है।

इसी उधेड़बुन में पड़ा रहता। इन दिनों कभी कभी कुछ कविता भी लिखने लगा था। उस दिन एक कविता मैंने सुधी के ऊपर लिखी। जब सुधी के सम्बन्ध मे सोचते सोचते मन खिन्न हो उठता तब पुस्तक पढ़ने लगता। कभी सोचता आगे क्या ?

जब किताब पढते पढ़ते जी ऊब गया तब मैं बाहर आकर टहलने लगा। वहीं बैरे से मँगाकर चाय का एक प्याला पिया और समुद्र का दृश्य देखता रहा। सूर्य उस समय अस्ताचल को जा रहा था। उसकी लाल लाल किरणें समुद्र के जल पर पड़कर रग-बिरगे इन्द्रधनुष बना रही थीं। कभी-कभी कोई नाव मस्तूल फैलाए हवा के सहारे बहती जा रही थी। दूर प्रकाशस्तभ लहरों के साथ हिलते दिखाई देते। उससे पहले एक दिन 'एलीफेण्टा केव' देखने चला गया था। पहाड की गुफा में एक ही पत्थर पर चित्र विचित्र कलाकृतियाँ देखकर मन बडा प्रसन्न हुआ। इधर समुद्र की सैर का भी आनद आ गया। यही सोचता कमरे में आकर किताब रखकर जैसे ही बाहर को तैयार हुआ कि बिस्कुट हाथ में लिये वह बालक मेरे पास आ गया। मैंने उसे गोद म उठा लिया और समुद्र का दृश्य उसे दिखाने लगा। उसकी

माँ ने जब देखा कि बाहर मैं जा रहा हूँ और उसने मुझे रोक लिया है तो वह उसे लेने आई। परन्तु वह उतर नहीं रहा था।

मैंने कहा—'यदि आपको आपत्ति न हो तो मैं इसे नीचे बाजार घुमाकर छोड़ जाऊँ।'

रमणी ने सकोच करते हुए कहा—'नहीं, क्या कीजियेगा। यह तो ऐसे ही करता है। आओ शशी, वह बालक जब किसी तरह भी मेरी गोद से उतरना नहीं चाहता था। तब मैं उसे लिफ्ट से नीचे ले गया और बाजार घुमाता रहा। फिर ट्राम में बैठकर चौपाटी तक ले गया और दूसरी ट्राम में वापिस ले आया। वह बालक बहुत प्रसन्न था। यह देखकर उसकी माँ ने भी मुसकराते हुए कृतज्ञता प्रकाश की।'

मैंने अचानक पूछ दिया—'क्या आपके साथ कोई आदमी नहीं हैं।'

उसने धीरे से उत्तर दिया—'नहीं। शायद दो तीन दिन तक मेरा नौकर आ जायगा।'

मैंने कहा—'नौकर ? क्यों इस बच्चे के पिता ?'

उसने जवाब दिया—'बच्चे का पिता साफ्रासिस्को में डाक्टर है।'

'साफ्रासिस्को ! बडी दूर।'

'जी, मैं भी वहीं जा रही हूँ। पासपोर्ट मिल गया है। अगले सप्ताह जहाज जायगा।'

'क्या अकेली।' यह वाक्य मैंने तो कह दिया—किन्तु मुझे स्वय इसके बाद बड़ी लज्जा हुई। एक पढी लिखी, कल्चर्ड लेडी के सम्बन्ध में इस तरह पूछना अशिष्टता थी।'

फिर भी उसने उत्तर दिया—'नौकर के साथ ? खडवा में उसके माँ बाप हैं। वह बंबई आते हुए खण्डवा उतर गया। दो एक दो दिन में आ जायगा।'

'आप यहाँ क्या करते हे ?'

मैं क्या उत्तर देता ? बड़े असमजस में पड़ा गया। मैंने कहा—'ऐसे ही घूमने इधर चला आया हूँ। कुछ दिन रहकर देश लौट जाऊँगा।'

मुझे उस स्त्री पर बड़ी दया आ रही थी। वह जब से यहाँ आई है एक घडी के लिये भी बाहर नहीं निकली। शायद उसके बाहर जाने में बच्चा विघ्नस्वरूप होगा।

मैंने कुछ और नहीं पूछा और एक बार बच्चे को प्यार करके बाहर चला गया।

इण्डिया गेट के पास समुद्र के किनारे बैठा-बैठा सोचने लगा। कितना सौभाग्य है इस नारी का जो दूसरे देश को देखेगी और उस नौकर का जो प्रयत्न करके भी बाहर पैर नहीं रख सकता और मैं ही कौन प्रयत्न करके भी बाहर जा सकता हूँ। एक बार सोचा क्या ही अच्छा हो मैं विदेश जा सकूँ। पर यह क्या सभव है? कई प्रकार के दम्पति अंग्रेज, चीनी, जापानी, बर्मी तथा भारतीय वहाँ घूम रहे थे। उनकी वेश भूषा, बोलचाल को मैं बड़े ध्यान से देखता सुनता रहा।

एक छोटा सा मल्लाह का लडका दुअन्नी चौअन्नी समुद्र में डालने पर निकाल लाता था। लोग रुपया, दुअन्नी, पैसा फेंकते और वह अचूक डुबकी लगाकर ले आता। मेरे देखते-देखते उसने आठ दस रुपये जमा कर लिए। धीरे-धीरे रात होने पर लोग जाने लगे। जब बिलकुल सुनसान हो गया तब मैं लौटकर होटल में आ गया।

दूसरे दिन मैंने सबेरे ही उठकर देखा कि वह रमणी तैयार होकर कहीं जा रही है। बच्चा मुझे देखकर मेरे पास दौड़ आया। जब वह उसे लेने लगी तब मचल गया। इस पर उसने कहा—'क्या आप यहीं रहेंगे?'

मैंने कहा—'कहिये। यदि आप चाहे तो इसे मेरे पास छोड जा सकती हैं।'

उसने कहा—'मेरा नौकर नौ बजे की गाडी से आ रहा है। उसे लेने जा रही हूँ। यदि आप रहे तो...'

मैंने कहा—'हाँ हाँ, आप इसे बेखटके छोड जाइये। यह मुझसे हिल भी गया है।'

रमणी चली गई। मैं उस बच्चे के साथ खेलने लगा। इधर ग्यारह बजे तक जब उसकी माँ न लौटी तब वह रोने लगा। मैं उसे बाज़ार में ले जाकर ट्राम गाडी दिखाने लगा। मुझे मालूम हुआ बच्चो की रुचि भी भिन्न होती हैं। कौतुक-विचित्रता से यह बहुत प्रसन्न होते हैं। मैं होटल के नीचे उसे बहला ही रहा था कि वह रमणी गाड़ी से उतरी। किन्तु नौकर कोई साथ नहीं था। अकेली थी। माँ को देखते ही बच्चा उसकी गोद में चला गया। उसने कहा—'नौकर आज भी नहीं आया।'

मैंने सान्त्वना देते हुए कहा—'कोई बात नहीं, अभी तो पाँच-छः दिन हैं।'

इतना कहकर मैं ऊपर आकर नहाया तथा खाकर लेट गया। उसी दिन मेरे साथ के कमरे में एक गुजराती सज्जन सपत्नीक आ गये। वह रमणी उसी से बातें करने लगी। उस दिन मैं सन्ध्या तक कमरे में बैठा पढ़ता रहा। जब चाय पीकर मैं सैर को निकला तो वह रमणी बोली—'आप कहाँ जा रहे हैं?'

'कही नहीं ऐसे ही घूमने। क्यों आप चलना चाहती हैं क्या?'

उसने बड़ी बेतकल्लुफी से जवाब दिया—'यदि आपको कोई आपत्ति न हो तो—'

मैंने कहा—'चलिये।'

जब हम नीचे उतरे तो उसने कहा—'मैं मलाबार हिल देखना चाहती हूँ।'

मैंने मलाबार हिल के लिये गाडी मँगाई और हम दोनों उसमें बैठ गये। मार्ग में उसने बताया वह अमृतसर में किसी स्कूल में अध्यापिका थी। उसका पति भी वहीं था। दो वर्ष हुए वह घूमने और शिक्षा प्राप्त करने के लिये अमरीका चला गया और अब वहीं बस गया है। मैं अब नौकरी छोडकर उसी के पास जा रही हूँ। पासपोर्ट मिल गया है। पहले वह मद्रास जायगी। चली तो अभी जाती किन्तु नौकर के लिये उसे ठहरना पडा है। मुझे उसमें और शोभा में कोई अन्तर न दिखाई पडा।

मैंने पूछा—'यदि नौकर न आया तो!'

बोली—'ऐसा नहीं हो सकता। वह मेरा पुराना नौकर है मेरे पति ने लिखा है खाना बनाने के लिये एक नौकर ले आना। बडी कठिनाई से उसके जाने का पासपोर्ट मिला है। अमरीका की सरकार पहले तो देती ही नहीं थी। मेरे पति के रहने के सम्बन्ध में भी बडा झगडा उठा था। अब हम लोग वहाँ जाकर रह सकेंगे।'

'तो क्या आपको भारत की याद नहीं आवेगी?'

'भारत मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है। यहाँ के लोग बडे दकियानूसी हैं। आचार-विचार के कट्टर, न एक पहनावा है न एक ढग। पचास आदमी पचास तरह के विचार रखते हैं। न उनमे शिक्षा है न सलीका। इसीलिये मैं उस स्वतन्त्र वातावरण में जाकर रहना पसन्द करती हूँ।'

यह तो आपका अन्याय है कि भारत के सम्बन्ध मे इस तरह के विचार रखती है। भला परतन्त्र देश मे वे सुविधाएँ कहाँ जो स्वतन्त्र देश में होती हैं। भारतीय कितने दिनों से दास हैं। दासों में सब प्रकार की बुराइयाँ आ जाती हैं। उनकी दृष्टि सकीर्ण, उनके विचार उथले, उनका रहन-सहन वेढगा रहे है।

आप जैसी नारी इस स्वतत्रता के सग्राम में भाग लेतीं तो देश का कितना काम होता। यदि सभी समझदार लोग यही कहकर देश छोड दे तो क्या आप समझती हैं कि हमारा देश कभी स्वतंत्र हो सकेगा ?'

'वह चुपचाप सुनती रही उसने कोई उत्तर न दिया।'

मैं आगे कहता जा रहा था—

'यदि अमरीका की स्वतत्रता से पूर्व वहाँ के निवासी भी स्वतत्र देश मे रहने की इच्छा से छोड़कर चले जाते तो क्या वह देश स्वतत्र हो सकता था। स्वतत्रता मूल्य चाहती है। बलिदान चाहती है। त्याग विवेक चाहती है। जब तक उसकी प्राप्ति के लिये उस देश के निवासी पूरा मूल्य नही चुकाते तब तक वह नही मिल सकती और आप जैसी स्त्रियाँ, जो अज्ञान में पडी जनता को उभार सकती हैं न जाने कैसे इस समय देश को छोड़कर जाना पसन्द करती हैं।

वह बोली—'ठीक है अब जब कि मेरा पति वहाँ है तब मेरा यहाँ रहना किस तरह सभव है ?'

मैंने कहा—'यह बात दूसरी है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आपके पति वहाँ क्यों बस गये ?'

'यह भी कोई पूछने की बात है। स्वतत्र देश में कौन रहना पसंद नहीं करेगा। वहाँ प्रजा को सब प्रकार के सुभीने हैं। प्रत्येक व्यक्ति की आवाज भी महत्त्व रखती है।' उसने कहा।

मैंने उत्तर दिया—'मैं यदि अमरीका का प्रजाजन होता तो परतंत्र देश के रहनेवालो को कभी न बसने देता। (यद्यपि आप इस बात पर हँस सकती हैं)

वह झल्लाकर बोली—'क्यों ?'

मैंने उसकी तरफ देखते हुए कहा—'इसलिये कि उन्होंने स्वतत्रता प्राप्ति के लिये यथेष्ट मूल्य नहीं चुकाया। वे स्वतंत्रता का अर्थ भी नहीं जानते

फिर उसका व्यवहार करके उसका दुरुपयोग तो कर सकते हैं। उसकी वृद्धि नहीं कर सकते। उसकी रक्षा नहीं कर सकते। स्वतत्र व्यक्ति ही स्वतत्रता का मूल्य आँक सकते हैं।

शायद ये बाते उसके लिये नई थीं उसने इतना पढ लिखकर भी नहीं सुनी थी। वह चुप रह गई।

थोडी देर बाद बोली—'क्या इतना पढ लिखकर भी।'

मैंने तुरत उत्तर दिया—'हाँ, इतना पढ़ लिख लेने पर भी स्वतत्रता का अर्थ नहीं समझा जा सकता।'

हमारी गाडी मलाबार हिल के पास आ गई थी। हम लोग उतरे और कुछ चढ़ाई के बाद बाग में पहुँचे। उस समय सूर्य अस्त हो रहा था। एक तरफ समुद्र की खाडी दिखाई दे रही थी। बाग बडा सुदर था। शशी बाग को देखकर दौडने लगा। मैं हाथ पकडकर उसे चला रहा था। बाग को देखकर उस रमणी के मुँह से निकल पडा—

'हाऊ ब्यूटी फुल।' हम लोग धीरे-धीरे घूमने लगे। लोग हम दोनों को देखकर कुछ आश्चर्य भी कर रहे थे। मैं शुद्ध खादी के कपडे पहने था इस पर एक मोटी सी चादर, पैर में चपली। कपडे भी बहुत साफ नही थे और वह रमणी एकदम लकदक। स्वयं कभी कुछ सकोच होता। अन्त में समुद्र की खाडी की तरफ खडे होकर हम दोनो यह दृश्य देखने लगे।

मैं देखते-देखते तन्मय हो गया। सोचने लगा प्रतिदिन सूर्य उदय होकर अस्त होता है। प्रतिदिन फूल खिलकर मुरझा जाता है। इसी तरह एक दिन मनुष्य उत्पन्न होता है और कुछ समय बाद मर जाता है। ऐसा क्यों होता है। क्या कोई वस्तु ससार में स्थायी नहीं है। इस नश्वरता को देखकर भी हम कोई सबक नहीं सीखते। ससार में अत्याचार, गरीबी, दरिद्रता, अनाचार फैलाने में पीछे नही हटते। वैसे देखा जाय तो सब जीवन के लिये है। किन्तु जीवन किस-लिये है? इस जीवन की क्षणिकता का क्या अर्थ है? क्या मनुष्य केवल आनद भोगने, यश कमाने या रुपया इकट्ठा करके बडे-बडे मकान मोटर खरीदने के लिये आता है? परन्तु आदि काल में भी तो जीवन था। उसके लिये पहले तो इतनी दौड-धूप नही थी। एक एक करके योग साधन अथवा भक्ति के द्वारा मोक्ष पाने का भी क्या अर्थ हो सकता है।

वह तो ऐसा है कि उससे दूसरे को कोई लाभ नहीं है। फिर इतना वैभव इकट्ठा करने की क्या आवश्यकता है। एक तरह से जीवन का अर्थ जीवन को सजीव सचेतन उत्कृष्ट बनाए रखना ही हो सकता है। यहाँ तो दिन के बाद रात, रात के बाद प्रभात, मध्याह्न और सध्या की क्या आवश्यकता थी। वर्षा के बाद शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त तथा ग्रीष्म की क्या आवश्यकता है ? स्पष्ट ही जीवन को बनाए रखना ही हमारा उद्देश्य है। लौकिक रूप में जीवन स्वतन्त्रता द्वारा ही सुरक्षित हो सकता है। त्याग में जीवन है। परोपकार में जीवन है। यह सब प्रकृति एक प्रकार का परोपकार ही तो करती है। यदि मनुष्य अपने जीवन के द्वारा दूसरे के जीवन को उत्कृष्ट बनाने में सहायता नहीं देता तो यह उसका रूप अस्तित्व निकम्मा है, बाँझ है। इसी तरह की बेतुकी बातें सोच रहा था कि वह रमणी बोल उठी—'कितना सुन्दर बाग़ है ?'

मैंने कहा—'जी। व्यक्ति जहाँ रहता है वहाँ प्रकृति असुन्दर हो जाती है। तब व्यक्ति ही असुन्दरता को दूर करके व्यक्ति के लिए सौन्दर्य निर्माण करता है। तमाम नियम, विधान, मनुष्य की असुन्दरता को दूर करने के लिये है। खान से निकला हुआ सोना कोयले से भी भद्दा होता है फिर रगड़ खा खाकर, तपाया जाकर वह चमक उठता है। इसी प्रकार मनुष्य भी पैदा होते ही बड़ा रफ होता है। समाज मे आकर वह परिष्कृत होता है। पहले का काम है आने वाले मनुष्य को परिष्कृत करना। यही तमाम विधानों की उपयोगिता हमें बताती है।'

रमणी ने कहा—'आप दार्शनिक मालूम होते हैं।'

मैंने हँसकर कहा—'नहीं, कभी कभी बहक जाता हूँ। आपको क्या पसन्द है ?'

वह बोली—'मेरी पसन्द पूछकर क्या कीजियेगा। मैं तो नारी हूँ।'

मैंने उत्तर दिया—'नारी जीवन के प्रकाश का पोजेटिव तार है और मनुष्य 'नेगेटिव।' दोनों समान हैं।

किन्तु आपने तो नारी को पैर की जूती समझा है। आप उसे समता का दर्जा कैसे दे सकते हैं ?

मैंने कहा—'आप जो इतना पढ़ लिखकर योग्य हुई हैं इसमें क्या मनुष्य-समाज का कोई हाथ नहीं है।'

वह बोली—'उसने तो विरोध किया था।'

मैंने हँसकर कहा—'और अब!'

रमणी ने गंभीरतापूर्वक मेरी ओर देखकर कहा—'अब कुछ नहीं।'

मैंने पास जाकर कहा—'तो बस, हो गया। विरोध अज्ञानियों का था। स्वीकृति मानवमात्र की आपके साथ है। अब आप समान हैं।

उसने हँसकर कहा—आपका तर्क अजीब है।

मैं चुप रहा। मुझे लग रहा था कि कदाचित् यह रमणी मुझे अपनी वेश-भूषा के सामने नीचा या तुच्छ समझती हो। इसलिए मैं उससे दूर दूर चल रहा था। किन्तु देखा कि वह मेरे पास आती जा रही है। कोई घृणा जुगुप्सा उसके भावों से स्पष्ट नहीं हुई।

अन्त मे उसने आग्रह करके मेरे सबन्ध में पूछा। मैंने सक्षेप में सब कच्चा चिट्ठा सुना डाला।

कमलिनी, सुधी, शोभा के सबन्ध में भी कुछ बाकी न रहने दिया। मुझे याद भी नहीं रहा कि रात अधिक हो रही है। जब बालक रोने लगा तब हम लोग लौटे। रास्ते में वह रमणी दीर्घ निश्वास लेकर बोली—'मैं स्वय नही कह सकती कि यदि मैं आपके साथ शोभा के स्थान पर होती तो कैसा व्यवहार करती। किंतु आप त्याग देने योग्य तो एकदम नहीं हैं।'

मैंने कहा—'शोभा के हृदय में मेरे लिए जगह भी क्या हो सकती है।'

सुधी के प्रति उसकी धारणा थी कि वह मूर्ख थी। कमलिनी के प्रति उसे सहानुभूति थी किंतु दबी हुई।

मैंने पूछा—'मैंने कहाँ गलती की?'

बहुत देर बाद उसने कहा—'आपको नारी की नस पकडनी नही आती आप भोले हैं। जिस पुरुष को इतने अवसर मिले फिर भी वह नहीं गिरा तो यह तो—मैं क्या कहूँ कि वह क्या है?

वह चुप हो गई। थोडी देर बाद उसने कहा—अब क्या करने का इरादा है?

मैंने कहा—'कुछ नहीं कह सकता।'

इसके बाद हम लोग चुपचाप होटल में पहुँच गये। उस दिन दोनों ने एक

ही कमरे में खाना खाया और अपने-अपने कमरे में चले गये। प्रातःकाल एक व्याख्यान था वही सुनने मैं चला गया।

दोपहर को जब लौटा तो रमणी ने मुझे बुलाकर कहा—'नौकर आज भी नहीं आया। अब केवल दो दिन हैं मेरे जाने के। आपकी कल की बातों से मैं बहुत प्रभावित हुई हूँ। मेरी इच्छा होती है वापस लौटकर चली जाऊँ। मेरे नगर में काम भी बहुत हो रहा है। मैं बड़ी सफलतापूर्वक जेल जा सकती हूँ। बच्चों को अपनी बहन को सौंप सकती हूँ। किन्तु वे क्या कहेंगे?'

मैंने कहा—'अब तो आपको जाना ही चाहिये। फिर शीघ्र लौटकर देश-सेवा कीजिये। अपने पति को भी साथ लेती आइये। वहाँ रहना ठीक नहीं है। यदि यह अवस्था न होती त मेरी बडी इच्छा थी। मैं भी विदेश की यात्रा की तैयारी करता।'

रमणी इस पर एकदम बोल उठी—'क्या ही अच्छा होता कि आप मेरे साथ चलते। इसके साथ ही उसने मेरा हाथ जोर से दबा दिया और इसके बाद ही वह लज्जित हो गई।'

मैंने उसका हाथ पकडे रहकर पूछा—'यदि आपका नौकर न आवे तो मैं उसकी जगह चलने को तैयार हूँ।'

'किन्तु रोटी बना सकन ?......'

वह आँखें मरोरकर बोली—'जाने दीजिये। मुझे लज्जित न कीजि । किन्तु आपके देश को छोडकर जाना क्या किसी तरह भी सभव है?'

मैंने कहा—'यही सोचता हूँ।'

उसने कहा—'सोचिये, अवश्य सोचिये। इतना कहकर वह अपने कमरे मे चली गई।'

मैंने नहा-धोकर खाना खाया। फिर सो गया। उस दिन शाम के चार बजे से सत्याग्रहियों का एक जुलूस निकलनेवाला था। मैंने भी जाने की तैयारी कर ली थी। एक पत्र पर डाक्टर साहब का पता लिखकर मेज पर रख दिया था। मैंने निश्चय किया था यदि आज सत्याग्रहियों में मुझे ले लिया गया तो मैं उसमें भाग लूँगा।'

यथासमय मैं जुलूस मे सम्मिलित होने के लिये काग्रेस के दफ़्तर के पास जा पहुँचा। जुलूस के लिये भीड़ एकत्र होती जा रही थी। चार बजे

कांग्रेस का झण्डा लेकर लोग तैयार हो गये। मुझे सत्याग्रहियों में भर्ती नहीं किया गया। जब जुलूस निकला तब दर्शक साथ चलने लगे। कौलवा देवी के पास आकर जुलूस को पुलिस ने रोक दिया। जब सत्याग्रही पीछे न हटे तब लाठीचार्ज प्रारम्भ हुआ। एक पुलिसवाले ने सबसे आगे झण्डा लेकर चलने वाले सत्याग्रही का झण्डा छीन लिया। इस पर दूसरे ने आगे वह झण्डा उससे छीना। इसके साथ ही उसके सिर पर जोर से लाठी लगी। वह गिर पडा। इस तरह लगातार लाठी खाकर लोग झण्डा लेते जा रहे थे। जब दस-पद्रह मिनट मे ही पचास के लगभग सत्याग्रही घायल हो गये और अन्तिम व्यक्ति के हाथ से झण्डा गिरने ही वाला था कि मैं अपने को न रोक सका और मैंने दौड़कर झण्डा ले लिया और 'भारत की जय, स्वतत्रता की जय' कहता हुआ आगे बढने लगा। इसके साथ उस हजारों के जुलूस मे मुझे बढते देख न जाने किसने पीछे से एक लाठी मारी। मैं गिर पड़ा... ।

जब सज्ञा प्राप्त हुई तो देखा कि मैं हस्पताल में पडा हूँ। पुलिस के सिपाही आसपास खड़े हैं। बीसियों बिस्तर सत्याग्रहियों के पास बिछे हैं। डाक्टर दौड धूप कर रहे हैं।

मुझे ध्यान आया न जाने उस रमणी का नौकर आया या नहीं। वह सुन्दर बच्चा..... ...इसके बाद फिर आँखें बन्द हो गईं।